ज्ञानोदय ग्रन्थमाला : ग्रन्थांक—२

सिद्धसेन दिवाकरकृत

सन्मति प्रकरण

गुजरातीमें

प्रस्तावना, अनुवाद और विवेचनके

लेखक

पण्डित सुखलालजी संघवी, डी. लिट्,

पण्डित बेचरदास जीवराज दोशी

अनुवादक

अध्यापक शान्तिलाल म. जैन

एम० ए०, शास्त्राचार्य

ज्ञानोदय ट्रस्ट, अहमदाबाद

मुख्य वितरक

मोतीलाल बनारसीदास

दिल्ली : वाराणसी : पटना

प्रकाशक
रतिलाल दीपचन्द देसाई
मंत्री, ज्ञानोदय ट्रस्ट
अनेकान्त विहार (श्रेयस् कॉलोनीके पास)
अहमदाबाद—१
(गुजरात राज्य)

●

मुख्य वितरक
मोतीलाल बनारसीदास
नेपालीखपरा
वाराणसी (उत्तर प्रदेश)

●

अन्य प्राप्तिस्थान
(१) गुर्जर ग्रन्थरत्न कार्यालय
गांधीमार्ग, अहमदाबाद—१
(२) सरस्वती पुस्तक भंडार
हाथीखाना, रतनपोल
अहमदाबाद—१

●

मई : १९६३
वैशाख : वि० सं० २०१९

●

मूल्य : छः रुपये

मुद्रक
नरेन्द्र भार्गव
भार्गव भूषण प्रेस,
गायघाट, वाराणसी

प्रकाशकीय निवेदन

आचार्य सिद्धसेन दिवाकरके 'सन्मतितर्क प्रकरण' नामक प्राकृत ग्रन्थकी आचार्य अभयदेवकृत 'वादमहार्णव' नामक संस्कृत टीकाका विस्तृत तुलनात्मक टिप्पणोंके साथ सम्पादन पू० पं० श्री सुखलालजी सघवी और पू० पं० श्री बेचरदास दोशीने किया था, जो गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद-द्वारा पाँच भागोमें प्रकाशित हुआ है।

इन्हीं पडितद्वयने मिलकर उक्त सम्पादनके लिए गुजरातीमें विस्तृत प्रस्तावना लिखी थी, तथा मूल सन्मति प्रकरणका गुजरातीमे अनुवाद और विवेचन लिखा था, जो 'सन्मति प्रकरण'के नामसे स्वतन्त्र ग्रन्थ रूपमे गुजरात विद्यापीठ द्वारा प्रकाशित हुआ है।

इस गुजराती ग्रन्थकी अद्यावधि दो आवृत्तियाँ प्रकाशित हो चुकी है। गुजराती 'सन्मति प्रकरण' की दूसरी आवृत्तिके आधार पर इस ग्रन्थका हिन्दी अनुवाद कराकर ज्ञानोदय-ग्रन्थमालाके द्वितीय पुष्पके रूपमे यह 'सन्मति प्रकरण' ग्रन्थ प्रकाशित करते हमें हर्ष होता है।

इस ग्रन्थके हिन्दी अनुवादके प्रकाशितेके समय श्री प० सुखलालजीने विशेष परिश्रमपूर्वक प्रस्तावनामे उल्लेखनीय संशोधन किये है। इस दृष्टिसे प्रस्तुत हिन्दी सस्करणका महत्त्व और बढ गया है।

इस ग्रन्थका हिन्दी अनुवाद प्रकाशित करनेकी अनुमति प्रदान करनेके लिए हम गुजरात विद्यापीठ-अहमदाबादके आभारी है।

इस ग्रथको वाराणसीमे मुद्रित करनेका सारा प्रबन्ध हमारे मित्र पंडित श्री महेन्द्रकुमारजी जैनने किया है, और इस ग्रंथका

आकर्षक, स्वच्छ व सुन्दर मुद्रणकार्य भार्गव भूषण प्रेसने किया है; हम उन दोनोंके बहुत कृतज्ञ है।

आशा है, जैन दर्शन व तर्कशास्त्रके जिज्ञासुओं और अभ्यासियोंको यह प्रकाशन लाभकारक सिद्ध होगा।

र० दी० देसाई
मंत्री
ज्ञानोदय ट्रस्ट

अहमदाबाद
ता. २४-४-१९६३

ज्ञानोदय ट्रस्ट और उसके स्थापक

(१)

ज्ञानोदय ट्रस्टका परिचय

१९५५ ईसवीके दिसम्बरकी ८वी तारीखको पूज्य पण्डित श्री सुखलालजीको ७५वाँ वर्ष पूरा होनेवाला था। पण्डितजीकी उत्कट विद्यासाधना, जागरूक जीवन-चर्या और वात्सल्यपूर्ण प्रकृतिके कारण सारे देशमे कई विद्वान्, श्रीमान्, सामाजिक एवं राष्ट्रीय कार्यकर्ता तथा सामान्य भाई-बहन उनके प्रति श्रद्धा व आदरका भाव रखते है। अत उनके मित्रों, प्रशसको और शिष्योंने सोचा कि इस शुभ अवसर पर सारे देशकी ओरसे उनका गौरव एवं सम्मान करना चाहिए; और इसके लिए देशके विभिन्न प्रदेशोसे कम-से-कम ७५ हजार रुपयोंकी निधि एकत्रित करके उन्हें समर्पित करनी चाहिए।

इस कार्यको सम्पन्न करनेके लिए १९५५के जून महीनेमे "पण्डित सुखलालजी सम्मान समिति"की स्थापना की गई। इस समितिके अध्यक्ष हमारी लोकसभा (Parliament) के तत्कालीन अध्यक्ष माननीय गणेश वासुदेव मावलंकर थे, किन्तु उनका स्वर्गवास होने पर तत्कालीन बम्बई राज्यके मुख्य मत्री माननीय श्री मोरारजीभाई देसाई समितिके अध्यक्ष चुने गये। समितिका मुख्य कार्यालय अहमदाबादमे रखा गया और उसकी शाखाएँ बम्बई, कलकत्ता, बनारस, मद्रास, जयपुर, राजकोट आदि शहरोमे स्थापित की गई।

समितिने देशभरमेंसे रु० १,०१,१४१–७५ की निधि एकत्रित की और पण्डितजीके गुजराती एवं हिन्दी लेखो तथा निबन्धोका सग्रह करके गुजरातीमे "दर्शन अने चिन्तन" नामक दो ग्रन्थ और हिन्दीमे "दर्शन और चिन्तन" नामक एक ग्रन्थ—इस तरह कुल ढाई हजारसे भी अधिक पृष्ठोके तीन ग्रन्थ प्रकाशित किये।

१५ जून १९५७को सायकाल ५ बजे बम्बई यूनिवर्सिटीके कॉन्वोकेशन हॉल मे भारतके तत्कालीन उपराष्ट्रपति तथा विश्वविश्रुत तत्त्वचिन्तक माननीय डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन्की अध्यक्षतामे पण्डितजीके सम्मानका एक भव्य समारोह किया गया। समारोहमें डॉ० राधाकृष्णन्के करकमलोंसे पण्डितजीको पचपन हजार रुपयोकी निधि और "दर्शन-चिन्तन"के तीन ग्रन्थ समर्पित किये गये।

समारोहके पश्चात् एकत्रित हुए पन्द्रह हजार रुपये भी उक्त निधिमें समर्पित करनेके लिए पण्डितजीको अर्पण किये गये।

इस प्रकार सत्तर हजार रुपये नगद और सम्मान समितिके दाताओंको उपहार-स्वरूप देनेके उपरान्त "दर्शन-चिन्तन"की अवशिष्ट प्रतियोंका मूल्य ग्यारह हजार रुपये गिनकर कुल इक्यासी हजार रुपयोका एक ट्रस्ट पण्डितजीने २१ नवम्बर, १९५७के दिन स्थापित किया। इस ट्रस्टका नाम 'ज्ञानोदय ट्रस्ट' रखा गया।

उद्देश्य

(१) विद्वानोको योग्य पारिश्रमिक देकर भारतीय सस्कृति, दर्शन और धर्म विषयक ग्रथ तैयार करवाना और उन्हें प्रकाशित करना।

(२) भारतीय सस्कृति, दर्शन और धर्मके विषयको लेकर आगे अध्ययन करनेवाले छात्रो एव विद्वानोको छात्रवृत्ति या प्रवासव्यय (Travelling Fellowship) देना।

(३) पण्डित सुखलालजीके ग्रन्थ, लेख और निबधोको एकत्रित करके उनका सम्पादन एव प्रकाशन करना तथा भिन्न-भिन्न भाषाओमें उनका अनुवाद करवाना।

(४) विद्वानोको योग्य पारिश्रमिक देकर भारतीय सस्कृति, दर्शन और धर्मसे सम्बन्धित विषयों पर व्याख्यानोकी आयोजना करना और उन्हें प्रकाशित करना।

(५) विश्वका विभिन्न देशोका सास्कृतिक समन्वय एव मानवताके उत्थानमे सहायक होनेवाला मूल या अनूदित साहित्य प्रकाशित करना।

ट्रस्टीमण्डल

ट्रस्टका पता—अनेकान्तविहार (श्रेयस् कॉलोनीके पास), नवरगपुरा, अहमदाबाद-९ (गुजरात राज्य)।

(२)

प्रज्ञाचक्षु श्री पण्डित सुखलालजीका परिचय

भारतीय दर्शनोंके समर्थ पण्डित और दार्शनिक समन्वयके मौलिक चिन्तक पण्डित श्री सुखलालजीका जन्म ता० ८-१२-१८८० के दिन एक व्यापारी वणिक कुटुम्बमे हुआ था। सौराष्ट्रके झालावाड़ जिलेका छोटासा लीमली गाँव पण्डितजीका जन्मस्थान है। आपके पिताका नाम संघजीभाई था।

बचपनसे ही बुद्धिशाली पण्डितजी जैसे विद्याभ्यासमे सदैव आगे रहते थे, वैसे ही तैरने, घुड़सवारी और घोड़ेकी पीठपर खड़े रहकर सरकसके खिलाड़ीकी भाँति उसे दौड़ाने आदि साहसिक कार्योंमे भी आगे रहते थे। इतनी विद्यानिष्ठा और साहसप्रियताके साथ-साथ स्वाश्रयप्रियता, आज्ञाकारिता तथा किसीका भी कार्य आनन्दपूर्वक करनेकी तत्परताका विरल सुयोग उनमे था। इसके कारण वे शिक्षकोमें, कुटुम्बीजनोमें एव गाँवमें सबके प्रियपात्र थे।

गुजरातीकी सात कक्षा तक पढ़ाई करनेके बाद उनका मन अग्रेजीका अध्ययन करनेके लिए अत्यन्त उत्कण्ठित होने पर भी पिताजीने ऐसे बुद्धिशाली और गुणवान पुत्रको विद्याके बदले व्यापारमें जोड़ना योग्य समझा और पण्डितजी दुकान पर बैठने लगे।

परन्तु भाग्य-निर्माण कुछ और ही था। पण्डितजीकी माताका तो चार वर्षकी अवस्थामें ही स्वर्गवास हो चुका था। सगी माताके प्रेमको भी भुलानेवाली नयी माता आई और वह भी चौदह वर्षकी आयु तक पहुँचते-पहुँचते चल बसी। पन्द्रह वर्षकी अवस्थामें उनके विवाहकी तैयारियाँ चल रही थी, परन्तु कन्यापक्षमें कुछ घटना घटित हुई, जिससे विवाह स्थगित रखना पड़ा। सोलह वर्षकी आयुमें पण्डितजी चेचकके भयकर रोगसे ग्रस्त हुए। इस व्याधिमेंसे वे बड़ी कठिनाईसे बचे, पर उनकी आँखोका तेज सदाके लिए नष्ट हो गया और कुटुम्बकी सारी आशाएँ निराशामें परिणत हो गई। यह वर्ष था वि० स० १९५३ का।

पण्डितजीके अन्तरमें मानो अन्धकार छा गया, परन्तु धीरे-धीरे उनके मनकी विकलता दूर होने लगी। गाँवमे आनेवाले जैन साधु-साध्वी एव दूसरे सन्तोके पाससे जो कुछ जाना-समझा जा सकता था उसे प्राप्त करनेके लिए पण्डितजीने अपना मन उस ओर मोड़ा। जिसको विधाताने दगा दिया उसको शास्त्राभ्यासने

जीवनके अमर पाथेयका दान किया। 'न दैन्य न पलायन'—यह पण्डितजीका साधना-मंत्र बन गया।

लगभग सात वर्ष इस प्रकार बीत गये। अब पण्डितजीका मन उच्च विद्या-ध्ययनके लिए लालायित रहने लगा। अब उन्हे प्रतिपल ऐसा ही विचार आता कि जहाँ कहीं गम्भीर शास्त्राभ्यास हो सके वहाँ चाहे जितना कष्ट झेलकर भी पहुँचना चाहिए। कष्ट तो प्रगतिका प्रथम सोपान है। इसीलिए 'विपद सन्तु नः शश्वत्'—व्यास का श्रीकृष्णके सामने कुंती द्वारा कहलाया गया यह वाक्य पण्डितजी को अत्यन्त प्रिय है।

इस बीच पण्डितजीको कहींसे ज्ञात हुआ कि काशीमे आचार्य श्री विजयधर्म-सूरीश्वरजीने जैन विद्वानोको तैयार करनेके लिए 'श्री यशोविजयजी जैन संस्कृत पाठशाला'की स्थापना की है। यह जानकर उन्होंने किसी भी तरह काशी पहुँचनेकी मनमें ठान ली और कुटुम्ब द्वारा हजार मना करनेपर भी एक दिन वे काशीके लिए प्रस्थित हुए। वे महारथी कर्णकी भाँति ऐसा ही मानते हैं कि जीवन-विकासके मार्गमें भाग्यने भले ही अवरोध खडे किये हो, परन्तु पुरुषार्थ द्वारा उन अवरोधोको पार करना अपने बसकी बात है। 'मदायत्त तु पौरुषम्' पण्डितजीका जीवनमंत्र है।

काशीमे तीन वर्षमे पण्डितजीने अठारह हजार श्लोक-परिमाण सिद्धहेम-व्याकरण कण्ठस्थ कर लिया; साथ-ही-साथ न्याय एव साहित्यका अभ्यास भी शुरू कर दिया। परन्तु बादमे उन्हे ऐसा प्रतीत होने लगा कि अधिक गहरे अभ्यासके लिए पाठशालाका वातावरण अनुकूल नही है, फलत वे गगाके किनारे भदैनी घाट पर एक जैन धर्मशालामे अपने ब्राह्मण मित्र ब्रजलालजीके साथ रहने चले गये। यहाँ आर्थिक कठिनाइयाँ तो बहुत थी और अपनी उत्कट जिज्ञासाको सन्तुष्ट करनेवाले गुरुओका सुयोग भी सरल नही था। कड़े जाडेमे या चिलचिलाती धूपमें रोज़ छ-आठ मील चलकर वे गुरुओके पास पहुँचते। एक बार तो अमेरिका जानेका भी मनोरथ किया था। ऐसे कठोर और गम्भीर विद्याध्ययनके समय भी गगाके गहरे और तेज़ प्रवाहमें स्नान करनेका उन्हे मन हो आता। हाथमें रस्सी बाँधकर और किनारेपर किसीको उसका एक छोर पकड़वाकर वे स्वयं तैरनेका आनन्द लेते। एक बार तो तेज़ प्रवाहमे बह जानेसे उन्हें उनके मित्र ब्रजलालजीने बडी कठिनाईसे बचाया था।

व्याकरण-साहित्यके अध्ययनके बाद लगभग तीन वर्षमे दर्शनशास्त्रका जो अभ्यास काशीमे शक्य था उसे पूर्ण करने पर पण्डितजीका मन नव्यन्यायके अध्ययनार्थ मिथिलामें जानेके लिए अत्यन्त उत्कण्ठित हो उठा। मिथिला है नव्य-न्यायके प्रकाण्ड पण्डितोका प्रदेश, किन्तु दूसरी ओर वहाँ दरिद्रता भी उतनी ही है।

अपना मुख्य केन्द्र काशीमें रखकर पण्डितजी समय-समय पर उस प्रदेशमें जाकर नव्यन्यायका अभ्यास करने लगे। वहाँका जाड़ा और बरसात तो ऐसी है कि उनके सामने मनुष्य को हार खानी पड़ती है। पण्डितजीके पास इस सर्दीसे बचनेके लिए एक था गरम स्वेटर और एक था जर्जरित कम्बल। स्वेटर उनके गुरुजीको पसन्द आया, इसलिए पण्डितजीने वह उन्हें दे दिया। सर्दीसे बचनेका अब दूसरा कोई साधन न होनेसे नीचे पुआल बिछाकर और ऊपर फटे-पुराने कम्बल पर पुआल डालकर उन्होंने उस कड़े जाड़ेका सामना किया।

लगभग तीन वर्षतक पण्डितजी मिथिला प्रदेशके तीन गाँवोंमे घूमे। अन्तमें दरभगामें उनका समागम म०म० पडित श्री बालकृष्ण मिश्रके साथ हुआ। उनकी पारगामी विद्वत्ता और सहृदयताने पण्डितजीकी जिज्ञासाको सन्तृप्त किया। फिर तो ये गुरु और शिष्य जीवनभरके मित्र बन गये।

इस तरह स्वजन और प्रिय प्रदेशसे दूर रहनेमे नौ वर्ष जितना लम्बा समय बिताकर पण्डितजीने अपना विद्याध्ययन पूरा किया और वे व्याकरण, काव्य, अलकार, दर्शन एवं धर्मशास्त्रके एक समर्थ विद्वान् तथा दर्शन एव तत्त्वज्ञानके एक पारगामी पण्डित बन गये। मानो जन्मसे वैश्य पण्डितजी कर्मसे ब्राह्मण बन गये। पर द्विजत्वका यह सस्कार कितना कष्टसाध्य था! उस समय उनकी आयु बत्तीस वर्षकी थी।

इस सारे समयमें पण्डितजीने केवल सस्कृत अध्ययन ही किया हो ऐसा नही है, बगभगसे शुरू हुए राष्ट्रीय आन्दोलन और स्वातत्र्ययुद्धकी सभी अवस्थाओसे तथा देशकी सामाजिक एव धार्मिक समस्याओसे वे पूर्ण परिचित रहते थे। इस तरह उनके मानसका सर्वांगीण विकास होता रहा।

उसके पश्चात् कई वर्ष आगरामे रहकर साहित्य-निर्माण और आवश्यकता होनेपर अन्यत्र जाकर जैन साधुओको पढ़ानेका कार्य भी उन्होने किया। इसके बाद तो उनके बहुमुखी पाण्डित्य और खास करके दार्शनिक विद्वत्तासे प्रेरित होकर १९२१ ईसवीमे महात्मा गाधीने उन्हे गुजरात विद्यापीठके पुरातत्त्व मन्दिरमे भारतीय दर्शनोके अध्यापकके पदपर नियुक्त किया। वहाँ नौ-दस वर्षके कार्य-कालमें गाधीजीके सम्पर्कने उनके जीवन पर गहरा प्रभाव डाला। इस अवधिमें पण्डितवर्य श्री बेचरदासजीके सहयोगसे उन्होंने जैन-न्यायके एक प्राचीन और आकर ग्रन्थ 'सन्मतितर्क'का ऐसा सपादन किया कि जिससे उनकी विद्वत्ता देश-विदेशमें फैल गई।

ई० १९३० में राष्ट्रीय स्वातंत्र्यका अहिंसक युद्ध शुरू हुआ। उसके परिणाम-

स्वरूप विद्यापीठ बन्द हो गया। पण्डितजी डेढ-दो साल के लिए शान्तिनिकेतन चले गये और वहाँ रहकर उन्होंने अंग्रेजी भाषाका ज्ञान प्राप्त किया।

ई० १९३३ से १९४३ के अन्ततक पण्डितजीने बनारस हिन्दू विश्वविद्यालयमें जैन दर्शनके अध्यापकके रूपमे कार्य किया। इस कालमें उन्होने अनेक ग्रन्थोंका सम्पादन-लेखन किया तथा अनेक चेतन-ग्रन्थ (विद्वान्) भी तैयार किये।

ई० १९४४से पण्डितजी निवृत्त हुए। उसके पश्चात् वे यद्यपि किसी भी संस्थामें बँधकर नही रहे, फिर भी उनकी यह निवृत्ति अखण्ड विद्यासाधनाकी प्रवृत्तिसे परिपूर्ण रही है। १९४७की सालसे पण्डितजी अहमदाबादमे ही रहते है।

पण्डितजीके सामाजिक और धार्मिक विचार सर्वदा प्रगतिशील और क्रान्तिकारी रहे है। अज्ञान, अन्धश्रद्धा और साम्प्रदायिक सकुचितताकी वे हमेशा कड़ी आलोचना करते है। मानव-मात्रकी तथा स्त्री-पुरुषकी समानता ही पण्डितजीका सामाजिक आदर्श रहा है। दार्शनिक क्षेत्रमें तुलनात्मक समन्वयकारी विवेचना उनके दार्शनिक विचारोकी विशेषता है। विचार कोई भी हो, ऐतिहासिकदृष्टिसे उसे परखना और सारासारका विवेक करना—यह उनकी अपनी विचारधाराकी चाबी है।

राष्ट्रीय प्रश्नोमे पण्डितजी सदा सजीव रस लेते रहते हैं। गाधीजीकी अहिंसा और रचनात्मक दृष्टिसे वे अत्यन्त प्रभावित हुए है। आश्रम-जीवनका अनुभव लेनेके लिए उन्होने गाधीजीके साथ चक्की पीसनेका भी सुअवसर प्राप्त किया है।

सत्यशोधन पण्डितजीकी अखण्ड विद्योपासनाकी नीव है। कुछ भी लिखते समय 'नामूल लिख्यते किंचित्' के आदर्शका वे दृढ़तापूर्वक पालन करते है। सतत जाग्रत जिज्ञासा और पुरुषार्थपरायणता पण्डितजीके उल्लासपूर्ण जीवनकी कुजी है। भारतके भिन्न-भिन्न दर्शनोके बीच विरोधका परिहार करके समन्वयकी स्थापना करना पण्डितजीकी विद्वत्ताका अद्वितीय अर्पण है।

सादा, स्वाधीन और मितव्ययी जीवन पण्डितजीका जीवन-आदर्श है। अपना भार दूसरे किसी पर न पड़े इसके लिए पण्डितजी सदा जागरूक रहते है और चाहे जैसी कठिनाईमे भी अपने चित्तकी प्रसन्नता कायम रखते हैं। खान-पान, वाचन-लेखन और घूमने-फिरनेमे वे सदा नियमित रहते है। पण्डितजी सही अर्थमे जीवनदृष्टिके कलाकार है।

जीवनको असार कहकर उसे तुच्छ मानना पण्डितजीको कभी पसन्द नहीं आता। उनकी जीवन-दृष्टि सर्वदा मागल्यपूर्ण रही है और इस मागल्यमय दृष्टिने ही उनके जीवनको मगलमय, आनन्दमय और तेजस्वी बनाया है।

—:०.—

पण्डित सुखलालजीकी साहित्यसाधना

आगमिक

(१) **आत्मानुशास्तिकुलक**—मूल प्राकृत; गुजराती अनुवाद।

(२-५) **कर्मग्रन्थ १ से ४**—देवेन्द्रसूरि कृत; मूल प्राकृत; हिन्दी अनुवाद, विवेचन, प्रस्तावना, परिशिष्टयुक्त।

(६) **दंडक**—पूर्वाचार्यकृत प्राकृत जैन प्रकरण ग्रथका हिन्दी सार।

(७) **पंच प्रतिक्रमण**—जैन आचार-विषयक ग्रन्थ; मूल प्राकृत, हिन्दी अनुवाद, विवेचन, प्रस्तावना युक्त।

(८) **जैन दृष्टिए ब्रह्मचर्य विचार**—गुजरातीमे, पडित बेचरदासजीके सहयोगसे।

(९) **तत्त्वार्थसूत्र**—उमास्वाति वाचककृत सस्कृत, सार, विवेचन, विस्तृत प्रस्तावना युक्त; गुजराती और हिन्दीमे।

(१०) **निर्ग्रंथ संप्रदाय**—महत्त्वपूर्ण प्राचीन तथ्योका ऐतिहासिक निरूपण, हिन्दीमे।

(११) **चार तीर्थंकर**—भगवान् ऋषभदेव, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ तथा महावीर सबधी लेखोका सग्रह; हिन्दी तथा गुजरातीमे।

दार्शनिक

(१२) **सन्मतितर्क**—मूल प्राकृत सिद्धसेन दिवाकरकृत; टीका (सस्कृत) श्री अभयदेवसूरिकृत, पाँच भाग। छठा भाग मूल और गुजराती सार, विवेचन तथा प्रस्तावना सहित, प० बेचरदासजीके सहयोगसे। (इसका अंग्रेजी तथा प्रस्तुत हिन्दी अनुवाद भी प्रकाशित हुआ है।)

(१३) **न्यायावतार**—सिद्धसेन दिवाकरकृत, मूल सस्कृत, गुजराती अनुवाद, विवेचन, प्रस्तावनायुक्त।

(१४) **प्रमाणमीमांसा**—हेमचद्राचार्यकृत; मूल सस्कृत; विस्तृत-तुलनात्मक हिन्दी प्रस्तावना तथा टिप्पणयुक्त।

(१५) **जैनतर्कभाषा**—उपाध्याय यशोविजयजीकृत; मूल सस्कृत; सस्कृत टिप्पणयुक्त, हिन्दी प्रस्तावना।

(१६) **हेतुबिन्दु**—धर्मकीर्ति कृत बौद्ध न्यायका सस्कृत ग्रन्थ, टीकाकार अर्चट, अनुटीकाकार दुर्वेक मिश्र, अग्रेजी प्रस्तावनायुक्त।

(१७) **ज्ञानबिन्दु**—उपाध्याय यशोविजयजी कृत; मूल संस्कृत; हिन्दी प्रस्तावना तथा सस्कृत टिप्पणयुक्त।

(१८) **तत्त्वोपप्लवसिंह**—जयराशि कृत; चार्वाक परम्पराका सस्कृत ग्रन्थ, अंग्रेजी प्रस्तावनायुक्त।

(१९) **वेदवादद्वात्रिंशिका**—सिद्धसेन दिवाकरकृत, सस्कृत, उपनिषदोके साथ तुलना, सार, विवेचन, प्रस्तावना, गुजराती एव हिन्दीमे।

(२०) **अध्यात्मविचारणा**—गुजरात विद्यासभाकी 'श्री पोपटलाल हेमचद्र अध्यात्म व्याख्यानमाला'के अन्तर्गत आत्मा, परमात्मा और साधनाके सबंधमें दिये गये तीन व्याख्यान, गुजराती तथा हिन्दीमे।

(२१) **भारतीय तत्त्वविद्या**—महाराजा सयाजीराव यूनिवर्सिटी, बडौदाके तत्त्वावधानमे महाराजा सयाजीराव ऑनरेरियम लेक्चर्सके अन्तर्गत जगत्, जीव और ईश्वरके सबधमे दिये गये पाँच व्याख्यान, गुजराती तथा हिन्दीमे। (इनका अग्रेजी अनुवाद भी तैयार हो रहा है।)

योग

(२२) **योगदर्शन**—मूल पातजल योगसूत्र, वृत्ति उपाध्याय यशोविजयजी कृत, तथा श्री हरिभद्रसूरि कृत प्राकृत योगविंशिका मूल, टीका (सस्कृत) उपाध्याय यशोविजयजी कृत, हिन्दी सार, विवेचन तथा प्रस्तावनायुक्त।

(२३) **आध्यात्मिक विकासक्रम**—गुणस्थानके तुलनात्मक अध्ययन सबधी तीन लेख।

(२४) **समदर्शी आचार्य हरिभद्र**—बम्बई यूनिवर्सिटीमे ठक्कर वसनजी माधवजी व्याख्यानमालामे दिये गये पाँच व्याख्यान, गुजराती तथा हिन्दी मे।

(२५) **जैनधर्मनो प्राण**—जैनदर्शन, धर्म, सस्कृति विषयक लेखोका सग्रह गुजराती तथा हिन्दीमे।

प्रकीर्ण

(२६) **धर्म और समाज**—लेखोका सग्रह।

(२७) **दर्शन अने चिन्तन** भाग १-२—दार्शनिक, धार्मिक, साहित्यिक, सामाजिक, राष्ट्रीय आदि विषयोके गुजराती लेखो व निबन्धोका सग्रह।

(२८) **दर्शन और चिन्तन**—दार्शनिक, धार्मिक आदि विषयोके हिन्दी लेखो एव निबन्धोका सग्रह।

निवेदन

आचार्य सिद्धसेन दिवाकरकृत प्राकृत सन्मतितर्क प्रकरण तथा उसकी आचार्य अभयदेवकृत संस्कृत टीकाका संपादन-प्रकाशन समाप्त करनेके बाद सन्मति-तर्ककी गाथाओंका विवेचन सहित गुजराती अनुवाद विस्तृत प्रस्तावनाके साथ गुजरात विद्यापीठ द्वारा ई० १९३२ में प्रकाशित हुआ। इसीके आधार पर उसका अंग्रेजी संस्करण भी ई० १९४० में श्वेताम्बर जैन कान्फ्रेंस द्वारा प्रकाशित हुआ। उक्त अंग्रेजी संस्करणमें एकाध स्थानों पर प्रस्तावनामें वृद्धि की गई थी। शेषांश वैसा ही था। 'सन्मति प्रकरण'की गुजराती द्वितीय आवृत्ति ई० १९५२ में हुई। उस समय प्रस्तावनामें कुछ संशोधन किया गया और अनुवाद-विवरणमें भी कुछ संशोधन हुआ। उसी दूसरी आवृत्तिके आधारसे प्रस्तुत 'सन्मति प्रकरण' हिन्दीमें अनूदित होकर प्रकाशित किया जा रहा है।

इस हिन्दी अनुवादके समय जहाँ कहीं अशुद्धि या अस्पष्टता मालूम हुई उसे दूर किया गया है तथा मूल प्राकृत गाथाओंके अनुवाद या विवेचनमें जहाँ कहीं परिवर्तन या परिवर्धनकी आवश्यकता प्रतीत हुई वहाँ वैसा किया गया है। इसके लिए जिज्ञासुओको सन्मति १.३०; २.२२; २.२३; २.२४; २.२६; २.२७; २.२८; ३.१; ३.२; ३.३ इत्यादि गाथाओंका अनुवाद और विवेचन देखना चाहिए।

गुजराती प्रस्तावनाका वह अंश (पृ० १ से ५५) जिसमें 'प्रति परिचय' दिया गया है, हिन्दीमें छोड़ दिया गया है। उसमें प्राकृत-संस्कृत मूल-टीका ग्रंथके संपादनमें उपयुक्त अनेक हस्तप्रतियोका विवेचन किया गया है। उस अंशको छोड़ देनेपर भी प्रस्तुत ग्रन्थमें अपूर्णता मालूम नहीं होगी।

इस हिन्दी संस्करणकी प्रस्तावनामें पर्याप्त मात्रामें संशोधन किया गया है और नई सामग्री दी गई है। प्रस्तावनामें संशोधन इसलिए आवश्यक था कि एक तो वह ई० १९३२ में लिखी गई, उसके बाद उसका समग्र रूप से संशोधन करनेका योग्य अवसर मिला नहीं था और इस बीच जो नये-नये संशोधन हुए, उसके प्रकाशमें प्रस्तावनाको संशोधित करना आवश्यक था। विशेषतः इसलिए भी आवश्यक था कि बाबू जुगलकिशोरजी मुख्तारने ई० १९४९ में 'अनेकान्त' मासिकका जो 'सिद्धसेनांक' नामक विशेषांक प्रकाशित किया था। उसमें बहुतसे ऐसे मन्तव्य

थे जो प्रस्तावनागत मेरे मन्तव्योंसे विपरीत थे। ऐतिहासिक दृष्टिसंपन्न तथा असाम्प्रदायिक वृत्तिवाले श्री पं० नाथूराम प्रेमी पुनः-पुनः यह कह रहे थे कि मुझे उनका उत्तर देना ही चाहिए; किन्तु मैं अपने अन्य कार्योंमें व्यस्त रहनेके कारण उस विशेषांकको पूरा पढ़ भी नहीं सका था। जब हिन्दीमें प्रस्तुत ग्रन्थ प्रकाशित करनेका निश्चय किया गया तब श्री जुगलकिशोरजीने सिद्धसेन, उनका समय, उनके ग्रन्थ, उनका संप्रदाय आदिके विषयमें जो आपत्तियाँ खड़ी की थीं, उनपर विचार करना अनिवार्य हो गया।

अतएव प्रस्तावनामें मैंने यत्रतत्र-जहाँ कहीं नये प्रकाशमें संशोधन जरूरी था वह कर दिया है, जैसे कि—गु० पृ० ५७ और हिन्दी पृ० २ की टिप्पणी १; गु० पृ० ५९ और हिन्दी पृ० ४ की टिप्पणी १; गु० पृ० ६८ और हिन्दी पृ० ११ की टिप्पणी ४; गु० पृ० ७१ और हिन्दी पृ० १४ की टिप्पणी १; गु० पृ० ७३ और हिन्दी पृ० १५ की दूसरी कंडिका; गु० पृ० १०३ का 'कुंदकुंद अने उमास्वाति' वाला प्रकरण हिन्दी पृ० ३९ में संशोधित है; गु० ११३ में जहाँ समन्तभद्रका विचार पूरा हुआ है वहाँ हिन्दी पृ० ४७ में आचार्य समन्तभद्र और सिद्धसेनके पौर्वापर्यके विषयमें नये विचार जोड़े गये हैं; गु० पृ० ११५ की प्रथम कंडिका हिन्दी पृ० ४९ में संशोधित है; गु० पृ० १२४ हिन्दी पृ० ५७ की टिप्पणी १; गु० पृ० १२६ और हिन्दी पृ० ५९ की टिप्पणी १; गु० पृ० १६२ और हिन्दी पृ० ८७; गु० पृ० १८० पंक्ति ३ के बाद हिन्दी पृ० १०१ में नया जोडा गया है; हिन्दी पृ० १०९ की टिप्पणी २; हिन्दी पृ० १११ कंडिका १ के अन्तमें नया जोड़ा है। इत्यादि।

इसके अलावा प्रस्तावनाके अन्तमें (पृ० ११४-१२४) 'संपूर्ति' के रूपमें बाबू जुगलकिशोरजीकी आपत्तियोंके विषयमें विचार किया है। तथा ग्रन्थके अन्तमें (पृ० १०५) सप्तभंगीके विषयमें एक नया परिशिष्ट जोड़ा है।

सन्मतितर्कके गुजराती विवेचनका अंग्रेजी अनुवाद, गुजराती विवेचनकी दूसरी आवृत्ति तथा इस हिन्दी अनुवादके प्रकाशनमें मैंने यथाशक्ति जो संशोधन किया है उसमें बहुश्रुत पं० दलसुख मालवणियाका मुख्य रूपसे सहकार मिला है। प्रस्तुत हिन्दी आवृत्तिके समय अधिक मात्रामें संशोधन करना पड़ा है और उसमें भी विशेषतः वयोवृद्ध पं० मुख्तारजीके अति विस्तृत लेखका यथासंभव संक्षिप्त किन्तु प्रमाणबद्ध उत्तर देना जरूरी था जो सम्पूर्ति रूपमें दिया गया है। इस कार्यमें पं० मालवणियाने लगनसे मुझे सहकार दिया है, उसको मैं भूल नहीं सकता।

गुजरातीसे हिन्दी अनुवाद करनेमें श्री प्रो० शान्तिलाल जैनने जो परिश्रम उठाया वह प्रशंसनीय है। मूल गुजराती ई० १९३२ में प्रकाशित हुआ और उसके तीस वर्ष बाद जो यह हिन्दी संस्करण प्रकाशित हो रहा है उसमें मैं स्वयं संशोधन कर सका यह मेरे लिए आनन्दका विषय है। जिज्ञासुओंको इससे कुछ लाभ होगा तो मेरा श्रम सफल होगा—

अनेकांत विहार
अहमदाबाद
ता० २९-१२-६२

सुखलाल संघवी

अनुक्रमणिका

प्रस्तावना

सन्मति-प्रकरण

सन्मति प्रकरण
की
प्रस्तावना

प्रस्तावना

१

मूलकारका परिचय

सन्मतितर्क मूलके कर्ता सिद्धसेनसूरि हैं। सिद्धसेन नामके अनेक[1] आचार्य जैन-परम्परामें हुए हैं। उन सबमें जो 'दिवाकर'के उपनामसे प्रख्यात हैं, वही सिद्धसेन सन्मतितर्क मूलके कर्ता हैं। दिवाकरसे पहले सिद्धसेन नामके कोई आचार्य श्वेताम्बर या दिगम्बर-सम्प्रदायमें हुए हैं, ऐसा अभीतक निश्चित रूपसे ज्ञात नहीं हुआ है।

१. समय

सिद्धसेन दिवाकर कब हुए, इसके सुनिश्चित एवं निर्विवाद कहा जा सके, इतने साधन अबतक उपलब्ध नहीं हुए हैं। उनका समय निश्चित करनेके लिए हमारे पास इस समय इतने साधन हैं : (१) उनकी कृतियाँ, (२) जैन-परम्परा, जिसमें अनेक कथानकोंका समावेश होता है, तथा (३) निश्चित समयवाले लेखकों द्वारा किये गये उल्लेख।

अन्तिम साधनका हम सर्वप्रथम उपयोग करें। विक्रमकी आठवीं शताब्दी-के उत्तरार्धमें[2] होनेवाले आ० हरिभद्रने पंचवस्तु मूल एव टीकामें 'सम्मइ' अथवा 'सम्मति'का उल्लेख किया है और उसके कर्ताके रूपमें सिद्धसेन दिवाकरका नाम लिया है; इतना ही नहीं, वह उनका श्रुतकेवली जैसे असाधारण विशेषण द्वारा निर्देश भी करते हैं। जैसे कि

> भण्णइ एगंतेण अम्हाणं कम्मवाय णो इट्ठो ।
> ण य णो सहाववाओ सुअकेवलिणा जओ भणिअं ॥ १०४७ ॥
> आयरियसिद्धसेणेण सम्मईए पइट्ठिअजसेण ।
> दूसमणिसादिवागरकप्पत्तणओ तदक्खेणं ॥ १०४८ ॥

---

१. जैन-ग्रन्थावली पृष्ठ ५४, ७५, ७९, ९४, १२७, १३८, २७३, २७५, २७७, २८१, २८९, २९२।

२. देखो 'जैन साहित्य संशोधक' भाग १, पृष्ठ ५३ तथा 'समराइच्चकहा' प्रस्तावना पृष्ठ २।

उल्लेखके ढंगसे ऐसा प्रतीत होता है कि वह किसी प्राचीन प्रतिष्ठित आचार्यका उल्लेख कर रहे हैं। इससे सिद्धसेन दिवाकरको विक्रमकी आठवीं शताब्दीके पूर्वार्धसे पहले माननेमे कोई अन्तराय नही आता।

जैन-आगमोके ऊपर चूर्णि नामकी प्रसिद्ध प्राकृत टीकाएँ हैं। इनका समय सामान्य रूपसे विक्रमकी चौथी शताब्दीसे आठवी शताब्दीतकका है। चूर्णियो-मे एक निशीथसूत्रपर भी चूर्णि है। वह अनेक चूर्णियोके रचयिता जिनदासगणी महत्तरकी[1] कृति है। इन्होंने नन्दीसूत्रकी भी चूर्णि लिखी है। उस चूर्णिकी प्राचीन विश्वसनीय प्रतिके अन्तमे उसका रचना-समय शक स० ५९८ (वि० स० ७३३, ई० ६७६) दिया गया है[2]। जिनदासकी उस निशीथचूर्णिमे सन्मति और उसके कर्ता सिद्धसेनके विषयमे तीन उल्लेख[3] आते है। इनमेसे पहले

---

१. चूर्णिके अन्तमें आया हुआ जिनदास नामका सूचक उल्लेख इस प्रकार है :

जो गाहासुत्तत्थो, चेव विधी पागडो फुडपवत्थो ।
रइतो परिभासाए साहूण य अणुग्गहट्ठाए ॥ १ ॥
ति-चउ-पण-अट्ठमवग्गे ति-पणग-ति-तिग अक्खरा व ते तेसिं ।
पढम-ततिएहि ति-दुसरजुएहि णामं कयं जस्स ॥ २ ॥
गुरुदिण्णं च गणित्त, महत्तरत्तं च तस्स तुट्ठेहिं ।
तेण कएसा चुण्णी, विसेसनामा णिसीहस्स ॥ ३ ॥

नमो सुयदेवयाए भगवतीए। जिणदासगणिमहत्तरेण रइया। नमः तीर्थ-कृद्भ्यः ॥ छ ॥ छ ॥ शुभं भवतु ॥ संवत् १५३१ वर्षे फाल्गुन सुदि २ लिखितं ।

—निशीथचूर्णि खण्ड २, लिखित पत्र ४६३-२.

अब निशीथचूर्णि मुद्रित हो गयी है। उसमें 'जिणदासगणि' इत्यादि पाठ नहीं है। देखो निशीथचूर्णि भा० ४, पृ० ४११। इन गाथाओंके विशेषार्थ एवं जिनदासके विषयमें चूर्णिगत अन्य सामग्रीके लिए देखो 'निशीथ : एक अध्ययन' निशीथचूर्णि भा० ४ की प्रस्तावना पृ० ४६ से।

२. देखो 'जैन साहित्य संशोधक' भाग १, पृ० ५०-१। नन्दीचूर्णिमें मुद्रित पाठ इस प्रकार है—सकराजतो पंचसु वर्षशतेषु नन्द्यध्ययनचूर्णी समाप्ता इति पृ० ५०-१।

३. दंसणगाही—दंसणणाणप्पभावगाणि सत्थाणि सिद्धिविणिच्छयसंमति-मादि गेण्हतो असथरमाणे जं अकप्पियं पडिसेवति जयणाते तत्थ सो सुद्धो अप्रायश्चित्ती भवतीत्यर्थः।

—निशीथचूर्णि भा० १, पृ० १६२.

दंसणणाणेत्ति। अस्य व्याख्या—सुत्तत्थगतवुगाधा। दंसणप्पभावगाण सत्थाण सम्मदियादिसुतणाणे य जो विसारदो णिस्संकियसुत्तत्थो त्ति वुत्तं भवति, सो य उत्तिमट्ठपडिवन्नो, सो य अत्थ खेत्ते ठिओ तत्थंतरा वा वेरज्जं मा तं सुत्तत्थं वोच्छिज्जतु त्ति अओ तग्गहणट्ठया पकप्पति वेरज्जविरुद्धसंकमणं काउं।

—निशीथचूर्णि भा० ३, पृ० २०२.

अथवा तिसु आइल्लेसु णिव्वत्तणाधिकरणं, तत्थ ओरालिए एगिंदियादि-पंचविधं, जोणीपाहुडातिणा जहा सिद्धसेणायरिएण अस्सा पकता।

—निशीथचूर्णि भा० २, पृ० २८१.

निशीथचूर्णिके उपर्युक्त तीन उल्लेखोंके अतिरिक्त एक खास महत्त्वका उल्लेख, जो सिद्धसेनके उपयोगाभेदवाद-विषयक है, दशाचूर्णिमें है। दशा-सूत्रकी तीसरी दशा (तीसरे अध्ययन) में गुरुकी आशातनाओंमें एक 'अणुट्ठियाइ कहे' नामकी आशातना आती है। इस आशातनाका अर्थ यह है कि "गुरु जिस सभाके समक्ष व्याख्यान देते हों, उस सभाके उठनेसे पूर्व ही कोई शिष्य सभाके आगे ऐसा कहे कि 'गुरुने जो अमुक सूत्रकी अमुक व्याख्या की है, उसकी यह दूसरी भी व्याख्या होती है, उसका यह दूसरा भी अर्थ होता है।' और ऐसा कहकर कोई सवाई स्याना—पण्डितम्मन्य शिष्य सभाके समक्ष अपनी डेढ़ चावलकी खिचड़ी पकाने लगे, तो यह एक प्रकारकी गुरुकी अवज्ञा है।" चूर्णिमें आचार्य सिद्धसेनके ऊपर इस प्रकारकी अवज्ञा करनेका आक्षेप किया है और उसे भावा-शातना कहा है। चूर्णिकारने इस आशातनाका स्वरूप समझाते हुए उसके उदा-हरणके रूपमें आ० सिद्धसेनका नाम लिया है और कहा है कि "सिद्धसेनने एक ही सूत्रके भिन्न-भिन्न प्रकारके अर्थ किये।" सन्दर्भको देखते हुए ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है कि एक ही सूत्रके भिन्न अर्थ करनेवाले इन आचार्य सिद्धसेनके अति-रिक्त दूसरा कोई प्रसिद्ध नहीं है। इसीलिए चूर्णिकारका कथन, सिद्धसेनने अपने उपयोगाभेदवादको लक्ष्य करके जो अर्थान्तर किया है, उसीको बराबर लागू होता है। इस उल्लेखसे भी ऊपर निश्चित किये हुए सिद्धसेनके समयका मजबूत समर्थन होता है। चूर्णिकार प्रायः जिनदास ही होंगे, अथवा दूसरा कोई भी हो, तो भी वह उनसे (जिनदाससे) तो अर्वाचीन नहीं है। चूर्णिका अक्षरशः उल्लेख इस प्रकार है :

अणुट्ठाए निविट्ठाए चेव, अभिन्ना ण ताव विसरति, अवोच्छिण्णा जाव एक्को वि अच्छति, तमेव त्ति जो आयरियेण अत्थो कहितो दोहिं ते(ती)हिं चउहिं वा; जहा सिद्धसेणायरितो तमेवाधिकारं विकल्पयति, अयमपि प्रकारो तस्यैवैकस्य सूत्रस्यैवंगुणजुत्तो, भावआसादणा भवति॥

—दशाचूर्णि पृ० १६.

उल्लेखका भाव यह है कि सिद्धिविनिश्चय[1], सन्मति आदि दर्शनप्रभावक शास्त्रोंको सीखनेवाला साधु कारणवश यदि यतनासे अकल्पित वस्तुका सेवन करे, तो वह उसमें शुद्ध ही है। अर्थात् उसे अकल्पित सेवनके लिए प्रायश्चित्त नहीं करना पड़ता।

सन्मति-विषयक दूसरे उल्लेखका भाव यह है कि 'दर्शनप्रभावक शास्त्रमे (जैसे कि सन्मति आदि श्रुतज्ञानमे) विशारद एव उत्तमार्थ (अनशन) प्राप्त साधु जिस क्षेत्रमे रहता हो, उस क्षेत्रमे विरोधी राज्य होनेपर भी सूत्रका विच्छेद न हो, इस दृष्टिसे सीखने जाना पड़े, तो जानेकी अनुमति है।'

तीसरा उल्लेख सिद्धसेनके बारेमे है। उसमे कहा गया है कि 'जैसे सिद्धसेन आचार्यने 'योनिप्राभृत' आदि द्वारा घोड़े बनाये।'

इन उल्लेखोमे मुख्य दो बाते स्पष्ट प्रतीत होती हैं। पहली तो यह कि सन्मति-तर्क ग्रन्थ जिनदासगणी महत्तरके समयमे दर्शनप्रभावक शास्त्रोमे गिना जाता था; और वह यहाँतक कि उसका अभ्यासी कारणवश दोपसेवन करे, तो भी वह प्रायश्चित्तभागी नही समझा जाता था और सन्मतिके अभ्यासी साधुके पास शास्त्र-ग्रहण करनेके लिए विरोधी राज्यतकमे जानेकी छूट थी। दूसरी बात यह है कि किसी सिद्धसेन आचार्यके द्वारा घोड़ोंके सर्जनकी दन्तकथा जिनदासगणी महत्तरके समयमे बहुत प्रसिद्ध और मान्य हो चुकी थी।

प्रस्तुत चूर्णि जिस भाष्यपर है, वह निशीथभाष्य जिनभद्रगणी क्षमाश्रमणका अथवा सिद्धसेन आचार्यका, जो प्रस्तुत सिद्धसेनसे भिन्न थे, माना जाता है[2]। उक्त उल्लेखवाली चूर्णिकी मूल भाष्यगाथामे सन्मतिका नाम नही है, परन्तु दर्शनप्रभावक शास्त्रका नामके बिना उल्लेख है[3]। जिनदासके द्वारा निर्दिष्ट अश्वसर्जक[4] सिद्धसेन ही सन्मतिके कर्ता सिद्धसेन दिवाकर हैं।

---

१. यह सिद्धिविनिश्चय अकलंककृत नही, परन्तु आचार्य शिवस्वामिकृत समझना चाहिए। देखो 'सिद्धिविनिश्चय' प्रस्तावना पृ० ५३।

२. देखो श्री जिनविजयजी द्वारा सम्पादित 'जीतकल्प' की प्रस्तावना पृ० १० तथा निशीथ : एक अध्ययन : निशीथचूर्णिकी प्रस्तावना पृ० ४० से।

३. दंसणपभावगाणं सट्ठाणट्ठाए सेवती जं तु।
णाणे सुत्तत्थाणं चरणेसण-इत्थिदोसा वा॥
—निशीथभाष्य, गा० ४८६.

४. 'प्रभावकचरित्र' के वृद्धवादी-प्रबन्धके श्लोक १६७-८ में सिद्धसेनके द्वारा किये गये सैन्यसर्जनकी सूचना है।

सिद्धसेनकी अश्वसर्जकके रूपमे प्रसिद्धि और सन्मतिकी दर्शन-प्रभावक शास्त्रके रूपमे ख्याति ये दोनों बातें हमे इतने निश्चित अनुमानकी ओर ले जाती है कि वह सिद्धसेन जिनदाससे पहले हुए है। परन्तु पहले यानी कितने पहले, यह प्रश्न अब होता है। क्या सिद्धसेन जिनभद्रके समकालीन होगे या उनसे थोड़े ही समय पहले अथवा काफी लम्बे समय पहले हुए होगे? सिद्धसेन और जिनभद्र दोनो समर्थ होनेपर भी भिन्न-भिन्न विरोधी मतके थे। जिनभद्र आगमिक परम्पराके रक्षकके रूपमे प्रतिष्ठित थे, तो सिद्धसेन नवीन वादके स्थापक तार्किकके रूपमें तथा सस्कृतमे आगमोंका उल्था करनेवालेके रूपमे प्रख्यात थे। जिनदासने चूर्णि आदि साहित्य आगमोपर लिखा है, अत. यह स्वाभाविक है कि उनका झुकाव आगमिक परम्पराकी ओर विशेष हो। जिनभद्रकी आगमिक परम्पराके उत्तराधिकारी जिनदास[1] जिनभद्रके ही एक प्रतिस्पर्धी दूसरे विद्वान्का तथा उनकी कृतियोका अतिमानपूर्वक उल्लेख करते है, इसपरसे इतना तो सूचित होता ही है कि सिद्धसेन जिनभद्रके समकालीन तो क्या, निकट पूर्ववर्ती भी न होने चाहिए। महत्त्वकी बातमे विरोध रखनेवाले दो आचार्य सिद्धसेन और जिनभद्रके बीच इतना समय अवश्य ही बीता होगा, जिससे कि जिनदास भी सिद्धसेन और उनकी कृतिकी ओर मानपूर्वक देखने लगे होंगे। तत्कालीन साम्प्रदायिक वातावरणको देखते हुए ऐसा होनेमे सौ-दो सौ वर्ष लगे हो, तो ऐसी कल्पना तनिक भी अनुचित प्रतीत नही होती। अतएव जिनदासकी निशीथचूर्णिमे आये हुए उक्त उल्लेख हमे ऐसा निश्चय करनेकी ओर प्रेरित करते है कि यह बहुत सम्भव है कि सिद्धसेन जिनदाससे डेढ़ सौ-दो सौ वर्ष पहले हुए हो।

अब परम्पराका विचार करे। सभी परम्पराएँ सिद्धसेनको विक्रमके समकालीन तथा उज्जयिनीके निवासी मानती है। परन्तु विक्रम कौन और कब हुआ, यह भारतके इतिहासमे एक बहुत बडा विवादग्रस्त प्रश्न है। फलतः यह विक्रमकी परम्परा हमे समय-निर्णयमे बहुत उपयोगी नही हो सकती।

---

१. जिनभद्रने अपने विशेषावश्यकभाष्यकी रचना पूर्ण की, उसके पश्चात् ठीक ६७ वर्षपर जिनदासने अपनी नन्दीचूर्णिकी रचना समाप्त की थी—ऐसा इन दोनोंके स्वयं निर्दिष्ट समयके आधारपर निश्चित हो सका है। इस प्रकार देखें तो ये दोनों एक-दूसरेके बहुत निकटकालीन कहे जा सकते है। देखो 'भारतीय विद्या—निबन्ध संग्रह' (ई० १९४५) में मुनि श्री जिनविजयजीका लेख पृ० १९१।

डॉ० सतीशचन्द्र विद्याभूषण विक्रमकी सभाके नवरत्नवाले श्लोकमे आनेवाले क्षपणकको सिद्धसेन दिवाकर मानकर और विक्रमको मालवाका यशोधर्मदेव समझकर सिद्धसेनको ई० ५३० के आसपास रखते हैं[1]।

इस कालगणनामे दो दोष हैं : एक तो, जैसा कि पहले हमने कहा, विक्रम राजा कब हुआ, इस प्रश्नका इस तरह निर्णय नही हो सकता। इस विषयमे अनेक मतभेद हैं और हाल ही मे श्री कल्याणविजयजीने 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' में[2] प्रकाशित अपने वीरनिर्वाण विषयक लेखमे कितने ही विचारणीय प्रमाण देकर जैनोंमें प्रसिद्ध विक्रमादित्य बलमित्र है, ऐसा कहा है, और बलमित्रने शकोको हराकर तथा गर्दभिल्लको मारकर वीर-निर्वाण सवत् ४५३ मे उज्जयिनीकी गद्दी ली थी और १७ वर्षके पश्चात् अर्थात् वीर-निर्वाण सवत् ४७० मे विक्रम सवत् चलाया था, ऐसा वह लिखते है। तात्पर्य यह कि विक्रम-समकालीनता सिद्धसेन दिवाकरका समय निश्चित करनेमे उपयोगी नही हो सकती।[3] डॉ० विद्या-

---

१. 'हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लॉजिक' पृ० १७४।

२. देखो 'ना० प्र० प०' भाग १०, अक ४ में 'वीर-निर्वाण संवत् और जैन कालगणना' शीर्षक लेख।

३. इस बारेमें डॉ० कुमारी शार्लोट क्राउजेने 'विक्रम वॉल्युम' (१९४८) में कुछ ऊहापोह किया है। सिद्धसेन दिवाकरने अपनी 'गुणवचन-द्वात्रिंशिका' में जिस पराक्रमी राजाके गुणोंका वर्णन किया है, वह कौन हो सकता है, इसकी सूक्ष्म समीक्षापरसे वह ऐसे निर्णयपर आयी हैं कि वह राजा समुद्रगुप्त है (ई० ३३०–३७५)। हाल ही में उपलब्ध उसकी मुद्रापर उसके लिए 'विक्रमादित्य' उपाधिका प्रयोग भी मिला है। मतलब कि 'विक्रमादित्य' उपनाम विक्रम सवत् आरम्भ करनेवालेके लिए ही प्रयुक्त हुआ है, ऐसा नहीं है। गुप्त राजाओंमें भी अनेक राजाओके लिए उसका प्रयोग मिलता है। यद्यपि बादके समयमें यह भेद विस्मृत हो गया और 'विक्रमादित्य' उपनामके साथ ही विक्रम सवत् शुरू होनेकी बातका भी भिन्न-भिन्न राजाओके साथ उल्लेख होने लगा। इस प्रकार सिद्धसेन यदि समुद्रगुप्त तथा बादमें उसके पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय (जिसकी सभामें कालिदास आदि नवरत्न थे, ऐसा अब माना जाता है) के समकालीन हों, तो उनका समय विक्रमकी चौथी-पाँचवीं शताब्दी माननेमें विशेष समर्थन मिलता है।

'ज्योतिर्विदाभरण' के २२वें प्रकरणमें जहाँ विक्रम राजाके नवरत्नोंका उल्लेख है, वहाँ भी १०वें श्लोकमें रत्नके रूपमें गिनाया गया क्षपणक ९वें श्लोकमें काल-

भूषणकी काल-गणनामें दूसरा दोष यह भी है कि वह नवरत्नवाले श्लोकको ऐति-हासिक प्रमाण मानकर कालिदास आदि नवो व्यक्तियोंको समकालीन मानते है। परन्तु इस तरह इन नौ व्यक्तियोंको समकालीन माननेके लिए कोई प्रमाण नहीं है। इसके अतिरिक्त, क्षपणकसे सिद्धसेन दिवाकर ही उद्दिष्ट हैं, ऐसा मानना केवल कल्पना है। इसके लिए अधिक सुनिश्चित प्रमाणोंकी आवश्यकता है। जैनोमे मुख्य आचार्योंकी कालगणनाके लिए पट्टावलियाँ हैं। ये पट्टावलियाँ सर्वदा श्रद्धेय होती हैं ऐसा तो नही है, परन्तु उनमे अनेक काल-गणनाएँ हैं, ऐसा क्लाट आदि विद्वानोका भी मानना है। इस दृष्टिसे सिद्धसेन दिवाकरकी परम्पराका विचार करे।

वि० स० १३३४ के समयके प्रभाचन्द्रके 'प्रभावकचरित्र' में सिद्धसेन दिवाकरकी परम्परा बिस्तारसे दी है। "विद्याधर आम्नायमे पादलिप्त कुलमें स्कन्दिलाचार्य हुए। मुकुन्द नामक एक ब्राह्मण उनका शिष्य हुआ। यह मुकुन्द बादमें वृद्धवादीके नामसे प्रसिद्ध हुआ।" सभी जैन-परम्पराएँ सिद्धसेन दिवाकरको वृद्धवादीका शिष्य मानती है[1]। अत इस परम्पराकी अब हम जाँच करे।

स्कन्दिलाचार्य जैनोमे प्रसिद्ध माथुरी आगमवाचनाके प्रणेता थे। यह वाचना जैन-परम्पराके अनुसार वीर निर्वाण सवत् ८४० मे हुई थी, अत स्कन्दिलाचार्यका

तंत्र कविके रूपमें उल्लिखित श्रुतसेन है, ऐसा डॉ० काउजेका मानना है, क्योंकि इन दो श्लोकोमें अमरसिंह, शंकु, घटकर्पर, कालिदास, वराहमिहिर और वररुचिको रत्नके रूपमें तथा कालतंत्र कविके रूपमें इस तरह दो बार गिनाया ही है। अतः १०वें श्लोकमें क्षपणक (जैन साधु) शब्दसे उद्दिष्ट व्यक्तिको ही ९वें श्लोकमें श्रुतसेनके नामसे कहा गया है। 'ज्योतिर्विदाभरण' का टीकाकार भावरत्न सूचित करता है कि काव्य एवं व्याकरण शास्त्रके नियमोंके अनुसार 'सिद्धसेन' के लिए ही श्रुतसेन रूप प्रयुक्त होता है; अतः नवरत्नोंमें उल्लिखित क्षपणक सिद्धसेन ही है। अब प्रश्न यह रहता है कि सिद्धसेन कालतंत्र कवि हैं या नहीं, अर्थात् उन्होंने ज्योतिषपर कुछ लिखा है या नहीं ? यद्यपि सिद्धसेन-रचित कोई ज्योतिष-विषयक ग्रन्थ इस समय तो उपलब्ध नहीं है, परतु वराहमिहिरने अपने 'बृहज्जातक' ग्रन्थमें ज्योतिषपर लिखनेवालोंमे सिद्धसेनका उल्लेख किया है। इस तरह अजैन-परम्परा भी, जैन-परम्पराकी भाँति, सिद्धसेनका संबंध विक्रमादित्यके साथ जोड़ती है।

१. देखो आगे 'जीवन सामग्री' शीर्षकके नीचे 'प्रबन्धका सार'।

समय वि० सं० ३७० के आसपासका है। सिद्धसेन दिवाकर स्कन्दिलाचार्यकी दूसरी पीढ़ीमें आते हैं, अतएव सिद्धसेनका समय विक्रमकी चौथी और पाँचवीं शताब्दीमें आता है। जैन-परम्पराके आधारपर सिद्धसेन दिवाकरको विक्रमकी चौथी-पाँचवी शताब्दीमें रखनेमें किसी खास ऐतिहासिक हकीकतका बाध आता है या नहीं, यह अब हमें देखना चाहिए।

ऊपर हमने देखा कि निश्चित समयवाले ग्रन्थोंमें आनेवाले उल्लेखोंके[1] आधार-पर सिद्धसेन दिवाकरको हम विक्रमकी आठवीं शताब्दीके प्रारम्भके पूर्वमें रख सकते हैं। विक्रमकी आठवी शताब्दीमें 'सम्मति' शासनप्रभावक ग्रंथ माना जाता है। उस कालको देखते हुए किसी भी ग्रन्थको शासनप्रभावकका सम्मान प्राप्त होने-में दो-तीन शताब्दी व्यतीत हो, तो उसमें कोई आश्चर्य नही है। इसलिए सिद्धसेन दिवाकरको विक्रमकी ५वी शताब्दीमें मानें, तो पीछेके उल्लेख बराबर ठीक बैठते हैं।

श्री मल्लवादीने सिद्धसेन दिवाकरके ग्रन्थ सन्मतिके ऊपर टीका लिखी थी, ऐसा निर्देश आ० हरिभद्रने किया है[2]। प्रभावकचरित्रकार श्रीप्रभाचन्द्रसूरि

---

१. आ० हरिभद्र अपने ग्रन्थमें तत्त्वसंग्रहकार शान्तरक्षितका उल्लेख करते हैं। शान्तरक्षितका समय विक्रमकी आठवीं शताब्दी निर्णीत ही है। उन्होंने 'स्याद्वादपरीक्षा' (कारिका १२६२ आदि) और 'बहिरर्थपरीक्षा' (कारिका १९४० आदि) में सुमति नामक दिगम्बराचार्यके मतकी समालोचना की है और उसी सुमतिने इस सन्मतिपर विवृति लिखी है, ऐसे स्पष्ट उल्लेख मिलते हैं। इनमेंसे एक उल्लेख वादिराजसूरिके पार्श्वनाथचरित्रके प्रारम्भमें और श्रवणबेल्गोलाकी मल्लिषेणप्रशस्तिमें आता है, और दूसरा बृहट्टिप्पनिकामें सन्मतिकी वृत्ति अन्यकर्तृक है, ऐसा है। इस सुमतिका दूसरा नाम सन्मति भी है। उससे सम्बन्ध रखनेवाले उल्लेख इस प्रकार हैं :

नमः सन्मतये तस्मै भवकूपनिपातिनाम्।
सन्मतिर्विवृता येन सुखधामप्रवेशिनी ॥

सुमतिदेवममुं स्तुत येन वः सुमतिसप्तकमाप्ततया कृतम्।
परिहृतापदतत्त्वपदार्थिनां सुमतिकोटिविवर्ति भवार्तिहृत् ॥

इसपरसे भी सिद्धसेनके निर्णीत किये हुए पाँचवीं शताब्दीके समयको विशेष संवाद मिलता है।

२. आ० हरिभद्रने इस विषयमें जो उल्लेख किये हैं, वे इस प्रकार हैं :

उक्तं च वादिमुख्येन श्रीमल्लवादिना सम्मतौ। (अनेकान्तजयपताका पृ० ४७); सम्मतिवृत्तिर्मल्लवादिकृता (बृहट्टिप्पनिका)। देखो 'जैन साहित्य

विजयसूरिप्रबन्धमें लिखते हैं कि "श्री वीरनिर्वाणसे ८८४वे वर्षमें (अर्थात् वि० सं० ४१४ मे)बौद्ध एवं बौद्ध व्यन्तर देवोंको मल्लवादीने जीता ।" यह लिखते समय प्रभावकचरित्रकार श्रीप्रभाचन्द्रसूरिके समक्ष अवश्य ही कोई ऐसी परम्परा रही होगी, जिसके आधारपर उन्होंने मल्लवादीके द्वारा बौद्ध-विजयका समय वि० स० ४१४ लिखा है । श्रीमल्लवादी द्वारा रचित ग्रन्थोमेसे एकमात्र 'नयचक्र' ग्रन्थ ही इस समय उपलब्ध है । यद्यपि वह भी मूल रूपमे तो नष्ट हो गया है, ऐसा इस समय माना जाता है, फिर भी उसपर सिहसूरिगणिवादिक्षमाश्रमण नामके (विक्रमकी छठी-सातवी शताब्दीके) आचार्य द्वारा रचित 'न्यायागमानुसारिणी' नामकी १८,००० श्लोक-परिमाणकी जो टीका मिलती है, उसमे आये हुए मूलके प्रतीकोको एकत्रित करके तथा दूसरी अनेकविध सामग्रीके आधारपर मूलग्रथको बहुत कुछ तैयार किया जा सकता है[1] । उसमे जिन-जिन अन्य ग्रन्थकार तथा उनके वाक्योका उल्लेख किया गया है, उनकी जाँच करनेपर किसीका भी उपर्युक्त वि० स० ४१४ के साथ विरोध नही आता[2] ।

संशोधक' भाग १, परिशिष्ट, पृ० १० । इसी बातको विद्यानन्दीकृत 'अष्टसहस्री' के अपने अष्टसहस्रीविवरणमें उपाध्याय यशोविजयजी इस प्रकार कहते हैं :

इहार्थे कोटिशो भङ्गा निर्दिष्टा मल्लवादिना ।
मूलसम्मतिटीकायामिदं दिङ्मात्रदर्शनम् ॥ (पृ० २१०)

१. इस प्रकारका विशिष्ट प्रयत्न मुनि श्री जम्बूविजयजीने किया है ।

२. विरोधकी जो कल्पना होती थी, उसका कारण मल्लवादी द्वारा भर्तृहरिके 'वाक्यपदीय' ग्रन्थमेंसे उद्धृत अनेक कारिकाएँ थीं । भर्तृहरिका समय, अब तक, चीनी यात्री इत्सिगके द्वारा ई० ६९१ में लिखे भारत-यात्रा विषयक ग्रन्थमें 'शून्यतावादी तथा सात-सात बार बौद्ध भिक्षु बनकर पुनः गृहस्थ बननेवाले महान् बौद्ध पण्डित भर्तृहरिकी मृत्युको आज ४० वर्ष हुए हैं', ऐसे उल्लेखपरसे मान लिया गया था । परन्तु मुनि श्री जम्बूविजयजीने 'जैनाचार्य श्री मल्लवादी और भर्तृहरिका समय' लेखमें (देखो 'बुद्धिप्रकाश' नवम्बर १९५१, पृ० ३३२) जो लिखा है, उसके आधारपर या तो इत्सिगका वचन निराधार है अथवा वह भर्तृहरि दूसरा ही होना चाहिए, क्योंकि वसुबन्धुके शिष्य दिङ्नागने (विक्रमकी ४थी शताब्दीके आसपास) भर्तृहरिके 'वाक्यपदीय' मेंसे दो कारिकाएँ उद्धृत की हैं, यह निश्चित होनेसे तथा भर्तृहरिका गुरु वसुरात दिङ्नागके साक्षात् गुरु वसुबन्धु-

इस प्रकार यदि मल्लवादी विक्रमकी ५वीं शताब्दीमे विद्यमान हो, तो फिर उन्होंने जिनके ग्रन्थपर टीका लिखी हो, उन सिद्धसेन दिवाकरको चौथी-पाँचवीं शताब्दीमे माननेमे कोई बाध नही आता।

इसी विषयमे दूसरा भी एक पोषक प्रमाण उपलब्ध होता है। पूज्यपाद देवनन्दीने अपने जैनेन्द्र व्याकरणमे 'वेत्तेः सिद्धसेनस्य' (५ १ ७) सूत्रमे सिद्धसेनके मतविशेषका निर्देश किया है। वह यह है कि सिद्धसेनके मतानुसार 'विद्' धातुमे 'र्' का आगम होता है, फिर भले ही वह सकर्मक भी हो। देवनन्दीका यह उल्लेख बिलकुल सच है, क्योंकि दिवाकरकी जो थोडी-बहुत सस्कृत कृतियाँ बची हैं, उनमेंसे उनकी नवी बत्तीसीके २२वे पद्यमे 'विद्रते' ऐसा 'र्' आगमवाला प्रयोग मिलता है। अन्य वैयाकरण 'सम्' उपसर्गपूर्वक और अकर्मक 'विद्' मे 'र्' का आगम मानते हैं, जब कि सिद्धसेनने अनुपसर्ग और सकर्मक 'विद्' धातुका 'र्' आगमवाला प्रयोग किया है। इतनी विलक्षणताका निर्देश देवनन्दीने किया, यह उनका बहुश्रुतत्व सूचित करता है। इसके अतिरिक्त देवनन्दी पूज्यपादकी मानी जानेवाली 'सर्वार्थसिद्धि' नामक तत्त्वार्थसूत्रकी टीकाके सातवे अध्यायके तेरहवे सूत्रमे 'उक्त च' शब्दके साथ सिद्धसेन दिवाकरके एक पद्यका अश उद्धृत मिलता है—

"उक्त च—वियोजयति चासुभिर्न च वधेन सयुज्यते।"

वह पद्य सिद्धसेन दिवाकरकी तीसरी बत्तीसीका सोलहवाँ श्लोक है।[1] देवनन्दी दिगम्बर-परम्पराके पक्षपाती सुविद्वान् हैं, जब कि सिद्धसेन दिवाकर श्वेताम्बर-परम्पराके समर्थक आचार्य हैं। उस समयकी सघर्षपूर्ण साम्प्रदायिक मनोवृत्तिका विचार करनेपर ऐसा प्रतीत होता है कि एक सम्प्रदायके चाहे जैसे सुविद्वान्की कृतिको दूसरे विरोधी सम्प्रदायमे आदरपूर्वक प्रवेश पानेके लिए अमुक समय तो लगा ही होगा।

का समकालीन होनेसे, भर्तृहरि और दिङ्नाग दोनों समकालीन ठहरते हैं। अतः मल्लवादी द्वारा वि० सं० ४१४ में बौद्धोपर विजय प्राप्त करनेके उल्लेखमें, भर्तृहरिके समयके कारण कोई व्यतिक्रम उपस्थित नहीं होता।

१. यह सारा पद्य इस प्रकार है:

वियोजयति चासुभिर्न च वधेन संयुज्यते,
शिवं च न परोपमर्दपु(पु)रुषस्मृतेर्विद्यते।
वधायतनमभ्युपैति च पराम्न निघ्नन्नपि,
त्वयाऽयमतिदुर्गमः प्रथ(श)महेतुरुद्योतितः॥ १६॥

पूज्यपाद देवनन्दीके समय की पुनर्विचारणा करके पं० श्रीनाथूरामजी प्रेमीने उनका समय विक्रमकी छठी शताब्दी माना है[1]। पूज्यपाद द्वारा दिवाकरके ग्रन्थोके किये गये सूक्ष्म अवगाहनकी और दिगम्बर-परम्परामें इन ग्रन्थोकी जमी हुई प्रतिष्ठाको देखते हुए सिद्धसेन दिवाकरके विक्रमकी चौथी-पाँचवी शताब्दीमें होनेकी बातको विशेष समर्थन मिलता है।

सिद्धसेन दिवाकर और जिनभद्रगणी क्षमाश्रमणका सम्बन्ध भी एक विचारणीय प्रश्न है। जिनभद्रके 'विशेषणवती' तथा 'विशेषावश्यकभाष्य' मे और सिद्धसेनके सन्मतिके दूसरे काण्डमे क्रमोपयोगवाद[2] तथा एकोपयोगवादकी चर्चा आती है। यह चर्चा सिद्धसेन और जिनभद्र दोनोमेसे किसी एकका पूर्ववर्तित्व और दूसरेका उत्तरवर्तित्व निश्चयपूर्वक सिद्ध करनेमे सीधे तौरपर उपयोगी हो सके ऐसी तो नही है, परन्तु दूसरे प्रमाणोके आधारपर यदि पौर्वापर्य निश्चित हो सकता हो, तो उसकी पुष्टिमे यह अवश्य उपयोगी हो सकती है। हमने पहले मुख्य रूपसे परम्पराके प्रमाणोके आधारपर विचार किया है कि सिद्धसेनका समय विक्रमकी चौथी-पाँचवी शती अधिक सम्भव है। जिनभद्रगणीके विशेषावश्यक महाभाष्यकी एक अतिप्राचीन लिखित प्रतिमे उसका रचना-काल ग्रन्थकारने स्वय ही दिया है[3]। तदनुसार वह ग्रन्थ वि० स० ६६६ मे सौराष्ट्रमे आये हुए वलभीमे समाप्त हुआ है[4]। अन्य ग्रन्थोकी रचनाके साथ विशेषावश्यकभाष्य जैसे सर्वशास्त्रोके सदोहम रूप विस्तृत, गम्भीर एव परिपक्व ग्रन्थकी रचना तथा साधुजीवनसुलभ आयुष्यका विचार करनेपर ऐसा लगता है कि क्षमाश्रमणजीका जीवनकाल विक्रमकी छठी शतीके अन्तिम भागसे लेकर सातवी शताब्दीके तीसरे पादतक सम्भवत. फैला हुआ होगा। अत: ऐसा कहना चाहिए कि जिनभद्रगणी क्षमाश्रमणने अपने ग्रन्थोमें

---

१. 'देवनन्दीका जैनेन्द्र व्याकरण' लेख (आवृत्ति दूसरी) जैन-साहित्य और इतिहास पृ० २३ से।

२. सन्मति टीका पृ० ५९७।

३. यह प्रति जेसलमेरके भण्डारमेंसे ई० १९४२ के दिसम्बरमें मुनि श्रीजिनविजयजीको उपलब्ध हुई थी। इसके लिए देखो उनका 'भारतीय विद्या—निबन्ध संग्रह' में 'भाष्यकार जिनभद्रगणी क्षमाश्रमणनो सुनिश्चित समय' (गुजराती) लेख पृ० १९१।

४. प्रतिमें उल्लिखित संवत् रचनाका नहीं, किन्तु रचनाके अनन्तर किसी अन्य प्रसंगका सूचक है। यह विचार 'गणधरवाद'की प्रस्तावनामें किया गया है। देखो पृ० ३२।

सिद्धसेन दिवाकरके उपयोगाभेदवादकी समालोचना की है और इसीलिए सिद्धसेन दिवाकर जिनभद्रगणीकी अपेक्षा पूर्वतर हैं।

इसके अतिरिक्त मल्लवादीके 'द्वादशारनयचक्र' के विनष्ट मूलके जो प्रतीक उसके विस्तृत टीकाग्रन्थमे मिलते है, उनमे दिवाकरका तो सूचन है[१], किन्तु जिन-भद्रगणीका नही। इसपरसे यही फलित होता है कि मल्लवादी जिनभद्रकी अपेक्षा पहले हुए है; तो फिर मल्लवादी जिनके ग्रन्थपर टीका लिखे, वह तो उनसे भी पूर्वतर होने चाहिए।

इस प्रकार सिद्धसेनको विक्रमकी चौथी सदीके अन्तमे या पाँचवी सदीके प्रारम्भमे, इस समय उपलब्ध साधनोको देखते हुए, मानना चाहिए।

परन्तु सिद्धसेन दिवाकरको विक्रमकी चौथी-पाँचवी शताब्दीमे माननेके सामने दो मुख्य विरोधी मत हैं. एक है प्रो० जेकोबी[२] और प्रो० वैद्यका और दूसरा है प० जुगोलकिशोरजी का[३]। दोनो विरोधी मतके लिए सामग्री सिद्धसेन दिवाकरके 'न्यायावतार' मेसे ली गयी है।

न्यायावतारके ४ से ७ श्लोकोमे प्रमाणोकी चर्चा आती है। इनमेसे ५वे श्लोकमे अभ्रान्त[४] और ६ठे श्लोकमे भ्रान्त[५] पद आता है। प्रो० जेकोबी और उनके मतके उपजीवी प्रो० वैद्य इन श्लोकोमे आनेवाले अभ्रान्त और भ्रान्त शब्दपर खास ध्यान खीचते है। उनका ऐसा मानना है कि प्रमाणकी व्याख्यामे 'अभ्रान्त' शब्दका प्रथम प्रयोग करनेवाला बौद्ध आचार्य धर्मकीर्ति है। धर्मकीर्तिने 'प्रमाण-समुच्चय'के प्रथम परिच्छेदमें आनेवाली दिङ्नागकी प्रत्यक्षकी व्याख्या 'प्रत्यक्ष कल्पनापोढ नामजात्याद्यसयुतम्'[६] को अभ्रान्त पदसे अधिक शुद्ध[७] किया है। इधर सिद्धसेन दिवाकर 'न्यायावतार' मे धर्मकीर्तिके अभ्रान्त शब्दका उपयोग करके

१. श्रीमद् विजयराजेन्द्रसूरि स्मारक ग्रन्थमें 'आचार्य मल्लवादीका नयचक्र' नामक लेख, पृ० २१०।

२. 'समराइच्चकहा' प्रस्तावना पृ० ३।

३. देखो 'स्वामी समन्तभद्र' पृ० १२६—३३।

४. अनुमान तदभ्रान्तं प्रमाणत्वात् समक्षवत् ॥ ५ ॥

५. न प्रत्यक्षमपि भ्रान्तं प्रमाणत्वविनिश्चयात्।
भ्रान्तं प्रमाणमित्येतद् विरुद्धं वचन यतः ॥ ६ ॥

६. डॉ० सतीशचन्द्र विद्याभूषणके 'हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लॉजिक' पृ० २७७ की टिप्पणी।

७. तत्र प्रत्यक्ष कल्पनापोढमभ्रान्तम्।—न्यायबिन्दु १.४।

'अनुमान भी प्रत्यक्षकी भाँति अभ्रान्त है' ऐसा कहकर धर्मकीर्तिका खण्डन करते हैं। इसलिए इन दोनों महाशयोंके मतानुसार सिद्धसेन दिवाकर धर्मकीर्तिके बाद यानी ई० ६३५–५० के पश्चात् आते हैं।

इस दलीलकी परीक्षा करें। प्रमाणकी व्याख्यामें अभ्रान्त अथवा उससे मिलता-जुलता शब्द भारतीय दर्शनोंमें धर्मकीर्तिसे पहले अज्ञात था, ऐसा मानना वस्तुतः बहुत बड़ी भूल है, क्योंकि गौतमके न्यायसूत्र तथा उसपरके वात्स्यायनके भाष्यमें 'अभ्रान्त' अर्थवाला 'अव्यभिचारी' शब्द और उस शब्दसे युक्त प्रत्यक्ष प्रमाणका लक्षण (१.१.४) प्रसिद्ध है। प्रो० पी० एल० वैद्य कहते हैं कि यदि दिङ्नागसे पहलेके बौद्धन्यायमें अभ्रान्तका विचार (Conception of अभ्रान्त) उपलब्ध हो, तो वह अपना विचार बदलनेके लिए तैयार हैं[1]। सद्भाग्यसे अभ्रान्त शब्द और उसका विचार दिङ्नाग-पूर्वके बौद्धन्यायमें भी मिलता है।

प्रो० टूची (Tucci) ने जर्नल ऑफ रोयल एसियाटिक सोसायटीके १९२९ के जुलाईके अंकमें दिङ्नाग पहलेके बौद्ध-न्यायपर एक विस्तृत निबन्ध प्रकट किया है। उसमें बौद्ध संस्कृत ग्रन्थोंके चीनी और तिब्बती अनुवादोंके आधारपर दिङ्नागके पहले बौद्धोंमें न्यायदर्शन कितना विस्तृत और विकसित था, यह बतानेका समर्थ प्रयत्न किया है। उन्होंने योगाचारभूमिशास्त्र और प्रकरणार्यवाचा नामक ग्रन्थोंके वर्णनमें प्रत्यक्षकी व्याख्या इस प्रकार दी है :

Pratyaksha according to A [i. e. Yogāchāra-Bhūmi shāstra and Prakaranāryavāchā] must be 'aparoksha, unmixed with imagination, nirvikalpa and devoid of error, abhrānta or avyabhichāri.'

अर्थात् 'ए' (योगाचारभूमिशास्त्र और प्रकरणार्यवाचा) के मतानुसार प्रत्यक्ष अपरोक्ष, कल्पनापोढ (निर्विकल्प) और भूल बिनाका (अभ्रान्त या अव्यभिचारी) होना चाहिए। अभ्रान्त अथवा अव्यभिचारी शब्दपरकी टिप्पणीमें प्रो० टूची कहते हैं कि ये दोनों शब्द पर्यायवाची हैं और चीनी एवं तिब्बती शब्दोंका इस तरह दोनों रूपमें अनुवाद हो सकता है। वह स्वयं तो सामान्यतः अभ्रान्त शब्द ही स्वीकार करते हैं[2]। इससे प्रो० टूची ऐसे अनुमानपर आते हैं कि धर्मकीर्तिने प्रत्यक्षकी व्याख्यामें जो अभ्रान्त पद जोड़ा है वह नया नहीं है, परन्तु

---

१. डॉ० पी० एल० वैद्यकी 'न्यायावतार'की प्रस्तावना।

२. ज० रो० ए० सो०, जुलाई १९२९, पृ० ४७० और पादटिप्पणी ४ तथा पृ० ४६४, ४७२ आदि ।

सौत्रान्तिकोंकी पुरानी व्याख्याको स्वीकारकर उसके अनुसार उसने दिङ्नागकी व्याख्यामें[1] सुधार किया है[2]।

योगाचारभूमिशास्त्र असगके गुरु मैत्रेयकी कृति है[3]। असंगका समय ईसाकी चौथी सदीका मध्यभाग माना जाता है[4]। इसका अर्थ यह हुआ कि प्रत्यक्षके लक्षणमें अभ्रान्त शब्दका प्रयोग और अभ्रान्तताका विचार विक्रमकी चौथी-पाँचवी शताब्दी के पहले भी भली भाँति ज्ञात था, अर्थात् यह शब्द सुप्रसिद्ध था। अत सिद्धसेन दिवाकरके न्यायावतारमे आनेवाले मात्र अभ्रान्त पदपरसे उन्हे धर्मकीर्तिके बाद रखनेकी आवश्यकता नही है। सिद्धसेन दिवाकरको मैत्रेयके बाद, किन्तु धर्मकीर्तिसे पहले माननेमे किसी भी प्रकारका अन्तराय नहीं आता।

दूसरी बात प्रो० जेकोबीने कही है, वह यह है कि न्यायावतारके प्रत्यक्ष-लक्षणमे जो स्वार्थ और परार्थका भेद सिद्धसेनने बताया है, वह धर्मकीर्तिके केवल अनुमानके ही स्वार्थ-परार्थ भेदके सामने है। परन्तु यह बात भी ठीक नही है, क्योकि सिद्धसेन-का उक्त विचार सिर्फ धर्मकीर्तिके ही सामने है, ऐसा माननेका तनिक भी आधार नही है। दूसरी तरहसे यदि सिद्धसेन धर्मकीर्तिके पूर्ववर्ती ठहरते हो, तो यह देखना अलबत्ता बाकी रहना है कि तब सिद्धसेनका यह विचार किसके सामने अथवा किसके अनुसार है? वैशेषिक एव न्यायदर्शनमे अनुमानके ही स्वार्थ-परार्थ भेद होनेकी बात धर्मकीर्तिके पूर्ववर्ती 'न्यायमुख' और 'न्यायप्रवेश' जैसे बौद्ध न्यायग्रन्थोमे भी स्पष्ट रूपसे उल्लिखित है। अत सिद्धसेनका कथन धर्मकीर्तिके ही सामने है, ऐसा विधान निराधार ठहरता है।

---

१. दिङ्नाग योगाचार-विज्ञानवादका अनुगामी होनेसे उसकी व्याख्या विज्ञानवादके अनुसार ही है। विज्ञानवादी विज्ञानसे भिन्न बाह्य वस्तुका अस्तित्व नही मानते। उनके मतसे सभी आलम्बन ज्ञान भ्रान्त ही होते है, अतः 'अभ्रान्त' विशेषण आवश्यक नही है। इसीलिए वे प्रत्यक्षके लक्षणमें अभ्रान्त पद नहीं रखते, क्योंकि उनके मतानुसार उस पदका व्यावर्त्य कुछ भी नहीं है। यही कारण है कि 'न्यायमुख' और 'न्यायप्रवेश' गत प्रत्यक्षका लक्षण अभ्रान्त पदसे रहित ही है। देखो प्रो० दलसुखभाई मालवणिया द्वारा सम्पादित 'न्याया-वतारवार्तिकवृत्तिटिप्पण' पृ० २८९ तथा 'धर्मोत्तरप्रदीप'।

२. ज० रो० ए० सो०, जुलाई १९२९, पृ० ४७२।

३. ज० रो० ए० सो०, अक्तूबर १९२९, पृ० ८७०। जुलाईके अंकमें असंगकी कृति लिखा है, परन्तु यह भूल है ऐसा कहकर अक्तूबरके अंकमें सुधार किया है।

४. Keith, Indian Logic and Atomism p. 23.

इसके अतिरिक्त, प्रो० जेकोबीके विचारके विरुद्ध एक विचार आता है और वह यह कि सिद्धसेनने अनुमानके अभ्रान्तत्वका तथा प्रत्यक्षके भी स्वार्थ-परार्थ रूप दो भेदोंका विधान धर्मकीर्तिके सामने किया है, ऐसा थोडी देरके लिए मान लें, तो भी उन्होंने 'न प्रत्यक्षमपि भ्रान्तं प्रमाणत्वविनिश्चयात्' (न्यायावतार श्लोक ६) इत्यादि द्वारा प्रत्यक्षके अभ्रान्तत्वका विधान किसके सामने किया है, यह एक प्रश्न है। धर्मकीर्तिके सामने तो यह विधान है ही नहीं, क्योंकि धर्मकीर्ति तो प्रत्यक्षको अभ्रान्त मानता ही है। अत यह विधान दूसरे किसीके सामने है, यह तो निर्विवाद है। दूसरे किसीसे अभिप्रेत है धर्मकीर्तिसे भिन्न जो प्रत्यक्षमे अभ्रान्तत्व न मानते हो ऐसे बौद्ध विद्वान्, उनके उपलब्ध ग्रन्थोके द्वारा, आज हमारे समक्ष वसुबन्धु, दिङ्नाग और शकरस्वामी हैं। प्रत्यक्षको अभ्रान्त न माननेवाले विद्वान् अर्थात् विज्ञानवादी बौद्ध और प्रत्यक्षको अभ्रान्त विशेषण लगानेवाले अर्थात् सौत्रान्तिक बौद्ध। इससे सामान्यत ऐसा फलित होता है कि सिद्धसेनने सौत्रान्तिक एवं विज्ञानवादी दोनो प्रकारकी बौद्ध तर्क-परम्पराके सामने प्रमाणके विषयमे अपने विधान रखे हैं। धर्मकीर्तिके पहले भी सौत्रान्तिक तर्क-परम्परा थी, यह बात हम पहले कह चुके हैं। अतएव यदि दूसरे प्रमाणोसे सिद्धसेनका धर्मकीर्तिकी अपेक्षा पूर्ववर्तित्व सिद्ध हो सकता हो, तो ऐसा ही कहना चाहिए कि सिद्धसेनने अनुमान और प्रत्यक्षमें जो विधान किये है, वे धर्मकीर्तिके पूर्ववर्ती सौत्रान्तिक और विज्ञानवादी बौद्ध तार्किकोंको लक्ष्यमे रखकर किये है, धर्मकीर्तिको लक्ष्य करके नही।

न्यायावतारका 'आप्तोपज्ञमनुल्लघ्यम्' इत्यादि नवाँ श्लोक रत्नकरण्डक-श्रावकाचारमे आता है। इसपरसे प० जुगलकिशोरजीका ऐसा अनुमान है कि यह श्लोक सिद्धसेन दिवाकरने समन्तभद्रके ग्रन्थमेसे लिया है। उनकी मुख्य दलील इस श्लोकका चालू सन्दर्भमे औचित्य है या नही, इसपर आश्रित है। न्यायावतारमे यह श्लोक उपयुक्त स्थानपर है, ऐसा हमे विषयका बारीकीसे अध्ययन करनेपर लगता है। समन्तभद्र रत्नकरण्डक श्रावकाचारके कर्ता हैं ही नही, ऐसा डॉ० हीरालालजीने सिद्ध किया है। इससे इसका उत्तर देनेकी अब आवश्यकता ही नही रहती। ऐसा एक दूसरा भी श्लोक दोनोंके नामपर चढ़ा हुआ मिलता है[1]।

इस प्रकार इन दोनो विरोधी मतोंका निराकरण हो जाता है। फलतः

---

१. नयास्तव स्यात्पदलाञ्छना इमे रसोपविद्धा इव लोहधातवः।
भवन्त्यभिप्रेतफला यतस्ततो भवन्तमार्याः प्रणता हितैषिणः॥

सिद्धसेन दिवाकरको विक्रमकी चौथी-पाँचवीं शताब्दीमें रखनेमे हमे कोई बाधा नही दिखाई पडती।

सिद्धसेनका वह काल भारतके इतिहासमें गुप्तयुगके नामसे प्रसिद्ध है। यह युग संस्कृत-साहित्य और भाषाके पुनरुत्थानका युग है। सिद्धसेनसे पहलेके जैन ग्रन्थ अधिकाशत: प्राकृतमे थे। दिवाकरकी उपलब्ध कृतियोका बडा हिस्सा संस्कृतमे है। उनके बारेमें जो कथाएँ प्रचलित हैं, उनमे जैन आगमोका सस्कृतमें अनुवाद करनेके उनके प्रयत्नोंका उल्लेख आता है[1]। यह हकीकत इस समयके साथ बराबर ठीक बैठती है। समग्र देशमे सस्कृतका पुनरुत्थान हो और जैन ग्रन्थ प्राकृतमे रहे, यह बात इस ब्राह्मणजातीय जैनभिक्षुको ठीक न लगे, यह स्वाभाविक है, परतु रूढिके आगे दिवाकरका कुछ अधिक चला नही होगा, ऐसा उनके कथानकोंपरसे प्रतीत होता है।

२. जीवन-सामग्री

अपने जीवन-वृत्तान्तके बारेमें दिवाकर सिद्धसेनने स्वय कुछ लिखा हो अथवा इस विषयमे उनके समसमयवर्ती या उनके पीछे तुरन्त ही होनेवाले किसी विद्वान्ने कुछ लिखा हो, तो ऐसा कोई साधन आजतक हमे उपलब्ध नही हुआ है। उनके जीवनके विषयमे जो कुछ थोड़ी या बहुत, अधूरी या पूरी, सन्दिग्ध या निश्चित जानकारी हमे प्राप्त होती है या प्राप्त की जा सकती है, इसके लिए मुख्य तीन साधन हैं: १ प्रबन्ध, २. उल्लेख और ३ उनकी अपनी रचनाएँ।

१. प्रबन्ध—दिवाकरके जीवनका निर्देश करनेवाले पाँच प्रबन्ध इस समय हमारे समक्ष हैं। उनमेसे दो लिखित हैं, जब कि तीन प्रकाशित हो चुके हैं। लिखितमे एक गद्यबद्ध है और दूसरा पद्यबद्ध है। गद्यप्रबन्ध भद्रेश्वरकी 'कथा-वली' मे आया है, जो ग्यारहवी शताब्दीके आसपासका मालूम होता है। पद्य-प्रबन्धका लेखक एव उसका समय अज्ञात है, फिर भी यह तो निश्चित ही है कि वह वि० स० १२९१ से पहले कभी रचा गया होगा, क्योकि १२९१ की लिखी हुई ताडपत्रकी प्रतिमे उसका एक खण्डित उद्धरण मिला है[2]। इन दोनोमे गद्य-

---

इस श्लोकको सन्मतिटीकाकार अभयदेवने (पृ० ७६१) सिद्धसेनका कहा है, तो 'स्याद्वादमजरी' के कर्ता मल्लिषेणने (पृ० २२८) समन्तभद्रका कहा है।

१. देखो आगे आनेवाला 'प्रभावकचरित्रगत प्रबन्धका सार'।

२. ताड़पत्रीय प्रतिके अन्तका उल्लेख इस प्रकार है:-

इति तत्कालकविवादिगजघटापञ्चवक्त्रस्य ब्रह्मचारीतिख्यातविरुदस्य

प्रबन्ध परिमाणमें छोटा है। पद्य-प्रबन्धमे गद्यमें आयी हुई बातें विस्तारपूर्वक कही गयी हैं और कुछ नयी हकीकतें अधिक भी हैं। इन दोनों प्रबन्धोंमें गद्यप्रबन्ध पुराना प्रतीत होता है और ऐसा लगता है कि पद्यप्रबन्धकी रचना सम्भवत इसीके आधार-पर हुई हो। प्रकाशित तीनों प्रबन्ध लगभग ७५ वर्ष[1] जितने समयमें थोड़े-थोड़े अन्तरसे रचित 'प्रभावकचरित्र', 'प्रबन्धचिन्तामणि' और 'चतुर्विंशतिप्रबन्ध' मे आते हैं। समयकी दृष्टिसे 'प्रभावकचरित्र' मे आया हुआ प्रबन्ध लिखित उक्त दोनो प्रबन्धोंकी अपेक्षा अर्वाचीन है, फिर भी उसका महत्त्व विशेष होनेके तीन कारण हैं। पहला यह कि उस प्रबन्धमे आयी हुई कई हकीकते, प्रबन्धके अन्तमें दी गयी सूचनाके अनुसार[2], एक जीर्ण और प्राचीन मठकी प्रशस्तिमेसे ली गयी हैं। दूसरा कारण यह है कि उस प्रबन्धको प्राचीन कवियो द्वारा रचित ग्रन्थोका भी आधार है[3]। तीसरा कारण यह है कि जिस तरह 'प्रभावकचरित्र'गत उस प्रबन्धमें लिखित उक्त दोनो प्रबन्धोंका सार आ जाता है, उसी तरह वही प्रबन्ध 'चतुर्विंशति-प्रबन्ध' मे आये हुए प्रस्तुत प्रबन्धका आधार भी है। इस महत्त्वके कारण 'प्रभावक-चरित्र' मे आये हुए प्रस्तुत प्रबन्धमेसे दिवाकरसे सम्बद्ध भागका सार यहाँपर प्रथम दे देना हमने उचित समझा है। यह सार देनेके पश्चात् अन्य प्रबन्धोमे जो कमी-बेशी या फेरफार होगा, वह भी सूचित किया जायगा। इससे दिवाकरके जीवनसे सम्बद्ध और परम्परासे उल्लिखित सभी बाते दुहराये बिना एक ही स्थान-पर सुलभ होंगी। बादके प्रबन्धोमे पूर्वके प्रबन्धोमेसे कित-कितना आया है और कित-कितना अन्य साधनोसे दाखिल हुआ है, यह भी सहजभावसे ज्ञात हो सकेगा।

प्रभावकचरित्रगत प्रबन्धका सार[4]

विद्याधर नामक आम्नाय—शाखामे और पादलिप्तसूरिके कुल—सन्तानमें अनुयोगधर श्रीस्कन्दिलाचार्य हुए। उनके अवसानके पश्चात् उनके पट्टपर आये हुए श्रीवृद्धवादी नामक शिष्य विहार करते हुए कभी विशाला (उज्जयिनी) में

श्रीबप्पभट्टिसूरेः कथानकं समर्थितम् ॥ छ ॥ छ ॥ संवत् १२९१ वैशाख वदि ११ सोमे पुस्तिका लिखिता ॥ छ ॥ शुभं भवतु ॥ छ ॥ छ ॥

१. इन तीनों प्रबन्धोंका रचना-समय अनुक्रमसे वि० सं० १३३४, १३६१ और १४०५ है। इसके लिए उस-उस ग्रन्थका अन्तभाग देखो।

२. प्रभावकचरित्रगत वृद्धवादिप्रबन्ध श्लो० १७७—८०।

३. प्रभावकचरित्रगत वृद्धवादिप्रबन्ध श्लो० १७७—८०।

४. प्रभावकचरित्रगत वृद्धवादिप्रबन्ध पृ० ९१ से १०३।

आ पहुँचे, जहाँ विक्रमादित्य नामका राजा था। कात्यायनगोत्रीय ब्राह्मण देवर्षि पिता और देवश्री माताका पुत्र विद्वान् सिद्धसेन वृद्धवादीके पास गया। उसने उनकी ख्याति सुनी थी, अत विना परिचयके ही पूछा कि "हे मुनि! आजकल वृद्धवादी यहाँ है कि नही?" मुनिने कहा . "वह मैं स्वय ही हूँ।" यह सुनकर सिद्धसेनने कहा कि "बहुत समयसे वादगोष्ठी करनेका मेरा सकल्प है। उसे आप पूर्ण करें।" सूरिने उत्तरमे कहा कि "हे विद्वन्! तुम अपने मनको सन्तुष्ट करनेके लिए सभामे क्यों नही जाते?" सूरिके ऐसा कहनेपर भी जब उसने वहीं वाद करनेका आग्रह चालू रखा, तब सूरिने पासमे उपस्थित ग्वालोको ही सभ्य बनाया और वादकथा चलानेको कहा। सिद्धसेनने पहले 'सर्वज्ञ नही हैं' ऐसा पूर्वपक्ष करके उसे युक्तिसे स्थापित किया। वृद्धवादीने उपस्थित सभ्य ग्वालोसे पूछा कि "जरा कहो तो सही कि इस विद्वान्‌का कहा हुआ तुम कुछ समझे भी हो?" ग्वालोने कहा कि "पारसियो (फारसी बोलनेवालो) के जैसा अस्पष्ट कथन कैसे समझमे आ सकता है?" यह सुनकर वृद्धवादीने पहले तो ग्वालोसे कहा कि "इस विद्वान्‌का कहना मैं समझा हूँ। वह ऐसा कहते हैं कि 'जिन नही है'। क्या इनका ऐसा कहना सच है? तुम कहो।" इसपर ग्वालोने कहा कि "जैन मन्दिरमे जिनमूर्तिके होनेपर भी 'जिन नही है' ऐसा कहनेवाला यह ब्राह्मण मृषावादी है।"

इतना विनोद करनेके उपरान्त वृद्धवादीने सिद्धसेनके पूर्वपक्षके जवाबमे युक्तिसे सर्वज्ञका अस्तित्व सिद्ध किया। सिद्धसेनने हर्षसे गद्‌गद होकर सूरिसे कहा कि "आप जीत गये। अब मुझे शिष्यके रूपमे स्वीकार करे, क्योकि जीतनेवालेका शिष्य बननेकी मेरी प्रतिज्ञा है।" सूरिने सिद्धसेनको जैनी दीक्षा देकर शिष्य बनाया और कुमुदचन्द्र नाम रखा। कुमुदचन्द्र शीघ्र ही जैन-सिद्धान्तोका पारगामी हो गया। तब गुरुने उसे आचार्यपदपर स्थापित किया और पहलेका ही सिद्धसेन नाम पुन रखा। इसके पश्चात् गुरु सिद्धसेनको गच्छ सौपकर दूसरे स्थानपर विहार कर गये।

एक बार सिद्धसेन बाहर जा रहे थे। उस समय उन्हे विक्रम राजाने देखा और कोई जान न पाये इस तरह उसने उन्हे मनसे प्रणाम किया। सूरि यह बात समझ गये और उन्होंने उस राजाको ऊँची आवाजसे धर्मलाभ दिया। इस चतुराईसे प्रसन्न होकर राजाने सूरिको एक करोड सुवर्ण टक दानमे दिये और खजानचीको यह लिख लेनेके लिए कहा कि "दूरसे ही हाथ ऊँचा करके धर्मलाभ देनेवाले सिद्धसेनसूरिको विक्रमराजाने करोड टंक दिये।" बादमे सिद्धसेनको बुलाकर दान ले जानेके लिए राजाने कहा। जवाबमे सूरिने कहा कि "मैं यह

नहीं ले सकता। आप इसका इच्छानुसार उपयोग करें।" विक्रम समझ गया और उसने वह दान साधारण खातेमें रखकर उसमेंसे सार्धामकोंको मदद दी और चैत्योका उद्धार किया।

एक बार सिद्धसेनने उज्जयिनीसे चित्रकूटकी ओर विहार किया। वहाँ उन्होंने पहाड़की एक ओर एक स्तम्भ देखा। वह स्तम्भ पत्थर, लकडी या मिट्टीका नहीं था। सिद्धसेनको विचार करनेपर ज्ञात हुआ कि वह तो औषधियोंके चूर्णोंसे बनाया गया है। उन्होने बुद्धिबलसे उस स्तम्भके गन्ध, रस एव स्पर्शकी परीक्षा की और अन्तमे उन औषधियोकी विरोधी दूसरी औषधियाँ लाकर और उन्हे घिसकर उस स्तम्भमें एक छेद किया। उसमेसे उन्हे हजारो पुस्तके दिखाई पड़ी। उनमेसे एक पुस्तक लेकर और उसका पहला पन्ना खोलकर उन्होने उसमेंसे पहली पक्ति पढी। उतनेमेंसे सुवर्णसिद्धियोग और सर्षपमत्र (सैन्यसर्जनकी विद्या) ये दो विद्याएँ उन्हे प्राप्त हुईं। सूरि आगे वह पुस्तक आनन्दके साथ पढ ही रहे थे कि उतनेमे शासनदेवीने, योग्यता मालूम न होनेसे, वह पुस्तक उनके पाससे छीन ली।

इसके अनन्तर सूरिने वहाँसे पूर्वदेशके पर्यन्तभाग अर्थात् अन्तिम छोरतक विहार किया और कर्मार नामके एक गाँवमे आ पहुँचे। वहाँ देवपाल नामका एक राजा था। उसने सूरिका स्वागत किया। सूरिने उस राजाको धर्मकथासे प्रतिबोधित किया और अपना सखा बनाया। कभी विजयवर्मा नामके कामरु देशके राजाने उस देवपालपर चढाई की और बडे भारी जगली सैन्यके द्वारा उसे घेर लिया। इससे घबराकर देवपाल राजा सूरिकी शरणमे आया और कहा कि "आप ही अब मेरे लिए शरणरूप है। शत्रुका टिड्डीदल जैसा सैन्य मेरे छोटे-से खजाने और छोटी-सी सेनाका नाश करेगा।" यह सुनकर सूरिने आश्वासन देते हुए कहा कि "हे राजन्! तुम मत डरो। मै इलाज करूँगा।" सूरिने सुवर्णसिद्धियोगसे खूब द्रव्यका और सर्षपविद्यासे बड़े सैन्यका सर्जन किया। उसकी सहायतासे देवपालने अपने शत्रुको पराजित किया। देवपालने मिली हुई सहायतासे प्रसन्न होकर सूरिको 'दिवाकर' पदसे सम्बोधित किया। यह इस आशयसे कि शत्रुभयरूपी अन्धकारको दूर करनेमे सूरिने दिवाकर (सूर्य) का कार्य किया था। तबसे सिद्धसेन 'दिवाकर' उपाधिसे प्रसिद्ध हुए और इस प्रकार 'सिद्धसेन दिवाकर' नाम विशेष प्रख्यात हुआ।

इसके पश्चात् गुरु वृद्धवादीने सुना कि सिद्धसेन तो राजमान्य हुए हैं और राजभक्तिके मोहमे पडकर वह डोली तथा हाथी आदि वाहनोपर सवारी करके राजमन्दिरमे आते-जाते है। इससे उन्हे समझाकर योग्य मार्गपर लानेके लिए

गुरु वेश बदलकर कर्मार नगरमें आये। वहाँ उन्होंने देखा कि सिद्धसेन तो डोलीमें बैठकर जाते हैं और बहुतसे लोग उन्हें घेरे हुए हैं। यह देखकर गुरुने कहा कि "मैं आपकी ख्याति सुनकर यहाँ आया हूँ, अत· मेरा संशय आप दूर करें।" सिद्धसेनने कहा: "भले, खुशीसे पूछो।" बादमे गुरुने विद्वानोंको भी आश्चर्यमें डाल दे ऐसे उच्च स्वरसे कहा कि—

अणफुल्लो फुल्ल म तोडहु मन-आरामा म मोडहु।
मणकुसुमेहिं अच्चि निरजणु हिंडह काइं वणेण वणु॥ १२॥

सोचनेपर भी सिद्धसेनको जब इस अपभ्रंश पद्यका अर्थ समझमें न आया, तब उन्होंने आडा-टेडा उत्तर दिया और कहा कि "तुम दूसरा कुछ पूछो।" परन्तु गुरुने कहा कि "इसीपर पुन· विचार करो और जवाब दो।" सिद्धसेनने अनादरसे इस पद्यका असम्बद्ध और जैसा-तैसा खुलासा किया। परन्तु जब वह खुलासा गुरुने मजूर न किया, तब अन्तमे उन्होंने गुरुसे कहा कि आप ही इस पद्यका अर्थ कहें। गुरुने 'सुनो और सावधान हो जाओ' ऐसा कहकर इस प्रकार इसका अर्थ किया: "जीवनरूपी छोटे कोमल फूलवाली मानवदेहके जीवनांशरूपी फूलोको तू राजसत्कार एव तज्जन्य गर्वके प्रहारसे मत तोड। मनके यम-नियमरूपी आरामों (उद्यानों) को भोग-विलासके द्वारा भग्न न कर—उन्हे नेस्तनाबूद न कर। मनके (सद्‌गुणरूपी) पुष्पोके द्वारा निरजन देवकी पूजा कर। तू ससाररूपी एक वनसे लाभसत्कारजन्य मोहरूपी दूसरे वनमे क्यो भटकता है?"

भूले हुए लोगोको मार्गपर लानेवाले यह और इसके जैसे दूसरे कितने ही अर्थ गुरुने कह सुनाये।

गुरुके इस अर्थकथनसे सिद्धसेनका मन सचेत हुआ और उन्होने सोचा कि मेरे धर्मगुरुके अतिरिक्त दूसरेकी ऐसी शक्ति नही हो सकती। सचमुच ही ये स्वयं मेरे धर्मगुरु ही हैं, ऐसा विचार करके वह गुरुके पैरोमे झुके और कहा कि "दोषवश मैंने आपकी अवज्ञा की है, अत आप क्षमा करे।" यह सुनकर गुरुने कहा कि "मैंने तुझे जैन-सिद्धान्तका सम्पूर्ण पान कराया है। मन्द अग्निवालेको रसपूर्ण भोजनकी भाँति यदि तुझे ही यह सिद्धान्त नही पच सका, तो फिर दूसरे सर्वथा अल्प सत्त्ववाले जीवोकी तो बात ही क्या? तू सन्तोषसे सद्‌ध्यानको पुष्ट करके मेरे दिये हुए शास्त्रोको पचा। स्तम्भमेसे प्राप्त पुस्तकका शासनदेवीने अपहरण किया, सो योग्य ही हुआ है, क्योकि आज उसे पचानेवाले योग्य त्यागी कहाँ है?" गुरुका ऐसा उपदेश सुनकर शिष्य दिवाकरने कहा कि "हे प्रभो! यदि भूलसे शिष्य उल्टे रास्तेपर न जाय, तो प्रायश्चित्तविधायक शास्त्र किस काममे आयेंगे? अतः आप अब प्रायश्चित्त द्वारा मुझे शुद्ध करे।" गुरुने योग्य प्रायश्चित्त देकर

और अन्तमें उन्हें अपने आसनपर बिठाकर स्वर्गकी ओर प्रयाण किया। दिवाकर भी आचार्यपदपर आनेके बाद जैनशासनकी प्रभावना करते हुए पृथ्वीपर विचरने लगे।

बचपनसे ही संस्कृतके अभ्यासी सिद्धसेनने लोगोंके तानों तथा जन्म-स्वभावसे प्राकृत भाषाके अनादरके कारण एक बार जैन प्राकृत सिद्धान्तका संस्कृत भाषामें उल्था करनेका विचार किया और यह विचार उन्होंने सबको कह सुनाया। संघके अगुओंने आवेशमें आकर दिवाकरसे कहा कि "आपके जैसे युगप्रधान आचार्योंको भी प्राकृत भाषाकी ओर अरुचि पैदा हो, तो फिर हम-जैसोंकी तो बात ही क्या? हमने परम्परासे सुना है कि पहले चौदह पूर्व संस्कृतमे थे और इसीलिए वे साधारण बुद्धिवालोंके लिए अगम्य थे। यही कारण है कि समय बीतनेपर वे नष्ट हो गये। इस समय जो ग्यारह अंग हैं, उन्हें सुधर्मस्वामीने बालक, स्त्री, मूढ और मूर्ख लोगोंपर अनुग्रह करनेके लिए प्राकृत भाषामे गूंथा है। ऐसी प्राकृत भाषापर आपका अनादर कैसे योग्य कहा जा सकता है?" अगुओंने आगे चलकर दिवाकरसे यह भी कहा कि "आप प्राकृत आगमका संस्कृतमे उल्था करनेके विचार एवं वचनसे बहुत दूषित हुए हैं। स्थविर (शास्त्रज्ञ वृद्ध विद्वान्) इस दोषका शास्त्र द्वारा प्रायश्चित्त जानते हैं।" स्थविरोंने कहा कि "इस दोषकी शुद्धिके लिए पारांचिक प्रायश्चित्त करना चाहिए। इसमें जैन वेश छुपाकर और गच्छका परित्याग करके बारह वर्षपर्यन्त दुष्कर तप करना पडता है। ऐसे पारांचिक प्रायश्चित्तके बिना ऐसे महान् दोषकी शुद्धि कभी भी नही हो सकती। अलबत्ता, यदि बारह वर्षके भीतर भी शासनकी कोई महान् प्रभावना की जाय, तो अवधि पूर्ण होनेसे पूर्व भी अपने असली पदपर आप लिये जा सकते हैं।" स्थविरोंका यह प्रायश्चित्तविधान सुनकर सरल-स्वभावी दिवाकरने संघसे पूछकर और अपना साधुपद गुप्त रखकर गच्छका परित्याग किया। इस स्थितिमे घूमते हुए उनके सात वर्ष बीत गये। कभी वह उज्जयिनी नगरीमे आये। उन्होने राजमन्दिरके द्वारपर पहुँचकर दरबानसे कहा कि "जा, तू राजाको मेरी ओरसे इस तरह कह कि—

'दिदृक्षुर्भिक्षुरायातो वारितो द्वारि तिष्ठति ।
हस्तन्यस्तचतु:श्लोक: किमागच्छतु गच्छतु' ॥ १२४ ॥

अर्थात् हाथमे चार श्लोक लेकर एक भिक्षु आपके दर्शनकी इच्छासे आया है और द्वारपालों द्वारा रोके जानेसे दरवाजेपर खड़ा है। कहो कि वह आये अथवा जाय?

यह सुनकर गुणपक्षपाती राजाने दिवाकरको बुलाया और दिवाकरने राज-सम्मत आसनपर बैठकर ये चार श्लोक[1] कहे—

"यह अपूर्व धनुर्विद्या तुम कहांसे सीखे, जिसमें मार्गण[2] समूह तो सामने आता है, पर गुण[3] दूसरी दिशाओंमें जाता है ?" [१२६]

"तुम्हारे यशरूपी राजहंसको पीनेके लिए ये सातो समुद्र प्याले जैसे हैं और उसके रहनेका पिंजडा तीन जगत् है।" [१२७]

"विद्वान् 'तुम सर्वदाता हो' ऐसी तुम्हारी जो सदा स्तुति करते हैं, वह मिथ्या है; क्योंकि तुमने शत्रुओंको पीठका दान और परस्त्रियोंको हृदयका दान नहीं किया।" [१२८]

"हे राजन्, जो भय तुम्हारे पास नही है, वह भय ही तुम सर्वदा अनेक शत्रुओंको विधिपूर्वक देते हो, यह एक बडा आश्चर्य है।" [१२९]

इस मतलबके श्लोको द्वारा दिवाकरने राजाकी स्तुति की। इसपर उस राजाने दिवाकरकी स्तुति करके कहा कि "जिस सभामे आप हो वह सभा धन्य है; अत: आप यही रहे।" इस प्रकार राजाके कहनेपर दिवाकर उसके पास रहने लगे। एक बार वह राजाके साथ कुडगेश्वरके मन्दिरमे गये। मन्दिरके दरवाजेसे दिवाकर वापस लौटने लगे, जिसपर राजाने उनसे पूछा कि "आप देवकी अवज्ञा क्यो करते हैं, और नमस्कार क्यों नही करते ?" दिवाकरने कहा कि "हे राजन्! मैं तुम्हे

---

१. अपूर्वेयं धनुर्विद्या भवता शिक्षिता कुतः।
मार्गणौघः समभ्येति गुणो याति दिगन्तरम् ॥ १२६ ॥
अमी पानकुरंकाभाः सप्ताऽपि जलराशयः।
यद्यशोराजहंसस्य पंजरं भुवनत्रयम् ॥ १२७ ॥
सर्वदा सर्वदोऽसीति मिथ्या संस्तूयसे बुधैः।
नारयो लेभिरे पृष्ठं न वक्षः परयोषितः ॥ १२८ ॥
भयमेकमनेकेभ्यः शत्रुभ्यो विधिवत्सदा।
ददासि तच्च ते नास्ति राजन्! चित्रमिदं महत् ॥ १२९ ॥

२. मार्गण अर्थात् बाण और याचक। विरोधपक्षमें मार्गणका अर्थ बाण समझना और उसके परिहारमें याचक समझना।

३. गुण अर्थात् धनुष्यकी डोरी तथा लोकप्रियता आदि गुण। विरोधपक्षमें धनुष्यकी डोरी अर्थ लेना और उसके परिहारमें लोकप्रियता आदि गुण समझना।

सच ही कहता हूँ कि यह देव मेरे नमस्कारको सहन नहीं कर सकेगा। इसीलिए मैं नमस्कार नहीं करता। जो देव मेरे नमस्कारको सह सकते हैं, उन्हें मैं अवश्य नमन करता हूँ।" यह सुनकर कुतूहलवश राजाने कहा कि "चले, आप नमनकरें, क्या होता है वह मैं देखता हूँ।" किसी भी उत्पातका उत्तरदायित्व राजाके ऊपर डालकर दिवाकरने शिवलिंगके सम्मुख बैठ उसकी स्तुति[1] उच्च स्वरसे इस प्रकार शुरू की—

"हे प्रभो! अकेले तुमने जिस तरह तीनो जगत्को यथार्थरूपसे दिखलाया है, उस तरह दूसरे सभी धर्मप्रवर्तकोने नही दिखलाया। एक होनेपर भी चन्द्रमा जिस प्रकार जगत्को प्रकाशित करता है, उस प्रकार क्या सब उगे हुए तारे मिलकर प्रकाशित कर सकते हैं? तेरे वचनसे भी किसी-किसीको बोध नही होता, यही मुझे आश्चर्य लगता है। सूर्यकी किरणें किसे प्रकाशका कारण नही होती? अथवा इसमें आश्चर्य नही है, क्योंकि सूर्यकी प्रकाशमान किरणे स्वभावसे ही कठोर हृदयवाले उल्लूको अन्धकाररूप भासित होती हैं।" [१३९–४२]

इसके पश्चात् 'न्यायावतार', 'वीरस्तुति' और बत्तीस श्लोककी एक ऐसी तीस बत्तीसियाँ तथा 'कल्याणमन्दिर' नामकी ४४ श्लोककी प्रसिद्ध स्तुति उन्होने रची। उनमेंसे 'कल्याणमन्दिर' का ११वाँ श्लोक बोलते ही धरणेन्द्र नामका देव उपस्थित हुआ और उसके प्रभावसे शिवलिंगमेंसे धुआँ निकलने लगा, जिससे दोपहरके समय भी रात जैसा अन्धेरा छा गया। इससे लोग घबरा गये और भागते-भागते जहाँ-तहाँ टकराने लगे। इसके पश्चात् उस शिवलिंगमेंसे अग्निकी ज्वाला निकली और अन्तमे पार्श्वनाथकी प्रतिमा प्रकट हुई। इस घटनासे राजा प्रतिबोधित हुआ और बडे भारी उत्सवके साथ विशाला (उज्जयिनी) मे दिवाकरका प्रवेश कराकर जैन शासनकी प्रभावना की। इस

---

१. प्रकाशितं त्वयैकेन यथा सम्यग् जगत्त्रयम्।
समस्तैरपि नो नाथ परतीर्थाधिपैस्तथा ॥ १३९ ॥
विद्योतयति वा लोकं यथैकोऽपि निशाकरः।
समुद्गतः समग्रोऽपि तथा किं तारकागणः? ॥ १४० ॥
त्वद्वाक्यतोऽपि केषांचिदबोध इति मेऽद्भुतम्।
भानोर्मरीचयः कस्य नाम नाऽऽलोकहेतवः ॥ १४१ ॥
नो वाऽद्भुतमुलूकस्य प्रकृत्या क्लिष्टचेतसः।
स्वच्छा अपि तमस्त्वेन भासन्ते भास्वतः कराः ॥ १४२ ॥

घटनासे संघने दिवाकरके बाकीके पाँच वर्ष क्षमा करके उन्हें गुप्तवासमेंसे सिद्धसेन दिवाकरके रूपमें जाहिर किया। वहाँ शिवलिंगमेंसे कुछ समयतक साँपके फन प्रकट होते रहे, जिन्हें बादमें मिथ्या-दृष्टि लोग पूजते थे।

दिवाकरने एक बार राजासे पूछकर गीतार्थ शिष्योंके साथ दक्षिणकी ओर विहार किया और भडोंच नगरके बाहरके एक ऊँचे भागपर आ पहुँचे। वहाँ नगर एवं गाँवकी गौओंकी सँभाल रखनेवाले ग्वाले धर्म सुननेकी इच्छासे दिवाकरके पास इकट्ठे हुए। उनके आग्रहपर दिवाकरने तुरन्त ही प्राकृत भाषामें उस सभाके योग्य एक रासा बनाकर तालके साथ तालियाँ बजाते-बजाते और गोल घूमते हुए गाकर सुनाया। वह रासा इस प्रकार है :

न वि मारिअइ न वि चोरिअइ,
परदारह सगु निवारिअइ।
थोवाह वि थोव दाअइ,
वसणि दुगु दुगु जाइयइ ॥ १६१ ॥

अर्थात् किसीको मत मारो, चोरी न करो, परस्त्रीका संग छोडो और थोडेमेंसे भी थोडा दान करो, जिससे दुःख जल्दी दूर हो। दिवाकरके वचनसे ज्ञानप्राप्त उन ग्वालोंने वहाँ उनकी स्मृतिके लिए 'तालरासक' नामका एक सम्पन्न गाँव बसाया। दिवाकरने उस गाँवमें मन्दिर बनवाकर ऋषभदेवकी मूर्तिकी स्थापना एवं प्रतिष्ठा की, जिसकी पूजा इस समय भी लोग करते हैं।

इस प्रकार प्रभावना करके दिवाकर भडोंच गये। वहाँ बलमित्रका पुत्र धनंजय राजा था। उसने दिवाकरका बहुमान किया। एक बार उस राजाके ऊपर बहुत-से राजाओंने चढाई की और उसे घेर लिया। राजा धनंजय डरकर दिवाकरकी शरणमें आया। उन्होंने सरसोंके दाने मंत्रित करके तेलके कुप्पेमें डाले। वे सब मनुष्यरूप धारण करके बाहर निकले। उनका सैन्य बनाकर राजाने शत्रुओंका नाश किया। इस तरह सेना बनानेसे दिवाकरका सिद्धसेन नाम सार्थक हुआ। राजा भी अन्तमें दिवाकरके पास दीक्षित हुआ।

इस प्रकार प्रभावना करते-करते दिवाकर दक्षिणापथमें आये हुए प्रतिष्ठान-पुर (पैठन) में जा पहुँचे। यहाँ योग्य शिष्यको अपने पदपर स्थापित करके प्रायोपवेशन (अनशन) पूर्वक मरकर वह स्वर्गवासी हुए।

इसके पश्चात् उस नगरमेंसे कोई वैतालिक (चारण, भाट) विशालामें गया और वहाँ सिद्धश्री नामकी दिवाकरकी साध्वी बहनसे मिला। वहाँ उसने दो पाद

उस साध्वीके समक्ष कहे, जिनका भाव समझकर उस साध्वीने उत्तरार्ध पूरा किया। वह समग्र श्लोक इस प्रकार है—

"स्फुरन्ति वादिखद्योताः साम्प्रतं दक्षिणापथे ।
नूनमस्तंगतो वादी सिद्धसेनो दिवाकरः" ॥ १७५ ॥

अर्थात् इस समय दक्षिणापथमें जुगनू-जैसे वादी चमक रहे हैं। —निश्चय ही वादी सिद्धसेन (रूपी) दिवाकर (सूर्य) अस्त हुआ होगा।

इसके बाद वह साध्वी भी आराधनापूर्वक स्वर्गवासिनी हुई।

पादलिप्तसूरि और वृद्धवादीके विद्याधर वंशका नियामक-प्रमाण यहाँ कहा जाता है—विक्रमादित्यके बाद १५० वर्षपर जाकुटि श्रावकने रेवताचलके शिखरपर स्थित नेमिनाथके मन्दिरका उद्धार किया, तब वर्षाके कारण जीर्णशीर्ण मठकी प्रशस्तिमेंसे यह वृत्त उद्धृत किया गया है। इस तरह प्राचीन कवियों द्वारा रचित शास्त्रमेंसे सुनकर वृद्धवादी और सिद्धसेन दोनोंका चरित यहाँ कहा गया है। वह हर्ष एवं बुद्धिकी वृद्धि करे।

श्रीचन्द्रप्रभसूरिके शिष्य प्रभाचन्द्र हैं। राम पिता और लक्ष्मी माताके पुत्र प्रभाचन्द्र द्वारा रचित पूर्वर्षिके चरित्रमे वृद्धवादी एवं दिवाकर विषयक आठवाँ यह व्याख्यान, जिसे प्रद्युम्नसूरिने जाँचा है, पूरा हुआ।

प्रबन्धोंमें वर्णित घटनाओंमें कमी-बेशी

कथावलीमे आये हुए सिद्धसेन विषयक गद्यप्रबन्धमे मात्र जिन चार बातोंका निर्देश है, वे इस प्रकार हैं . १ प्रणामके बदलेमें राजाको धर्मलाभ और राजा द्वारा दिवाकरको कोटि द्रव्यका अर्पण, २. प्राकृत आगमका सस्कृतमे उल्था करनेका विचार और उसके दण्डस्वरूप सघ द्वारा उनके लिए पारांचिक प्रायश्चित्तका विधान, ३ अज्ञातवेशमे दिवाकर द्वारा कुडगेश्वरकी स्तुति और बत्तीसियों द्वारा उसमेंसे पार्श्वनाथकी प्रतिमाका प्रकट होना, ४ दिवाकरका दक्षिणमे विचरना और वही स्वर्गवासी होना।

पूर्वसूचित खण्डित पद्यप्रबन्धमे गद्यप्रबन्धमे आयी हुई उक्त चार बातोमेंसे तीन बातें तो हैं ही, किन्तु उसमें इनके अतिरिक्त और भी दूसरी तीन बाते है: १. सिद्धसेनका वृद्धवादीके साथ शास्त्रार्थ और उसमें हारकर अन्तमे वृद्धवादीका शिष्य होना, २ किसी आपत्तिग्रस्त राजाको धन एव सैन्य द्वारा सहायता करना और इसके परिणामस्वरूप विजयी उस राजा द्वारा सम्मानित होना; ३. राज-सत्कारके लोभमे पड़ना और अन्तमे गुरु वृद्धवादीके उपदेशसे सावधान होना।

इन छहों बातोंका प्रभावकचरित्रमें उल्लिखित उन-उन बातोंके साथ थोड़ा-सा फेरफार तो है ही, परन्तु उक्त पद्यप्रबन्धकी प्रतिके कुछ पत्रे न होनेसे सिद्धसेनने किस राजाको धन एव सैन्यकी मदद दी थी, यह ज्ञात नही होता। इसके अतिरिक्त सिद्धसेनके स्वर्गवासके स्थानके विषयमे भी उसमें कोई उल्लेख नही देखा जाता।

चतुर्विंशतिप्रबन्धकी रचना प्रभावकचरित्रके आधारपर हुई है, अत. प्रभावकचरित्रमें आयी हुई सिद्धसेन-विषयक सभी बाते चतुर्विशतिप्रबन्धमे लगभग शब्दशः है, फिर भी उसमें प्रभावकचरित्रमें अनुपलब्ध दो बाते और मिलती है · पहली बात है महाकालप्रासादकी उत्पत्तिका दिवाकर द्वारा विक्रम राजाके समक्ष वर्णन और दूसरी बात है ॐकारनगरमे शैवमन्दिरकी स्पर्धाके कारण दिवाकर द्वारा विक्रम राजाके पाससे जैन प्रासादका बनवाना।

अब अन्तिम पाँचवाँ प्रबन्ध ले। यह प्रबन्ध 'प्रबन्धचिन्तामणि' मे आये हुए विक्रमार्कप्रबन्धके अन्तर्गत सिद्धसेनका प्रसग उपस्थित होनेपर प्रसगोपात्त आया है। उसमे आयी हुई वृद्धवादी और सिद्धसेनकी घटना उपर्युक्त चारो प्रबन्धोमे उल्लिखित घटनाओंसे सर्वथा जुदी पड जाती है। जैसे कि—१. प्रभावकचरित्र वृद्धवादीको स्कन्दिलाचार्यका शिष्य कहता है, जब कि प्रबन्धचिन्तामणिका टिप्पण उन्हे आर्य सुहस्तीका शिष्य बतलाता है; २. प्रभावकचरित्र आदिके ऊपरसे सिद्धसेन उज्जयिनीकी तरफके रहनेवाले मालूम होते हैं, जब कि प्रबन्धचिन्तामणि उन्हे दक्षिण कर्णाटकका निवासी कहता है, ३. प्रभावकचरित्र आदि चारों प्रबन्ध स्तुति द्वारा पार्श्वनाथकी प्रतिमाके प्रकट होनेकी बात कहते है, जब कि प्रबन्धचिन्तामणि दिवाकरकी स्तुतिके प्रभावसे शिवलिगमेसे ऋषभदेवकी प्रतिमा प्रकट हुई, ऐसा कहता है, ४. प्रभावकचरित्र आदि चारो प्रबन्धोंमे धर्मलाभके बदलेमें विक्रम द्वारा दिये गये दानका उपयोग चैत्योद्धार आदि कार्योमे किये जानेका उल्लेख है, जब कि प्रबन्धचिन्तामणिका कहना है कि वह दान लोगोका ऋण चुकानेमे प्रयुक्त हुआ था और इसके बाद ही विक्रम राजाने विक्रम सवत् प्रचलित किया था, ५ प्रभावकचरित्र आदिमे सिद्धसेन द्वारा देवपाल राजाको मदद करनेका वर्णन है, जब कि प्रबन्धचिन्तामणिमे वह मदद विक्रमको दी गयी थी ऐसा कथन है, ६. प्रभावकचरित्रमे सघ अथवा स्थविरोंने सिद्धसेनको प्रायश्चित्त दिया था ऐसा कहा गया है, जब कि प्रबन्धचिन्तामणिमे वह प्रायश्चित्त गुरु देते हैं।

इन पाँचो प्रबन्धोमे सिद्धसेनकी कृतियोंके बारेमे जो भिन्न-भिन्न उल्लेख मिलते हैं, उनके विषयमें हम आगे ७वे प्रश्नके उत्तरमे लिखनेवाले हैं।

उक्त पाँच प्रबन्धोंकी कुछ न्यूनाधिकतावाली, कुछ फेरफारवाली और कुछ सर्वथा भिन्न हकीकतोपरसे सिद्धसेनके जीवनके बारेमे संक्षिप्त और अविरोधी सार इस प्रकार निकाला जा सकता है :

१. विद्वत्तामें उत्कृष्टता न होनेपर भी समयसूचकता, गम्भीरता और त्यागके बलपर वृद्धवादीने एकवचनी और महाविद्वान् सिद्धसेनको आकर्षित किया और शिष्य बनाया, २. दक्षिण भारतमे पैठनसे लेकर उत्तर भारतमें उज्जयिनीतकका विहारक्षेत्र, जिसमे भडोंचका एक प्रमुख स्थान है; ३. विक्रमादित्य उपाधि धारण करनेवाले उज्जयिनीके अथवा दूसरे किसी राजाके साथ सिद्धसेनका गाढ सम्बन्ध, जिसमे धर्मप्रचार एव धर्मरक्षाके लिए सिद्धसेन राजाश्रय लेते है, तो शत्रुके भयका निवारण करनेके लिए राजा दिवाकरका आश्रय लेता है; ४. प्राकृत आगमका सस्कृतमें उल्था करनेका सबसे पहले दिवाकरको विचार आना और उसके परिणामस्वरूप रूढिवादी सघकी ओरसे कठोर दु खका सहना, ५. दिवाकरका सस्कृत विषयक पाण्डित्य और उनके द्वारा सस्कृत ग्रन्थोका रचा जाना; ६ दिवाकरका राजसत्कारमे लुब्ध हो साधुधर्ममेसे शिथिल होना और पुन गुरु द्वारा सावधान हो जाना, ७ दक्षिण देशमे दिवाकरका स्वर्गवासी होना।

विचारणीय मुद्दे और उनकी चर्चा

प्रबन्धोके उक्त साराशमेसे विचारणीय एव परीक्षणीय बाते इस प्रकार है :

१ विद्याधर आम्नाय किससे, कब और कहाँसे निकला ?

२ (क) उस गच्छमे होनेवाले आचार्योंमे पादलिप्त और स्कन्दिल आचार्य आते है या नही ? उनका समय कौनसा है ? उन दोनोंके बीच समयका अन्तर कितना है ? (ख) वृद्धवादी स्कन्दिलके शिष्य थे या सुहस्तीके ? (ग) दिवाकर और वृद्धवादीका समय कहाँसे कहाँतक संभव है ?

३ दिवाकरका कात्यायन गोत्र और माता-पिताका जो नाम मिलता है, उसका मूल आधार क्या है ? और दिवाकरकी बहन साध्वी थी ?

४. उनके समयमे चित्रकूटकी स्थिति क्या थी ? और वह चित्रकूट कौन-सा ? ग्वालोके द्वारा बसाया गया तालरासक गाँव कहाँ आया और इस समय उसकी क्या स्थिति है ? कर्मारनगर कहाँ आया ? उसका मूल नाम क्या होगा ? वहाँका राजा देवपाल कौन होगा ? और उसपर चढ़ाई करनेवाला विजयवर्मा राजा कौन था ? इन सबका सिद्धसेनके समयके साथ मेल।

५. दिवाकरको पाराचिक प्रायश्चित्त देनेवाले उनके गुरु ही थे अथवा संघ या स्थविर ? यदि स्थविर हो, तो वे कौन थे ?

६. कुडंगेश्वर और महाकाल एक ही हैं या भिन्न-भिन्न, और इन दोनोंका इतिहास क्या है ?

७. (क) दिवाकरकी कृतियाँ कितनी हैं और वे कौन-कौनसी हैं ? (ख) सन्मतितर्क वृद्धवादीके शिष्य दिवाकर सिद्धसेनकी कृति है या दूसरे किसी सिद्धसेनकी ? सन्मति दिवाकरकी कृति है, ऐसा टीकाकार अभयदेवके अतिरिक्त दूसरे किसीका प्राचीन उल्लेख मिलता है ? (ग) गन्धहस्ती और दिवाकर एक ही हैं या भिन्न-भिन्न ? और गन्धहस्तीका सबसे प्राचीन उल्लेख आचारांगटीकाके सिवा कहाँ है ? (घ) कुमुदचन्द्र दिवाकरका नाम था, इसका क्या आधार ?

८ वृद्धवादी और दिवाकरके समयमें भड़ोच, उज्जयिनी और प्रतिष्ठान-पुरके राज्यकर्ता कौन थे ?

९. भडोंचके पास तालरासक गाँव ग्वालोंने बसाया था और उसमें ऋषभ-देवकी मूर्तिको इस समय भी प्रणाम किया जाता है, ऐसा प्रभावकचरित्रका उल्लेख है। इसकी ऐतिहासिकता जाँचना।

१०. विक्रमादित्यके पश्चात् थोड़े ही समयमें किसी श्रावकके द्वारा गिर-नारमें कुछ उद्धारकृत्य किये जानेका, वहाँके प्राचीन मठमेंसे प्रशस्तिके मिलनेका तथा उस प्रशस्तिमेंसे कुछ वृत्तान्त उद्धृत करनेका जो सूचन प्रभावकचरित्रमें है, उसका सच्चा इतिहास क्या है ? प्रभावकचरित्र तथा प्रबन्धचिन्तामणिकी हकीकतोंका प्राचीनतम आधार क्या है तथा जुदी पड़नेवाली इन दोनो हकीकतोमेंसे सच्ची हकीकत कौनसी है ?

पट्टावलियो, चरित्रात्मक प्रबन्धो और दूसरे स्थानोमें आचार्योंके बारेमें जो तथ्य उपलब्ध होते हैं, वे अपूर्ण और बहुतसे स्थानोपर परस्पर विरुद्ध जाते हैं, अत. वे सम्पूर्ण रूपमें विश्वस्त तो नही है। इसीलिए उनके आधारपर उपर्युक्त विचारणीय बातोका सम्पूर्ण विश्वसनीय स्पष्टीकरण करना इस समय अशक्य है, फिर भी इन हकीकतोके ऊपरसे तथा दूसरे पूर्वापर विचारपरसे हम इस समय उनके बारेमें जो सम्भावनाएँ कर सके है, उन्हीको यहाँ सक्षेपमे उपस्थित करते हैं।

१. वृद्धवादीके गुरु आर्यस्कन्दिल विद्याधरवर आम्नायमें हुए, इतना ही उल्लेख प्रभावकचरित्रमें है। इस उल्लेखमें जिस 'विद्याधरवर आम्नाय' शब्दका प्रयोग किया गया है, वह विद्याधर-गच्छ या विद्याधर-शाखाका बोधक होना चाहिए।

वज्रस्वामीके शिष्य वज्रसेन आदि चार शिष्योंमेंसे विद्याधर नामक शिष्यसे

विद्याधर गच्छके निकलनेका उल्लेख वज्रके[1] प्रबन्धमें प्रभावकचरित्रकारने किया है। आर्यसुहस्तीके शिष्य सुस्थित-सुप्रतिबद्धके पाँच शिष्योंमेंसे विद्याधर-गोपाल नामक शिष्यसे विद्याधरी शाखाके निकलनेका उल्लेख कल्पसूत्रकी स्थविरावली[2] में है। उक्त विद्याधर गच्छ और विद्याधरी शाखा दोनों, उनके प्रवर्तकोंके नाम तथा समयका अन्तर देखनेपर, भिन्न ही हों ऐसा लगता है। प्रचलित परम्पराके अनुसार विद्याधरी शाखाके विक्रमपूर्व प्रथम शतीमें निकलनेकी सम्भावना है, जब कि विद्याधर गच्छ विक्रमकी तीसरी शतीमें निकला होगा, ऐसा सम्भव है। इस तरह उस शाखा और इस गच्छके बीच लगभग तीन सौ वर्ष जितना अन्तर रहता है। इनकी उत्पत्ति किस-किस स्थानमे और किस-किस कारणसे हुई, इस विषयमे तो तनिक भी विश्वस्त जानकारी उपलब्ध नहीं होती। आर्यस्कन्दिल उक्त शाखा या गच्छ दोनोमेसे किसमें हुए, इसके बारेमे भी निश्चय-पूर्वक कहनेके लिए हमारे पास कोई साधन नहीं है, फिर भी प्रभावकचरित्रकारने स्कन्दिलको विद्याधरवर आम्नायमे और पादलिप्तसूरिके कुलमे होनेका वर्णन किया है। यदि यह वर्णन कुछ विश्वास रखने जैसा हो, तो ऐसा कहना चाहिए कि स्कन्दिल विद्याधरगोपालसे निकली हुई विद्याधर शाखामे होने चाहिए, क्योंकि पादलिप्तका जो सम्बन्ध और जो समय[3] माना जाता है, वह वज्रके साथ और बहुत हुआ तो वज्रके शिष्य वज्रसेनके साथ मेल खाता है। अत पादलिप्तके कुलमें होनेवाले स्कन्दिल वज्रसेनके शिष्य विद्याधरसे निकले हुए विद्याधर गच्छमे हुए हैं, ऐसा माननेके बदले उसकी अपेक्षा प्राचीन समयसे चली आती विद्याधरशाखामें ही हुए हैं, ऐसा मानना अधिक सगत होगा। इस विचारणामें भ्रान्ति न हो, तो पहले मुद्देके बारेमे यह फलित होता है कि दिवाकर, वृद्धवादी एव स्कन्दिलके विद्याधरवर आम्नायसे अभिप्रेत है विद्याधर गोपालसे निकली हुई शाखा, न कि वज्रसेनके शिष्य विद्याधरसे निकला हुआ विद्याधर गच्छ।

२ दूसरे मुद्देके तीन अशोको क्रमसे ले। (क) नन्दीसूत्रकी[4] स्थविरा-

---

१. प्रभावकचरित्र श्लो० १९६–८।

२. "थेरेहिंतो णं विज्जाहरगोवालेहिंतो कासवगुत्तेहिंतो एत्थ णं विज्जाहरी साहा निग्गया।"

—कल्पसूत्र मूल पृ० ५५.

३. निर्वाणकलिका प्रस्तावना पृ० १६।

४. गाथा ३३, पृ० ५१।

वलीमें अनुयोगधर स्कन्दिलाचार्यका नाम आता है, परन्तु उसमें गच्छ या शाखाके विषयमें तनिक भी निर्देश नहीं है; जब कि कल्पसूत्रकी स्थविरावलीमें विद्याधरी शाखाका निर्देश तो आता है, किन्तु उसमें स्कन्दिलका कहीं नामतक नहीं है। पादलिप्तका नाम तो उक्त दोनोंमेंसे किसी भी स्थविरावलीमें नहीं आता। अतः पादलिप्त एवं स्कन्दिल दोनों विद्याधर आम्नायमें हुए हैं, इस बातके लिए प्रभावकचरित्रसे अधिक प्राचीन आधार दूसरा कोई नहीं है। पादलिप्तका समय विक्रमकी पहली-दूसरी शताब्दी होगा, ऐसा परम्पराको देखनेपर लगता है और वृद्धवादीके गुरु प्रस्तुत स्कन्दिल यदि अनुयोगधरके रूपमें निर्दिष्ट तथा माथुरी वाचनाके सूत्रधारके रूपमें प्रख्यात स्कन्दिल ही हों, तो उनका समय विक्रमकी चौथी सदीके आसपास समझना चाहिए। अतः पादलिप्त एवं स्कन्दिलके बीच दो सौ वर्षसे कम अन्तर नहीं होगा।

(ख) प्रभावकचरित्र वृद्धवादीको स्कन्दिलका शिष्य और प्रबन्धचिन्तामणि[2]का टिप्पण उन्हें आर्यसुहस्तीका शिष्य कहता है। इनमेंसे प्रभावकचरित्रका ही कथन संगत प्रतीत होता है। सम्प्रतिके धर्मगुरु सुहस्तीके अतिरिक्त दूसरे आर्यसुहस्ती जैन-साहित्यमें प्रसिद्ध नहीं हैं और यह आर्यसुहस्ती विक्रमसे दो सौ वर्ष पहले होनेसे उनके साथ वृद्धवादीके समयका मेल बैठ ही नहीं सकता। ऐसा लगता है कि प्रबन्धचिन्तामणिका कथन महाकाल तीर्थके साथ दिवाकर और सुहस्तीके सम्बन्धकी भ्रान्त परम्परामेंसे शायद उत्पन्न हुआ हो।

(ग) इस विभागसे सम्बद्ध समयका विचार 'समय' शीर्षकके नीचे प्रारम्भमें ही आ गया है।

३ दिवाकरका कात्यायन गोत्र, उनके माता-पिताके नाम और बहनके साध्वी होनेकी बात—इन सबके लिए इस समय प्रभावकचरित्रकी अपेक्षा कोई अधिक पुराना आधार हमारे पास नहीं है।

---

१. मुनि श्री कल्याणविजयजीका 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' में प्रकाशित लेख, पु० १०, अंक ४।

२. प्रबन्धचिन्तामणिमें सिद्धसेनका या वृद्धवादीका कोई खास अलग प्रबन्ध नहीं है, परन्तु विक्रमार्कके प्रबन्धमें उसके साथ जितना सम्बन्ध है, उतना ही सिद्धसेनका उल्लेख है। इसीलिए सम्पादकने सिद्धसेन और उनके गुरु वृद्धवादीका कथानक किसी प्रबन्धान्तरसे लेकर उस प्रबन्धके टिप्पणमें रखा है। उस टिप्पणमें वृद्धवादीको आर्यसुहस्तीका शिष्य कहा है। देखो पृ० १६-२३।

४. इन्हीं दिवाकरके जीवन-वृत्तान्तके साथ संकलित चित्रकूट मेवाड़का इतिहासप्रसिद्ध चित्तौड़ ही अधिक सम्भव है, न कि उत्तर प्रदेशमें आया हुआ रामायणप्रसिद्ध चित्रकूट। इस चित्रकूटकी उनके समयमें क्या स्थिति थी, इसके बारेमें कोई खास इतिहास नहीं मिलता। ग्वालों द्वारा बसाये गये ताळरासक गाँव और गौड़ देशके कर्मारग्राम[1]के विषयमें प्रभावकचरित्रमें जो निर्देश हैं, उनसे अधिक कुछ भी जानकारी उनके विषयमें अबतक नहीं मिली और दिवाकरके समयके साथ जिसका मेल बैठ सके, ऐसा कोई देवपाल अथवा विजयवर्मा अबतक ज्ञात नहीं हुआ।

५. इस मुद्देमें समाविष्ट प्रश्नोंके विषयमें कुछ भी निश्चित रूपसे कहना इस समय सम्भव नहीं है।

६ ऐसा जान पड़ता है कि कुडंगेश्वर और महाकाल[2] ये दोनों नाम एक ही मन्दिर या तीर्थको लक्ष्यमें रखकर प्रयुक्त हुए हैं।[3] आवश्यकचूर्णि जैसे

---

१. भगवान् महावीरके विहारक्षेत्रमें कर्मारग्रामका उल्लेख आता है। वह कर्मारग्राम कुण्डग्रामके पास ही होना चाहिए, क्योंकि मुहूर्त दिन बाकी रहनेपर भगवान् कर्मारग्राममें गये, ऐसा उल्लेख आता है (आचारांग टीका पृ० ३०१ द्वि०)। यह कर्मार और गौड़ देशका कर्मार एक है या भिन्न, यह विचारणीय है।

२. 'तं इयाणि महाकालं जातं लोकेण परिग्गहितं।'

—आवश्यकचूर्णि, उत्तरभाग, पत्र १५७

३. डॉ० काउझे 'विक्रमस्मृति ग्रन्थ' (वि० सं० २००१) में 'जैन-साहित्य और महाकाल-मन्दिर' नामक लेख (पृ० ४०१) में विस्तृत समीक्षाके पश्चात् इस निर्णयपर आयी हैं कि उज्जयिनीमें कुडंगेश्वर और महाकाल ये दो मन्दिर भिन्न-भिन्न थे। कुडंगेश्वर मन्दिर जैन मुनि अवन्तीसुकुमालके मृत्युस्थानपर उनके पुत्रने बनवाया था।

स्कन्दपुराणके अवन्तीखण्डमें कुटुम्बेश्वर महादेवके तीन उल्लेख हैं। (१.१०; १.६७; २.१५) यह मन्दिर आज भी गन्धवती घाटके पास उज्जयिनीके सिंहपुरी नामक भागमें विद्यमान है। मूलमें यही मन्दिर अवन्तीसुकुमाल मुनिका स्मारक-मन्दिर होना चाहिए, परन्तु आसपास श्मशानभूमि एवं निर्जन जंगल होनेके कारण जैनोंने उसकी उपेक्षा की होगी। बादमें जीर्णोद्धार या दूसरे परिवर्तनके समय हिन्दुओंने श्मशानके अधिष्ठाताके रूपमें वहाँ एक लिंगकी स्थापना की होगी। उसका पुनः उद्धार सिद्धसेनने विक्रमादित्य राजा द्वारा

प्राचीन ग्रन्थोंके आधारपर आचार्य हेमचन्द्र[1] आदि जिन-जिन विद्वानोंने इस विषयमें लिखा है, उन्होंने यही कहा है कि कंथारिकाकुडंग स्थानमें अवन्ती-सुकुमाल नामके मुनिकी मृत्यु हुई। इसके बाद उस स्थानमें पिताकी संस्मृतिके लिए उनके पुत्रने एक मन्दिर बँधवाया, जो महाकालके नामसे ख्यात हुआ। इस तरह, जैन ग्रन्थोंके अनुसार महाकाल तीर्थकी उत्पत्ति विक्रमपूर्व दूसरी शताब्दीमें हुए आर्यसुहस्तीके शिष्य अवन्तीसुकुमालकी मरणसमाधिमेंसे हुई है, और उस स्थानको कुडंग अर्थात् झाडीके[2] बीच आनेसे कुडंगेश्वर भी कहा है। वह स्थान सिप्रा नदीके समीप है, ऐसा भी उन ग्रन्थोंमें कथन है।

इस समय जो स्थान महाकालके नामसे प्रसिद्ध है, वह सिप्राके पूर्व किनारे-पर आये हुए पिशाचमुक्तेश्वर घाटके ऊपर आया है। एक समय अवन्तीका

पार्श्वनाथकी प्रतिमाको लिंगमेंसे (लिंगके स्थानमें) स्थापित करके किया होगा। इसके पश्चात् पुनः यह मन्दिर हिन्दुओंके हाथमें गया और वहाँ पुनः लिंगकी स्थापना हुई तथा कुडंगेश्वरके बदले उसका पुराणप्रसिद्ध नाम भी प्रचारमें आया।

बादके जैन लेखकोंने उज्जयिनीके प्रसिद्ध महाकाल-मन्दिरकी उत्पत्ति इस कुडंगेश्वरके जैन मन्दिरमेंसे हुई है ऐसा बताया है, परंतु ये सब उल्लेख बहुत बादके हैं। सिद्धसेन और कालिदास दोनों यदि समुद्रगुप्त एवं उसके पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीयके राज्यकालमें हुए हों, तो सिद्धसेनने जिसका हाल ही में जैनमन्दिरके रूपमें पुनरुद्धार कराया हो, उसमेंसे पुनः थोड़े समयके बाद हिन्दू-मन्दिरके रूपमें परिवर्तित महाकाल मन्दिरका कालिदास (मेघदूत ३५; रघुवंश ६.३२) अतिमान-पूर्वक उल्लेख करे, यह सम्भव नहीं है। इसके अतिरिक्त, गुप्तवंशके राजा 'परम भागवत' थे, अतः अपने कुलदेव जैसे महादेवके मन्दिरको परिवर्तित करके जैन मन्दिर बना दें, यह भी असंभवित है। इसलिए सिद्धसेनने जिस मन्दिरका जैन मन्दिरके रूपमें पुनरुद्धार विक्रमादित्य द्वारा कराया, वह मन्दिर महाकालके मन्दिरसे दूर कोई दूसरा ही मन्दिर होना चाहिए। पहले जैन मन्दिर होनेसे सिद्धसेनके कहनेसे राजाने प्रसन्नतापूर्वक उसका पुनरुद्धार कराया होगा, और यह सम्भव भी है। इसके सिवा, आज भी ये दोनो मन्दिर भिन्न-भिन्न स्थानोंमें विद्यमान हैं। यह घटना भी ये दोनों मन्दिर पहले ही से भिन्न थे, इस बातकी पुष्टि करती है।

१. परिशिष्टपर्व सर्ग ११, श्लोक १५१–७७।

२. कुडंगको वृक्षलतागहनम्। —अमरकोश काण्ड ३, श्लोक १७।

महाकाल तीर्थ बहुत ही प्रसिद्ध था।[1] स्कन्द, मत्स्य और नारसिंह पुराणोंमें उसका वर्णन आता है। महाकवि कालिदासने अपने मेघदूत[2] और रघुवंशमें[3] महाकालप्रासादका अत्यन्त भावपूर्वक निर्देश किया है। मुसलमानकालमें सोमनाथकी भाँति इसका भी विनाश किया गया, किन्तु मराठाकालमें[4] पुनः इसका उद्धार हुआ। इस समय यह ब्राह्मणोंके अधिकारमें है, परन्तु जैन-परम्परा इसे वस्तुतः अपना तीर्थ बताती है। हमारे देशमें पहले ही से ऐसा होता आया है कि किसी विशिष्ट स्थानमें एक धर्मका तीर्थ स्थापित होनेपर दूसरे धर्मके लोग भी वहाँ अपने पैर जमाते हैं और धीरे-धीरे उस एक ही तीर्थपर अथवा उस तीर्थ-स्थानके आसपास जैन, बौद्ध, शैव, वैष्णव आदि पथोके मन्दिर खड़े हो जाते हैं। कई बार तो इन विरोधी पथोका एक ही मन्दिरके ऊपर अधिकार बदलता रहता है। ब्राह्मण ग्रन्थोंमें महाकालकी महत्ताका, जैन ग्रन्थोमे असलमे महाकाल तीर्थ जैन होनेका तथा ह्युएनसगके[5] कथनके अनुसार उसके समयमें अवन्तीमे बौद्ध-धर्मकी आबादी होनेका वर्णन देखनेपर ऐसा ज्ञात होता है कि उज्जयिनीमे महाकाल तीर्थ इतना अधिक प्रतिष्ठित हो गया था कि प्रत्येक सम्प्रदायकी भावना उसके चारो ओर जम गयी थी। जिस तरह अतिप्राचीन कालसे प्रतिष्ठित काशीतीर्थके बारेमे जैन, बौद्ध एव वैदिक सम्प्रदायवालोने अपनी-अपनी भावना स्थिर की है, उसी तरह महाकालके प्रति भी उनकी भावना स्थिर हुई थी। दिवाकरकी स्तुतिके कारण शिवलिंगमेसे जैन मूर्तिके प्रकट होनेका कथन ऐसी ही भावनाका द्योतक है।

७. (क) हमने जिन पाँच प्रबन्धोके विषयमे ऊपर कहा है, उनमेसे सबसे प्राचीन और सक्षिप्त गद्यप्रबन्धमे सिद्धसेनकी कृतियोके बारेमे सिर्फ इतना ही कथन है कि "बत्तीसियो द्वारा स्तुति आरम्भ की और अनुक्रमसे बत्तीसवी[6] बत्तीसी पूर्ण होते ही पार्श्वनाथकी प्रतिमा प्रकट हुई।" यही बात उसके बादके

---

१. देखो, बंगीय विश्वकोशमें 'महाकाल', 'उज्जयिनी' और 'अवन्ती' शब्द।

२. मेघदूत, पूर्वसन्देश, श्लो० ३४।

३. रघुवंश, सर्ग ६, श्लो० ३२।

४-५. देखो, बंगीय विश्वकोशमें 'महाकाल', 'उज्जयिनी' और 'अवन्ती' शब्द।

६. "सिद्धसेणेण पारद्धा बत्तीसियाहिं जिणथुई.......कुडंगेसरत्तीसाओ नीसरती पाससामिपडिमा कमंकमेण य बत्तीसइमबत्तीसियासमत्तीए पडिपुण्णं, तं च दट्ठूण विम्हिओ रायाई लोओ।" —कथावली (लिखित)।

लिखित पद्यप्रबन्धमे[1] भी है। गद्यप्रबन्धमे बत्तीसियोंकी बत्तीस सख्या अर्थात् समझी जाती है, जब कि इसमे तो 'बत्तीस बत्तीसियाँ' ऐसा स्पष्ट निर्देश है। इस पद्यप्रबन्धके पश्चात् रचित प्रभावकचरित्रमे[2] बत्तीस स्तुतियो द्वारा स्तुति करनेका कथन तो है ही, परन्तु इसके अतिरिक्त इन बत्तीस बत्तीसियोंका थोड़ा विवरण भी दिया है। वह इस प्रकार है . एक वीरस्तुति, एक न्यायावतार और तीस बत्तीसियाँ। इन बत्तीस बत्तीसियोके अतिरिक्त ४४ श्लोक-परिमाण 'कल्याणमन्दिर' द्वारा दिवाकरने स्तुति की थी, ऐसा भी उसमे उल्लेख है। इस तरह जिस 'कल्याणमन्दिर' का नाम पहलेके दो लिखित प्रबन्धोमे नही है, वह प्रभावकचरित्रमे दाखिल होता है और शायद इसी कारण इन दो प्रबन्धोमे सिद्धसेनका कुमुदचन्द्र नाम नही है, परन्तु प्रभावकचरित्रमे 'दीक्षा देते समय गुरु वृद्धवादीने सिद्धसेनका कुमुदचन्द्र नाम रखा' ऐसा कथन है। यहाँ पाठकोको याद रखना चाहिए कि कल्याणमन्दिरके अन्तिम पद्यमे[3] भगवान्‌के विशेषणके रूपमे जो 'कुमुदचन्द्र' शब्द आता है, उसे श्लेषात्मक मानकर उसपरसे जैन-परम्पराके विद्वान् सिद्धसेनका दूसरा नाम कुमुदचन्द्र सूचित करते है। प्रबन्धचिन्तामणिमें बत्तीसियोकी सख्या अथवा कल्याणमन्दिरका उल्लेख ही नही है, परन्तु चतुर्विंशति-प्रबन्धमे बत्तीसियोकी बत्तीस सख्या तथा कल्याणमन्दिरका पुन उल्लेख आता है। इस प्रकार पाँचो प्रबन्धोके उल्लेखोको देखनेपर अधिकसे अधिक इतना ही फलित होता है कि बत्तीस बत्तीसियाँ और कल्याणमन्दिर इस तरह कुल तैतीस कृतियाँ दिवाकरकी है।

'न्यायावतार' बत्तीस श्लोक-परिमाण है। प्रभावकचरित्रके कथनानुसार वह भी बत्तीसमेंसे एक बत्तीसी है। सबसे प्राचीन प्रबन्धोमे बत्तीसियोकी बत्तीस

---

१. "तस्सागयस्स तेणं पारद्धा जिणथुई समत्ताहिं।
बत्तीसाहिं बत्तीसियाहि उद्दामसद्देण॥ यथा"

इस गाथाके अनन्तर पृ० २३ के टिप्पण न० १ में उल्लिखित चार श्लोक आते हैं।

"एवं कमंकमेण अतिमबत्तीसियाय पज्जन्ते।
पडिपुन्नगोवगा पयंसिया पासपडिम त्ति॥"

—लिखित पद्यप्रबन्ध

२. देखो पृ० २३।

३. "जननयनकुमुदचन्द्र" इत्यादि।

संख्याका जो निर्देश है उसमें न्यायावतारका समावेश होता है या नहीं, यह जाननेका कोई भी साधन इस समय हमारे पास नहीं है, परन्तु यदि उस बत्तीसकी सख्यामे न्यायावतार न आता हो, तो उसे बत्तीसके अलावा गिननेपर कल्याण-मन्दिरके साथ कुल ३४ सस्कृत रचनाएँ, प्रबन्धोपरसे, दिवाकरकी फलित होती है। इस समय दिवाकरके नामपर चढी हुई २१ बत्तीसियाँ, न्यायावतार एवं कल्याणमन्दिर इस प्रकार कुल तेईस सस्कृत कृतियाँ उपलब्ध है। प्रभावक-चरित्रके कथनानुसार ३३ और न्यायावतारको अलग गिनें तो ३४ कृतियोंमेंसे उपलब्ध २३ कम करनेपर शेष १० अथवा ११ कृतियाँ आज लुप्तप्राय है। वे लुप्त कृतियाँ किस-किस विषयकी थी तथा उनका नाम क्या था, यह भी अज्ञात है। कतिपय प्राचीन एव नवीन ग्रन्थोमें सिद्धसेनके[1] नामके साथ अथवा स्तुतिकार[2] विशेषणके साथ उद्धृत जो पद्य मिलते है, वे यदि इन्ही दिवाकरके हों, तो ऐसी सम्भावना होती है कि वे पद्य लुप्त बत्तीसियोंके होगे।

(ख) उक्त पाँचो ही प्रबन्धोमे उल्लिखित कृतियोमे सन्मतिप्रकरण नही आता। जिन बत्तीसियोमे किसीकी स्तुति ही नही है और जिनमे अन्य दर्शनोंके एव स्वदर्शनके मन्तव्योंका निरूपण तथा समालोचन है, ऐसी बत्तीसियाँ उक्त प्रबन्धोमे स्तुतिरूप मानी गयी और उन्हे दिवाकरकी कृतिके रूपमे उनके जीवन-वृत्तान्तमे स्थान भी मिला, तो फिर स्वदर्शनका निरूपण करनेवाले तथा किसी भी रूपमें बत्तीसियोसे न उतरनेवाले सन्मतिप्रकरणको दिवाकरके जीवन-वृत्तान्तम उनकी कृतिके रूपमें स्थान क्यो नही मिला, यह एक समस्या ही है। ऐसा होनेका कारण शायद यह हो सकता है कि स्तुतिकारके रूपमे दिवाकरका तथा उनकी स्तुतियोका महत्त्व एव चमत्कारिता बतानेके लिए प्रारम्भमे दिवाकरके जीवन-वृत्तान्तमे स्तुत्यात्मक बत्तीसियोको ही स्थान देनेकी आवश्यकता समझी गयी हो, और उसके साथ ही सस्कृत भाषा एव पद्यसख्यामे समानता रखनेवाली किन्तु

---

१. "आचार्यसिद्धसेनोऽप्याह—

'अभिन्नि मादृशां भाज्यमन्यात्मं तु स्वयंदृशाम्।

एकं प्रमाणमर्थैक्यादैक्यं तल्लक्षणैक्यतः॥' प्रमाणद्वात्रिंशिकायाम्"

—तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति अ० १, सू० १०, पृ० ७१

२. "नयास्तव स्यात्पदलाञ्छना इमे।"

—सन्मतिटीका पृ० ७५७, टिप्पण २.

"एवं कल्पितभेदमप्रतिहतं सर्वज्ञतालाञ्छनम्।" इत्यादि

—सन्मतिटीका पृ० ६२०, टिप्पण १.

स्तुत्यात्मक नहीं, ऐसी दूसरी अनेक बत्तीसियाँ उनके जीवन-वृत्तान्तमे स्तुत्यात्मक कृतिके रूपमे ही प्रविष्ट हो गयी हो, और बादमे किसीने यह बात देखी या जाँची ही नही कि तथाकथित बत्तीस अथवा उपलब्ध इक्कीस बत्तीसियोंमे कितनी और कौन-कौनसी स्तुतिरूप हैं तथा कौन-कौनसी स्तुतिरूप नहीं हैं। इसपरसे ऐसा कहा जा सकता है कि सन्मतिप्रकरण यदि बत्तीस श्लोकका होता, तो वह प्राकृत भाषामे होनेपर भी दिवाकरके जीवन-वृत्तान्तमे स्थानप्राप्त संस्कृत बत्तीसियोंके साथ गिने जानेसे शायद ही रह जाता।

इस समय उपलब्ध सस्कृत तेईस कृतियोमे भी सिद्धसेनके नामके उल्लेख-वाली तो केवल दो ही कृतियाँ हैं। इक्कीस बत्तीसियोमेसे पाँचवी और इक्कीसवी बत्तीसीके प्रान्तभागमे[1] श्लेषमे सिद्धसेन शब्द आता है। इन दोके अतिरिक्त दूसरी किसी भी बत्तीसीमे सिद्धसेन पदका निर्देश नही है। कल्याणमन्दिरमे भी सिद्धसेन पद नही है। परम्परा मानती है वह यदि सच हो तो उसमे 'कुमुद-चन्द्र' नाम श्लेषसे सूचित होता है। इसी तरह सन्मतिप्रकरणमे[2] भी सिद्धसेन या कुमुदचन्द्र या दूसरा कोई नाम नही है। इससे यहाँ स्वाभाविक रूपसे ही यह प्रश्न होता है कि बत्तीसियाँ आदि जो कृतियाँ सिद्धसेनके नामपर चढी हुई मानी जाती हैं, वे सब उन्हीकी हैं, ऐसा माननेका क्या आधार है? इसका उत्तर इस समय तो प्रतिभा एव उल्लेख इन दोके आधारपर दिया जा सकता है।

विषय और भाषा भिन्न होनेपर भी उपलब्ध इक्कीस बत्तीसियाँ, न्यायावतार और सन्मति इन सबके पीछे रहा हुआ प्रतिभाका समान तत्त्व ऐसा माननेके लिए प्रेरित करता है कि ये सब कृतियाँ किसी एक ही प्रतिभाके फल हैं। कल्याण-मन्दिरकी भाषा एव कल्पनाका उड्डयन सिद्धसेन दिवाकरके व्यक्तित्वसे तनिक भी उतरे ऐसा नही है, फिर भी यह स्तोत्र सिद्धसेन दिवाकरका होगा, इस बारेमे मतभेद है।[3]

---

१. इति निरुपमयोगसिद्धसेन: प्रबलतमोरिपुनिर्जयेषु वीरः। ५.३१
महाशान्तिभर्ता महासिद्धसेनः। महार्धिधनेशो महाज्ञामहेन्द्रो॥ २१, ३१

२. सन्मतिप्रकरणकी पहली गाथामें पहला शब्द 'सिद्धम्' है। इसका सम्बन्ध क्या कर्ताके नामके साथ हो सकता है?

३. प्रो० जेकोबीका मन्तव्य है कि यह सिद्धसेनकी कृति नहीं है। उनकी मुख्य दलीलें दो हैं। पहली यह कि यदि यह सिद्धसेन द्वारा रचित स्तोत्र होता, तो जैसे वीरस्तुतियोंके अन्तमें सिद्धसेन नाम आता है, वैसे ही इस कल्याणमन्दिरके अन्तमें भी वह नाम आता। दूसरी यह कि इसपर कोई पुरानी टीका नहीं है।

बत्तीसियाँ दिवाकरकी कृति है, इस बातका पुराना उल्लेख इस समय लगभग ग्यारहवीं शती[1] पहलेका हमारे पास नही है, परन्तु सन्मतिप्रकरण दिवाकरका[2] है, ऐसा कहनेवाला प्राचीन उल्लेख आठवी शताब्दीका भी मिलता है। दसवीं शताब्दीके सन्मतिके टीकाकार अभयदेव, जिनके सम्मुख सन्मतिकी दूसरी बहुत-सी टीकाएँ[3] थी, स्वय ही दिवाकरकी कृतिके रूपमे सन्मतिका निर्देश करते है[4]। अभयदेवसे लगभग दो शताब्दी पहले होनेवाले याकिनीसूनु हरिभद्र भी सन्मतिका दिवाकरकी कृतिके रूपमे ही उल्लेख करते हैं। अत: सन्मति वृद्धवादिशिष्यके रूपमे प्रसिद्ध सिद्धसेन दिवाकरकी कृति है, इस विषयमे तो शंका ही नहीं रहती।

(ग) एक ओर प्रसिद्ध स्तुतिकार दिगम्बराचार्य स्वामी समन्तभद्र ही गन्धहस्ती हैं और तत्त्वार्थके ऊपर रचित उनका भाष्य ही गन्धहस्तिमहाभाष्य है, ऐसी मान्यता इस समय दिगम्बर सम्प्रदायमे सामान्यत प्रचलित है, तो दूसरी ओर वृद्धवादिशिष्य दिवाकर ही गन्धहस्ती है और उन्होने तत्त्वार्थके ऊपर व्याख्या लिखी थी, ऐसी मान्यता इस समय श्वेताम्बर परम्परामे प्रचलित है। पहली मान्यता कितनी भ्रान्त है, इसके बारेमे प० जुगलकिशोरजीने अपनी 'स्वामी समन्तभद्र' नामक पुस्तकमे आवश्यक ऊहापोह किया है[5] और दूसरी मान्यताकी भ्रान्तता भी मैंने अपने तत्त्वार्थके विवेचनके परिचयमे[6] सप्रमाण दिखलायी है,

---

इसके सामने दूसरा पक्ष यह रखा जा सकता है कि सिद्धसेनके नामका उल्लेख तो न्यायावतार, दूसरी बत्तीसियो तथा सन्मतितर्कमें भी नहीं है। टीकाके बारेमें हमें जानना चाहिए कि बत्तीसियोंपर टीका लिखी गयी थी, ऐसा अबतक ज्ञात नहीं हुआ है; और कल्याणमन्दिरके ऊपर कोई टीका पहले नहीं लिखी गयी होगी, ऐसा कैसे कहा जा सकता है ? इसके अलावा कल्याणमन्दिरका काव्यत्व देखनेपर ऐसा लगता है कि वह सिद्धसेनकी प्रतिभामेंसे पैदा होना संभव है। आ० हेमचन्द्र द्वारा उनका श्रेष्ठ कविके रूपमें किया गया उल्लेख कल्याणमन्दिरको उनकी कृति माननेपर चरितार्थ भी हो सकता है।

१. देखो पृ० ३३ पर टिप्पण नं० ६ तथा पृ० ३४ पर टिप्पण नं० १।
२. देखो पृ० १ पर हरिभद्रकृत पंचवस्तुगत उल्लेख।
३. सन्मतिवृत्ति पृ० १, श्लो० २।
४. सन्मतिवृत्ति पृ० १ पं० १६-७।
५. स्वामी समन्तभद्र पृ० २१४–२०।
६. गन्धहस्ती, पृ० ३४ से ४० और उनपरके टिप्पण (तत्त्वार्थ हिन्दी)।

फिर भी प्रस्तुत प्रश्नके सम्बन्धमे थोडासा लिखना योग्य प्रतीत होता है। वस्तुतः गन्धहस्ती वृद्धवादिशिष्य दिवाकर नही, किन्तु सिंहसूरके प्रशिष्य और भास्वामीके शिष्य तत्त्वार्थभाष्यकी वृत्तिके रचयिता सिद्धसेन ही हैं। इस मुद्देके साधक प्रमाण इस प्रकार हैं:

(१) प्राचीन या नवीन किसी भी दिवाकरके जीवनविषयक प्रबन्धमे उनके लिए गन्धहस्ती विशेषण प्रयुक्त नही मिलता, जब कि 'दिवाकर' विशेषण मिलता है। दिवाकरकी मानी जानेवाली कृतियोके अथवा कृतिके अशोके साथ सिद्धसेन अथवा दिवाकर पदका उल्लेख बहुतसे स्थानोंपर मिलता है, जब कि उनकी किसी भी निश्चित कृति अथवा उस कृतिके उद्धरणोके साथ गन्धहस्ती पदका उल्लेख अठारहवी शतीके उपाध्याय यशोविजयजीके ग्रन्थोके[1] सिवा किसी भी पूर्ववर्ती लेखकके ग्रन्थमे नही मिलता।

(२) उ० यशोविजयजीके पूर्ववर्ती ग्रन्थोमे गन्धहस्ती पदके साथ मिलनेवाले सभी अवतरण[2] या तो तत्त्वार्थभाष्यपरकी भास्वामिशिष्य सिद्धसेनकी वृत्तिके ही मिलते हैं, या फिर उसके साथ मेल खाते हैं।

उक्त प्रमाणोसे यह निश्चित है कि गन्धहस्ती भास्वामिशिष्य सिद्धसेन गणी हैं। गन्धहस्तीका उल्लेख नवी शताब्दीके शीलाककी आचाराग-टीकासे[3] पुराना अभीतक हमारे देखनेमे नही आया, जब कि सिद्धसेनका उल्लेख सन्मतिके कर्ता सिद्धसेन दिवाकरके रूपमे शीलाकसे कुछ पूर्ववर्ती याकिनीसूनु हरिभद्रके पचवस्तु ग्रन्थमे भी मिलता है।

सिद्धसेन दिवाकरका 'कुमुदचन्द्र' उपनाम था, यह बात हमे प्रभावकचरित्रसे प्राचीन किसी दूसरे ग्रन्थमेसे ज्ञात नही होती। सच या झूठ जब प्रभावकचरित्रकारको ज्ञात हुआ कि कल्याणमन्दिर स्तोत्र सिद्धसेन दिवाकरकी कृति है, तब उन्होने दिवाकरकी कृतियोमे कल्याणमन्दिरको स्थान दिया और सिद्धसेन दिवाकरका कुमुदचन्द्र भी नाम था, ऐसा वर्णन किया। कल्याणमन्दिर सिद्धसेन दिवाकरकी कृति है, यह बात अबतक सर्वथा सन्देहास्पद है, फिर भी थोडी देरके लिए ऐसा मान ले कि वह स्तोत्र दिवाकरका है, तो भी उतने मात्रसे दिवाकरका कुमुदचन्द्र नाम था, ऐसा निश्चयपूर्वक कहनेके लिए कोई भी सबल आधार नही

---

१. तत्त्वार्थसूत्र (हिन्दी-परिचय) पृ० ३६।

२. वही पृ० ३७-३८।

३. आचारांग-टीका पृ० १ तथा ८२ का प्रारम्भ।

है। यदि उनका कुमुदचन्द्र जैसा श्रुतिप्रिय नाम होता, तो किसी-न-किसी प्राचीन ग्रन्थमें, दिवाकरकी भाँति ही, इस श्रुतिप्रिय विशेषणके साथ भी उनकी निश्चित कृतिका अथवा कृतियोंके अवतरणोका उल्लेख अवश्य होता। इससे हमे इस समय तो ऐसा लगता है कि दिवाकरका कुमुदचन्द्र नाम मूलमे नही था।

८, ९ और १० इन तीनों प्रश्नोके बारेमे कुछ भी साधार कहा जा सके, ऐसी सामग्री इस समय प्राप्त न होनेसे उनका विचार स्थगित-सा रहता है।

३. सिद्धसेन और इतर आचार्य

सिद्धसेनके मानसका कुछ परिचय प्राप्त करनेके लिए, उनके युगके बारेमे कुछ सूचन पानेके लिए, उनकी कृतियोमे पूर्वकालीन ग्रन्थोंमेसे कौन-कौनसे अश आये है और उत्तरकालीन ग्रन्थोमे उनकी कृतियोमेसे कौन-कौनसे अश लिये गये है इसका कुछ ख्याल करानेके लिए तथा दार्शनिक प्रदेशमे चर्चित विषय किस-किस तरहसे विकास या सशोधन-परिवर्धन पाते गये है यह जाननेके लिए सिद्धसेनकी दूसरे कतिपय जैन-जैनेतर विद्वानोके साथ यहाँ तुलना करना उचित है। यह तुलना अर्थात् उन-उन आचार्योंके एक या एकाधिक ग्रन्थके साथ सिद्धसेनकी कृतियोकी तुलना। प्रस्तुत तुलना केवल दिशासूचक होनेसे विशेष अभ्यासीके लिए विशेष अवलोकनका मार्ग उन्मुक्त करती है।

उमास्वाति और कुन्दकुन्द

वाचक उमास्वाति और आचार्य कुन्दकुन्द ये दोनो समर्थ विद्वान् है। वाचकश्रीने प्राकृत भाषामे कुछ लिखा हो और आ० कुन्दकुन्दने सस्कृत भाषामे कुछ लिखा हो, तो उसका अभीतक कोई निश्चित प्रमाण मिला नही है। दोनोने आगमिक पदार्थोका निरूपण अपने-अपने ग्रन्थोमे किया है। परतु उमास्वातिकी अपेक्षा कुन्दकुन्दका निरूपण तत्कालीन भिन्न-भिन्न दर्शनोकी विचारधारासे अधिक प्रभावित एव विकसित प्रतीत होता है। विज्ञानवाद-शून्यवाद जैसी बौद्ध परपराका जैसा प्रभाव कुन्दकुन्दके ग्रन्थोमे है, वैसा उमास्वातिके तत्त्वार्थभाष्यमे नही है। साख्य, वैशेषिक आदि दर्शनोकी विचारसरणीका जैसा जैन दृष्टिसे उपयोग कुन्दकुन्दके ग्रन्थोमे देखा जाता है, वैसा उमास्वातिके ग्रन्थोमे नही है। जो लोग आचार्य कुन्दकुन्दको ईसवीकी पहली-दूसरी शताब्दीका समझते है वे अगर तटस्थता और सूक्ष्मतासे कुन्दकुन्दके ग्रन्थोका इतर दर्शनोकी विचार एव परिभाषाकी छायामे तुलनात्मक दृष्टिसे अध्ययन करेगे, तो उन्हे अवश्य स्पष्ट हो जायगा कि आ० कुन्दकुन्द विक्रमकी पाँचवी सदीके पूर्ववर्ती तो किसी तरह नही है। पूज्यपाद

देवनन्दीके सम्मुख उमास्वातिके सूत्र हैं; भाष्य भी है। मैंने सन्मतिके गुजराती सस्करणके समय उपर्युक्त दोनो आचार्योके बारेमे जो कुछ लिखा था, उसका आज तीस वर्षोके बाद यह नया सशोधन है, जो विशेष अध्ययन और चिन्तनके बाद किया जाता है। इस विषयमे गहराईसे सोचनेवालोके लिए प० दलसुख मालवणियाकी विचारणा बहुत सहायक हो सकती है, जो उन्होने न्यायावतारवार्तिकवृत्तिकी प्रस्तावनामे की है।

सिद्धसेन दिवाकरकी रचनाएँ प्राकृत एव सस्कृत उभय भाषामे है और मात्र पद्यबद्ध है। सिद्धसेन दिवाकरने उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्र और भाष्यको देखा हो ऐसा सभवित है, क्योकि उमास्वाति निश्चित रूपसे सिद्धसेनके पूर्ववर्ती है।

उमास्वाति—उमास्वातिके सबधमे सिर्फ इतना ही कहना है कि उन्होने तत्त्वार्थ (१ ६) मे प्रमाण और नयोके द्वारा तत्त्वका अधिगम करनेकी जो सूचना की है और नय (१ ३४–५) का पाँच विभागोमे अपनी दृष्टिसे जो निरूपण किया है, मानो उस सूचनाको स्वीकार करके सिद्धसेनने प्रमाणके निरूपणके लिए न्यायावतार ग्रन्थकी रचना की और नयोके स्वरूपको स्पष्ट करनेके लिए सन्मतिके पूरे दो काण्ड रोके। इस तरह जिस साधनसे वस्तुतत्त्वका अवगम करनेकी सूचना उमास्वातिके द्वारा हुई थी, उस साधनके स्वरूपका ही दार्शनिक दृष्टिसे विवेचन आवश्यक समझकर उक्त दोनो ग्रन्थोकी रचना हुई है।

कुन्दकुन्द—कुन्दकुन्दकी कृतियोकी तुलना मुख्यत चार भागमे विभक्त हो जाती है १ शाब्दिक साम्य, २. शैलीसाम्य, ३ वस्तुसाम्य और ४. सुधार या परिवर्तन।

१ कुन्दकुन्द प्रवचनसार (अ० १, गा० १५-६) मे 'स्वयम्भू' शब्दकी व्याख्या अपने ढगसे करके उस शब्दका प्रयोग स्वसम्मत सर्वज्ञ वीतरागदेवके अर्थमे करते है। सिद्धसेनने भी अपनी पहली ही स्तुतिके प्रथम पद्यमे[1] समन्तभद्रकी भाँति[2] 'स्वयम्भू' शब्दका स्वमान्य देवके अर्थमे ही प्रयोग किया है।

२ पचास्तिकायके अ० १ की गा० १२वी और सन्मतिके काण्ड १ की गा० १२वीका पूर्वार्ध लगभग समान ही है—

पज्जवविजुद दव्व दव्वविजुत्ता य पज्जया णत्थि।—पचास्तिकाय

दव्व पज्जवविउय दव्वविउत्ता य पज्जवा णत्थि।—सन्मति

---

१. 'स्वयम्भुव भूतसहस्रनेत्रम्' इत्यादि।

२. 'स्वयम्भुवा भूतहितेन भूतले' इत्यादि।

'दव्वेण विणा ण गुणा गुणेहि दव्वं विणा ण संभवदि' इत्यादि पंचास्तिकायकी १३वीं गाथाके साथ साम्य रखनेवाला कोई भाग सन्मतिमें नहीं है। इसका कारण यह है कि सन्मतिकारने गुणको पर्यायसे भिन्न नही माना[1]।

३ कुन्दकुन्द प्रवचनसारके अ० १ की गा० ५७-८ मे प्रत्यक्ष एव परोक्ष शब्दकी लोकप्रथाविरुद्ध स्वेष्ट व्याख्या करते हुए दूसरे वादियो द्वारा किये जानेवाले आक्षेपोका जैनाचार्यके रूपमे उत्तर भी देते है। सिद्धसेन भी न्यायावतारके श्लोक ४ मे प्रत्यक्ष एव परोक्ष शब्दकी, जैन दृष्टिसे मेल खाय ऐसी, तार्किक व्याख्या जैन तार्किकके रूपमे सर्वप्रथम करते हैं। किसी भी एकान्त पक्षको स्वीकार करनेमे दोष आता है, इस दोषको स्पष्ट करनेके लिए कुन्दकुन्द (प्रवचनसार अ० १ ४६) और सिद्धसेन (का० १, १७-८) दोनोने ससार एव मोक्षकी अनुपपत्तिकी कल्पनाका एक-सा उपयोग किया है। समन्तभद्रने भी अनेकान्तदृष्टिकी पुष्टिमे यह कल्पना की है (स्वयभू० श्लो० १४)। यह कल्पना आगे जाकर सब आचार्योके लिए साधारण-सी हो गयी है। अनेकान्तदृष्टिका आश्रय लेकर कुन्दकुन्दने समग्र द्रव्यचर्चा प्रवचनसारमे की है, तो सिद्धसेननेसन्मति के तीसरे काण्डमे इसी दृष्टिसे ज्ञेयका स्वरूप स्पष्ट किया है। ऋग्वेद[2] जितने पुराने जमानेसे चले आनेवाले और कालक्रमसे भिन्न-भिन्न अर्थमे समस्याका रूप धारण करके दार्शनिक प्रदेशके कार्यकारणकी चर्चामे प्रविष्ट सत्, असत् शब्द और उनसे सम्बद्ध वाद पचास्तिकाय अ० १, गा० १५–२१ तथा सन्मति काण्ड ३, गा० ५०—२ मे अनेकान्तके रूपमे व्यवस्थित किये गये हैं। दर्शनान्तरके साथ जैनदर्शनके मतभेदका बुनियादी और एक खास मुख्य विषय आत्मस्वरूपका है। आत्माके कर्तृत्व, भोक्तृत्व, अमूर्तत्व और परिमाण आदिके बारेमे जैन दर्शनका विशिष्ट मन्तव्य क्या है, यह पचास्तिकाय (अ० १, गा० २७) में है। इसी तरह सन्मति (का० ३, गा० ५४-५) मे भी आत्मस्वरूपसे सम्बद्ध छ मुद्दे जैन दृष्टिसे निश्चित करके उनकी चर्चा की गयी है। सिद्धसेनके सन्मति (का० २, गा० ३२)-गत श्रद्धा अर्थात् दर्शन और ज्ञानके ऐक्यवादका भास कुन्दकुन्दके समयसार (११३) मे स्पष्ट है। फर्क इतना ही है कि सिद्धसेनने श्रद्धात्मक दर्शन एव ज्ञानके ऐक्यके अतिरिक्त इस ऐक्यको सामान्य बोधरूप दर्शन और ज्ञानके प्रदेशमें

---

१. सन्मति का० ३, गा० ८ से २५।

२. नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमापरो यत्।
—ऋग्वेद, नासदीयसूक्त मं० १०, १२९ तथा छान्दोग्य० ६.२.१।

भी सन्मति का० २ मे बहुत कुशलतासे विस्तारपूर्वक स्थापित किया है। गुण और गुणीके भेद तथा अभेदके विषयमें दर्शनान्तरोंकी मान्यताके सामने जैन दर्शनका क्या मत है, इस बातकी चर्चा अपने-अपने ढगसे कुन्दकुन्दने पचास्तिकाय (अ० १, गा० ४८–५२) में और सिद्धसेनने सन्मति (का० ३, गा० ८–२४) में की है।

कुन्दकुन्दने 'स्वसमय' और 'परसमय' शब्दका अर्थ एकदम आध्यात्मिक दृष्टि-से ऐसा किया है कि जो स्वपर्याय सो स्वसमय और जो परपर्याय—पौद्गलिक पर्याय सो परसमय (प्रवचनसार १ १-२ तथा समयसार १ २), जब कि सिद्धसेनने उस आध्यात्मिक दृष्टिका आश्रय न लेकर अपने युग एव स्वभावके अनुरूप दार्शनिक दृष्टिसे 'स्वसमय' एव 'परसमय' शब्दोका अर्थ किया है। वह कहते है कि स्वसमय अर्थात् स्वदर्शन और परसमय अर्थात् परदर्शन। जितने नयवाद है, उतने ही परसमय है (सन्मति का० ३ गा० ४७ तथा ६७)। उत्तराध्ययन (अ० २८, गा० ५-६) जैसे आगमोमे पर्यायसे गुणका भद स्पष्ट रूपसे माना गया है। यही विचारसरणी उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्र (५ ३७, ४०) मे स्वीकृत की गयी है। आगे जाकर कुन्दकुन्दने (प्रव० १ ८७, २ १, ३, १२) भी उसीका अनुसरण किया है, परन्तु सिद्धसेनने इस विचारसरणीका प्रबल विरोध किया है और आगममेसे ही प्रमाण देकर यह सिद्ध किया है कि गुण एव पर्याय दो भिन्न-भिन्न वस्तुएँ नही है, परन्तु ये दोनो शब्द मात्र एक ही अर्थके बोधक है। सिद्धसेनके इस मन्तव्यसे आगमके मन्तव्यका वास्तविक तात्पर्य तो स्पष्ट हुआ ही है, साथ ही वैशेषिकोके द्रव्यसे गुणके सर्वथा भिन्न होनेके मन्तव्यका भी निरास हुआ है। सिद्धसेनका यह मन्तव्य इतना प्रभावशाली और स्पष्ट है कि अकलक जैसे कुन्दकुन्दके अनुगामियोको भी यह स्वीकार करनेके लिए बाध्य होना पडा और यशोविजयजी जैसे विचारकने भी इसे मजूर रखा।[1]

पूज्यपाद और समन्तभद्र

पूज्यपाद—सिद्धसेनके विचारमे पूज्यपाद देवनन्दीको यहाँ प्रस्तुत किया है वह तुलनाकी नहो, किन्तु दूसरी ही दृष्टिसे। वह दृष्टि अर्थात् पौर्वापर्यकी दृष्टि।

---

१. गुण-पर्याय विषयक प्राचीन परम्परा और उसके विरुद्ध सिद्धसेनकी नयी दृष्टिके बारेमें ब्योरेवार जानकारी सन्मति-वृत्तिके पृ० ६३१ परके ४थे टिप्पणमें दी गयी है।

पूज्यपादने अपने व्याकरणमें तथा सर्वार्थसिद्धिमें सिद्धसेनका उल्लेख किया है, यह हम सिद्धसेनके समयकी विचारणामें (पृ० १०) कह आये हैं। इससे यह सिद्ध है कि आचार्य सिद्धसेन पूज्यपादसे पूर्ववर्ती हैं।

समन्तभद्र—समन्तभद्रके साथ सिद्धसेनकी तुलना दूसरे किसी भी आचार्यके साथकी तुलनाकी अपेक्षा अधिक महत्त्व रखती है। यह महत्त्व पाँच दृष्टिसे है : १. दोनोका पौर्वापर्य देखनेकी दृष्टि, २ दोनोंमेसे किसी एकका दूसरे-पर प्रभाव न पडा हो, तो अन्य किस व्यक्तिका अथवा किस प्रकारके वातावरणका दोनोके ऊपर समान प्रभाव पडा है, यह देखनेकी दृष्टि, ३. दोनोके पाण्डित्य एवं कार्यप्रदेशके तरतमभावके अकनकी दृष्टि; ४ दोनो आचार्योने किस-किस तरहसे जैन दर्शनकी गहराईको स्पष्ट किया है, जैन वाङ्मयमे तर्ककी प्रतिष्ठा की है और आगे जाकर दूसरे जैन आचार्योने इसी पद्धतिका अवलम्बन लेकर कित-कितना विकास साधा है, यह देखनेकी दृष्टि, और ५ देशभेद एव परम्पराभेद होनेपर भी ग्रन्थरचनाके ध्येयमे अर्थात् अनेकान्तदृष्टिके समर्थनमे दोनो आचार्योकी वृत्ति एव भावना एकसी कितनी है, यह देखनेकी दृष्टि।

तुलना करनेसे पूर्व कई खास बाते जानना जरूरी है। जैन परम्परामे आद्य-स्तुतिकारका मान प्रस्तुत दो आचार्योको मिलता है। दिगम्बर परम्परामे समन्तभद्रके पहले और श्वेताम्बर परम्परामे सिद्धसेनके पहले कोई स्तुतिकारके रूपमे ख्यात नही है। दोनोकी सभी कृतियाँ लभ्य है, ऐसा भी नही है। जो लभ्य हैं, उनमेंसे कोई-कोई पद्य अविकल रूपमे और कोई-कोई तनिक परिवर्तनके साथ दोनोकी कृतियोमे मिलता है। न्यायावतारके २८वें और आप्तमीमासाके १०२वे पद्यमे शाब्दिक परिवर्तन बहुत कम है[1]। स्वयम्भूस्तोत्रकी विमलनाथ की स्तुतिमे आया हुआ 'नयास्तव स्यात्पद' इत्यादि पद्य तो सन्मतिके टीकाकार अभयदेवकी दृष्टिमे सिद्धसेनका है[2]। प्रस्तुत दोनो आचार्योकी मुख्य-मुख्य कृतियोके विषय और उनके निर्माणकी शैलीको देखनेपर एक बात स्पष्ट होती है कि दोनो आचार्योका ध्येय समान था। वह ध्येय सक्षेपमे इस प्रकार था : जैन तीर्थंकर ही सर्वज्ञ है,

---

१. प्रमाणस्य फलं साक्षादज्ञानविनिवर्तनम्।
केवलस्य सुखोपेक्षे शेषस्यादानहानधीः ॥—न्यायावतार, २८
उपेक्षा फलमाद्यस्य शेषस्यादानहानधीः।
पूर्वं वाऽज्ञाननाशो वा सर्वस्यास्य स्वगोचरे ॥—आप्तमीमांसा, १०२

२. देखो पृ० १५ पर टि० १।

अतः उनका शासन निर्दोष और पूर्ण होनेसे ग्राह्य है तथा दूसरी दृष्टियाँ तो मात्र उसके अंश है—यह वस्तु छोटे-बड़े प्रकरणो द्वारा तार्किक शैलीसे विद्वानोंके समक्ष स्थापित करना। इस ध्येयको सिद्ध करनेके प्रयत्नमेंसे दोनों आचार्योंने जिन कृतियोंको जन्म दिया, उन्हींमेसे कुछकी संक्षिप्त तुलना नीचे दी जाती है। प्रस्तुत तुलना तीन भागोंमे विभक्त होती है : १ शब्दगत, २. शैलीगत और ३. वस्तुगत। अच्युत, अक्षर, समन्त, विश्वचक्षु आदि अनेक शब्दकी तरफ ध्यान न दे, तो भी तुलनाकी दृष्टिसे दोनोंकी स्तुतियोके कुछ शब्द खास महत्त्व रखते है।

स्वयम्भूस्तोत्र	**बत्तीसी**
स्वयम्भुवा १	स्वयम्भुव १ १
समालीढपद ४१	अनालीढपथ १ १३
जितक्षुल्लकवादिशासन ५	प्रपञ्चितक्षुल्लकतर्कशासनै १ ८
सहस्राक्ष—	भूतसहस्रनेत्रम् १.१
स्वपरावभासकम् ६३	स्वपराभासि (न्याया० १)

महत्त्वके इन शब्दोंमे अधिक महत्त्वका शब्द तो 'स्वयम्भू' है, क्योकि इस शब्दसे ही दोनो स्तुतिकार अपनी-अपनी स्तुतिका आरम्भ करते हैं। इस शब्द-साम्यमे ही समाविष्ट होनेवाला एक-सी शैलीका साम्य अलग नोट करने जैसा है। पहली बत्तीसीके चौथे पद्यमे जो बात सिद्धसेनने कही है, वही दूसरे रूपमे स्वयम्भूस्तोत्रके एक पद्यमे है। जैसे कि—

न काव्यशक्तेर्न परस्परेर्ष्यया न वीरकीर्तिप्रतिबोधनेच्छया।
न केवलं श्राद्धतयैव नूयसे गुणज्ञपूज्योऽसि यतोऽयमादरः॥
—बत्तीसी १.४

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ! विवान्तवैरे।
तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः पुनातु चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः॥५७॥
—स्वयम्भूस्तोत्र

एक ओर स्वयम्भूस्तोत्र और आप्तमीमांसा तथा दूसरी ओर बत्तीसियाँ, न्यायावतार और सन्मतिकी तुलना करनेपर वस्तुगत अत्यन्त साम्य दृष्टिगोचर होता है, फिर भी यहाँ तो बहुत ही संक्षेपमें इसका सूचन किया जाता है—

१. स्वयम्भूस्तोत्र श्लो० ६२ मे नयोको गौण-प्रधानभावसे सामान्यविशेष-मातृक कहकर जो बात सूचित की गयी है, वही बात सभी नय द्रव्यास्तिक एवं

पर्यायास्तिक-प्रकृतिक हैं, ऐसे सन्मति का० १ गा० ४-५ के कथनमे सूचित की गयी है।

२. स्वयम्भूस्तोत्र ११४ मे आगमप्रसिद्ध त्रिपदीके कथनको सर्वज्ञके लक्षणके रूपमें दिखलाया है। यही भाव सन्मति कां० ३ की गाथा ३ मे आनेवाले 'प्रतीत्य-वचन' के निरूपणका है।

३. अनेकान्तवादमे दृष्टान्तका साद्गुण्य और एकान्तवादमे उसका वैगुण्य है, यह बात स्वयम्भूस्तोत्र श्लो० ५४ मे और सन्मति का० ३ गा० ५६ मे एक-जैसी है।

४. प्रत्येक नयकी यथार्थता और अयथार्थता किस-किस तरहसे है, यह बात आप्तमीमासाके श्लो० १०८ मे और सन्मति का० ३ गा० १३-४ मे है।

५. सन्मति का० १ गा० ३६–४१ मे सप्तभंगीवादकी चर्चा सक्षेपसे नय-प्रसगमे आती है। यही वाद व्यापक रूपसे आप्तमीमासाके श्लो० ९ से अन्ततक आता है और उसमे अनक विरोधी माने जानेवाले मन्तव्योका समन्वय अनेकान्त-दृष्टिसे किया गया है।

६ स्वयम्भूस्तोत्रके श्लो० ५२ मे प्रमाण एव नयका स्वरूप दिखलाया है। वैसा स्वरूप न्यायावतारके श्लो० २९ मे व्यक्त किया गया है।

७. सत्-असत्, नित्यत्व-अनित्यत्व, एकत्व-अनेकत्व, सामान्य-विशेष आदि परस्पर विरोधी माने जानेवाले जो पक्ष दार्शनिक प्रदेशमे पहलेसे विवाद खड़े करते आये है, उनका समन्वय समन्तभद्र और सिद्धसेनने अनेकान्तके समर्थनके रूपमे अपनी-अपनी कृतिमे, प्रसग आनेपर, एक-जैसा किया है।

८ कार्य-कारणका, गुण-गुणीका और सामान्य-विशेषका एकान्त भेद या एकान्त अभेद नही है, यह बात आप्तमीमासाके श्लो० ६१–७२ मे तथा सन्मतिके तीसरे काण्डमे समान रूपसे, और फिर भी अपने-अपने विशिष्ट ढगसे, दोनो आचार्योंने स्थापित की है।

९ हेतुवाद और आगमवादका पृथक्करण तथा समन्वय आप्तमीमासाके श्लो० ७५–८ मे तथा सन्मतिके का० ३, गा० ४५ मे है।

१० शब्द भिन्न होनेपर भी अनेकान्तकी व्यापकता समान रूपसे स्वयम्भू-स्तोत्रके श्लो० १०१ मे और सन्मतिके का० ३ गा० २७ मे दिखलायी गयी है।

११. आप्तमीमासा श्लो० ८८–९१ मे दैव और पौरुष इन दो ही कारण-वादोंका समन्वय है, जब कि सन्मतिके का० ३ गा० ५३ मे पाँच कारणैकान्त-वादका समन्वय है।

१२. आप्तमीमांसाके श्लो० २४–७ मे और सन्मतिके का० ३ गा० ४८ में अद्वैतमतका कथन आता है, फिर भी इन दोनोंमें अन्तर यह है कि पहलेमे अद्वैत शब्दका उल्लेख है, पर वह अद्वैत किसका और कौनसा इसका कोई निर्देश नही है, किन्तु श्लो० २५ गत 'विद्याविद्याद्वय न स्यात्' के आधारपर ऐसा कहा जा सकता है कि वह अद्वैत वेदान्तसम्मत है, जब कि दूसरेम अद्वैत शब्दका निर्देश नही है, परन्तु कापिलदर्शनका द्रव्यास्तिकके मुख्य आधारके रूपमे निर्देश होनेसे उसमे वेदान्तसम्मत अद्वैत नही है।

इन सबके अतिरिक्त खास ध्यान देने जैसी बात तो यह है कि आप्तमीमासामे आप्त अर्थात् सर्वज्ञका निरूपण करते समय उसके वचनका स्वरूप अनेकान्तरूप कहा गया है, और सन्मतिमे भी जिन अर्थात् सर्वज्ञके शासनको ही सर्वश्रेष्ठ मानकर उसका निरूपण करते समय अनेकान्तकी ही चर्चा की गयी है। भारतीय दर्शनोमे शास्त्रका प्रामाण्य एक प्रधान और रसिक चर्चाका विषय है। जो शास्त्र अनादि और अपौरुषेय अर्थात् किसीके द्वारा रचा न गया हो, वह प्रमाण—ऐसा एक पक्ष परापूर्वसे चला आता था, जो कि इस समय जैमिनीय मतके नामसे प्रसिद्ध है। इसके विरुद्ध वैशेषिक-नैयायिक आदिका दूसरा पक्ष था। उसका कहना था कि शास्त्रका प्रामाण्य उसके अनादित्व अर्थात् नित्यत्वके कारण नही है, परन्तु वक्ताके प्रामाण्यपर आश्रित है। ऐसा प्रमाणभूत पूर्ण वक्ता ईश्वरके अतिरिक्त दूसरा कोई नही हो सकता, अत ईश्वरप्रणीतत्वके कारण ही उस शास्त्रका प्रामाण्य है। इन दोनो पक्षोको शास्त्र तो एक अर्थात् श्रुति ही प्रमाणके रूपमे मान्य था, केवल उसके प्रामाण्यके कारणमे ही दोनोमे मतभेद था। दूसरे पक्षकी विशेषता यह है कि उसने ईश्वरप्रणीतत्व स्वीकार करके शास्त्रमे मान्य अनादित्व अपने ढगसे सुरक्षित रखा और साथ ही अपौरुषेयत्ववादके सामने पौरुषेयत्ववादका बीज भी दाखिल किया।

इन दोनो पक्षोके सामने एक तीसरा बुद्धिगम्य वाद आया। उसने कहा कि शास्त्रका प्रामाण्य मान्य है, वह वक्ताके प्रामाण्यके अधीन है यह बात भी स्वीकार्य है, परन्तु वक्ता मुखवाला और बोलनेवाला शरीरी मनुष्य ही हो सकता है। इस वादमेसे दो बाते फलित हुई एक यह कि पहलेके दो पक्षोको जो अमुक ही निश्चित शास्त्र अर्थात् आम्नायका प्रामाण्य मान्य था, उसके स्थानपर आप्तोक्त सभी वचनोका प्रामाण्य मानना चाहिए, और दूसरी यह कि जो मनुष्य शुद्ध बुद्ध हो, वे सभी ईश्वर जैसे पूर्ण होनेसे ईश्वर माने जाने चाहिए। यह तीसरा वाद सबसे पहले किसने उपस्थित किया, यह कहना कठिन है, फिर भी इतना तो कहा जा सकता है कि भगवान् महावीर और बुद्धके युगका इस वादकी उपस्थितिमे

काफी बडा हिस्सा है। इस वादके कारण अनेक सम्प्रदाय, जैसे कि सांख्य, आजीवक आदि, अपने-अपने मान्य प्रवर्तकको पूर्ण आप्त मानकर उन्हींके वचनको एकमात्र शास्त्ररूप मानने लगे। जैन सम्प्रदायको भी यह मान्यता अभिमत है, अत वह अपने प्रवर्तक तीर्थंकरोंको ही मुख्य आप्त मानकर उनके वचनको मुख्य प्रमाणके रूपमे स्वीकार करता है, और उसके अतिरिक्त अन्य शास्त्रोंको मुख्य प्रमाणरूप नही मानता। यह बात स्पष्ट करनेके लिए तथा सर्वज्ञके द्वारा कथित शास्त्रका स्वरूप दिखलानेके लिए ही सन्मति और आप्तमीमासाकी रचना हुई है।

यहाँ सिद्धसेन और समन्तभद्रके पौर्वापर्य या समय विषयक प्रश्नकी भी संक्षेपमें चर्चा कर लेनी चाहिए। सन्मतिकी गुजराती आवृत्ति (ई० १९३२) मे सिद्धसेनका समय विक्रमकी पाँचवी शती माना था। इसके पश्चात् इस विषयमें पक्ष-प्रतिपक्षरूपसे काफी चर्चा हुई है। मैंने भी भिन्न-भिन्न प्रसंगपर इस विषयमें अपने विचार उपस्थित किये ही हैं।[1] परन्तु अब मैं उसी पुराने निश्चयपर आया हूँ कि सिद्धसेन विक्रमकी चौथी शतीके उत्तरार्ध और शायद पाँचवी शतीके प्रारम्भतक रहे हैं। इस विषयमे स्पष्ट प्रकाश डालनेवाला प० श्री दलसुखभाई मालवणियाका वक्तव्य खास पठनीय है, जो न्यायावतारवार्तिककी प्रस्तावना (पृ० १४१) मे है।

अब रहे स्वामी समन्तभद्र। मैंने अकलकग्रन्थत्रय तथा न्यायकुमुदचन्द्र (भाग २) के प्राक्कथनोमे उनको धर्मकीर्तिके उत्तरकालीन स्थापित किया है। इस विचारके परिवर्तनका कोई भी प्रबल कारण अभीतक मुझे उपलब्ध नही हुआ है, प्रत्युत इस विचारके समर्थक अनेक प्रमाण उत्तरोत्तर अधिक मिल रहे हैं।

यहाँ प्रश्न होता है कि पूज्यपादने अपने व्याकरणमे 'चतुष्टय समन्तभद्रस्य' ऐसा उल्लेख किया है, तो समन्तभद्र पूज्यपादके पश्चात् कैसे हो सकते हैं ? परन्तु समन्तभद्रके व्याकरणविषयक ग्रन्थका कोई सुनिश्चित प्रमाण प्राप्त नही है, और उनकी विद्यमान कृतियोमे 'चतुष्टय' की समर्थक कोई सामग्री उपलब्ध नही होती। ऐसी स्थितिमे अधिक सम्भव यही है कि पूज्यपादका निर्देश चन्द्र-

---

१. 'अकलंकग्रन्थत्रय' तथा 'न्यायकुमुदचन्द्र' भा० २ के प्राक्कथन तथा 'भारतीय विद्या', वर्ष ३, पृ० १५२ एवं 'दर्शन और चिन्तन' पृ० ४६९—७५, ४७७।

कीर्तिकर्तृक बौद्ध समन्तभद्र-व्याकरणको लक्ष्यमे रखकर हो। इस समन्तभद्र नामक व्याकरणका इतिहास बुदोनने अपने बौद्ध इतिहासमे दिया है। यदि समन्तभद्रकर्तृक या समन्तभद्र नामक कोई जैन व्याकरण अस्तित्वमे होता, तो उसका सूचन शाकटायन और हेमचन्द्र जैसे वैयाकरणोके मूल ग्रन्थ अथवा न्यासादिमें आये बिना शायद ही रहता।

वयोवृद्ध प० जुगलकिशोरजीने 'अनेकान्त' पत्रिकाका सन्मति सिद्धसेनाक (ई० १९४९) प्रकाशित करके उसमे उन्होने सन्मति, द्वात्रिंशिकाएँ और न्यायावतार इन तीनोके कर्तारूपसे एक सिद्धसेनके स्थानमे तीन भिन्न-भिन्न सिद्धसेनोकी कल्पना की है और सन्मतितर्कके प्रणेतारूपसे अभिप्रेत सिद्धसेनको दिगम्बर परम्पराका बतलाया है। अपने मतकी स्थापनामे बाधक हो सके, ऐसे जो-जो वाक्य उन्हे द्वात्रिंशिकाओमे दिखायी दिये, वहाँ सर्वत्र उन्होने एक ही सरल युक्तिका आश्रय लिया है। वह सरल युक्ति इतनी ही है कि उस-उस द्वात्रिंशिकाके रचयिता सिद्धसेन भिन्न है। परन्तु उनकी विचारसरणी मुझे अभीतक ग्राह्य हुई नही है। उक्त सिद्धसेनाकमे अन्य भी कई आपत्तिजनक बाते है। उनका विचार मैने 'सपूर्ति' मे आगे किया है।

वट्टकेर—मूलाचार

दिगम्बराचार्य वट्टकेरकी कृति माने जानेवाले 'मूलाचार' ग्रन्थका सूक्ष्म अभ्यास करनेके पश्चात् हमे निश्चय हो गया है कि वह कोई मौलिक ग्रन्थ नही है, परन्तु एक सग्रह है। वट्टकेरने सन्मतिमेसे चार गाथाएँ (२ ४०–३) मूलाचारके समयसाराधिकार (१० ८७–९०) मे ली है। इससे हम इतना कह सकते है कि यह ग्रन्थ सिद्धसेनके बाद सकलित हुआ है। इसके अलावा मूलाचारमे अनेक गाथाएँ अन्तिम भद्रबाहु द्वारा सकलित निर्युक्तिसग्रहमेसे भी ली गयी है। इससे वट्टकेर विक्रमकी छठी सदीके बादके जान पडते है।

मल्लवादी और जिनभद्र

मल्लवादी—कथावली और प्रभावकचरित्र आदि प्रबन्धोमे जो मल्लवादी निर्दिष्ट है, जिनका बौद्धवादिविजयका समय[1] वि० स० ४१४ का दिया गया है और जो द्वादशारनयचक्र[2] ग्रन्थके प्रणेता तथा बौद्ध-विजेता महान् वादीके रूपमे प्रसिद्ध है, वही मल्लवादी यहाँ प्रस्तुत है।

---

१. प्रभावकचरित्र पृ० ७४, श्लो० ८३।

२. प्रभावकचरित्र, मल्लवादिप्रबन्ध, श्लो० ३४।

आ० हेमचन्द्रने 'अनुमल्लवादिनं तार्किका.' (सिद्धहेम० २.२ ३९) कहकर जिनका श्रेष्ठ वादीके रूपमें सूचन किया है और सन्मतिके टीकाकार अभयदेवने पृ० ६०८ पर युगपदुपयोगवादके पुरस्कर्ताके रूपमें जिनका निर्देश किया है, वह मल्लवादी ही प्रस्तुत मल्लवादी हो, ऐसा अधिक सम्भव है। उनका नयचक्र ग्रन्थ अविकल रूपसे उपलब्ध नही है, अत. अन्त:परीक्षण द्वारा उक्त बातोके बारेमे अधिक निश्चयपूर्वक कहना इस समय शक्य नही है। आ० हरिभद्रने अनेकान्त-जयपताकामें और उ० यशोविजयजीने अष्टसहस्रीकी टीकामे सन्मतिके टीका-कारके रूपमें जिन मल्लवादीका सूचन किया है[1], वह मल्लवादी प्रस्तुत मल्लवादी होने चाहिए, ऐसी सम्भावना रहती है और परम्परा भी ऐसी ही है। उनकी यह टीका इस समय उपलब्ध नहीं है, परन्तु बृहट्टिप्पणीकारने उस टीकाका परि-माण सात सौ श्लोकका बताया है। प्रबन्धोमें मल्लवादीके बौद्धवादिविजयका जो समय निर्दिष्ट है, उसकी यथार्थतामे मुनि श्री जम्बूविजयजीके सशोधनके पश्चात् अब सन्देह नही रहता। वही मल्लवादी सन्मतिके टीकाकार हो, तो सिद्धसेनके समयके साथ उनके समयका मेल बिठानेमे कोई बाधा उपस्थित नही होती। सिद्धसेन और मल्लवादी दोनो समकालीन होगे और एकने दूसरेके ग्रन्थपर उनकी विद्यमानतामे ही टीका लिखी होगी। कदाचित् दोनोके बीच दूसरा कोई सम्बन्ध न हो, तो अन्तमे विद्याविषयक गुरु-शिष्यभाव सम्बन्ध भी हो। इससे अधिक कल्पना करनेका यह स्थान नही है।

धर्मकीर्तिके न्यायबिन्दुपरकी धर्मोत्तरकी टीकाके ऊपर टिप्पण लिखने-वाले जो मल्लवादी है, वह प्रस्तुत मल्लवादीसे भिन्न और उनसे अर्वाचीन हैं तथा जैन हैं। उनका टिप्पण अभीतक मुद्रित नही हुआ। मल्लवादीके नामसे प्रकाशित टिप्पण उनका नही है। उनका समय ई० ७००–७५० है।[2]

जिनभद्र—जैन परपरामे जो जिनभद्र भाष्यकार एव क्षमाश्रमणके नामसे प्रसिद्ध हैं और जिनका हेमचन्द्रने श्रेष्ठ व्याख्याताके रूपमे (सिद्धहेम० २ २ ३९) निर्देश किया है, वही कथावली आदिके प्रबन्धोमे आनेवाले जिनभद्र यहाँ प्रस्तुत हैं। सिद्धसेन प्रस्तुत जिनभद्रके पूर्ववर्ती है—इस परम्परागत बातके सच्ची होनेके बारेमे पहले कहा जा चुका है। जिनभद्रकी उपलब्ध कतिपय कृतियोंमेंसे मुख्य एव प्रसिद्ध 'विशेषणवती' और 'विशेषावश्यकभाष्य' इन दो कृतियोके साथ

---

१. देखो पृ० ८ पर टि० २।

२. देखो धर्मोत्तरप्रदीपकी प्रस्तावना पृ० २८, ३१, ५४, ५७।

सन्मतिकी तुलना यहाँ संक्षेपमें की जाती है। प्रस्तुत दोनों आचार्योंके पौर्वापर्यका विचार करनेमें और दूसरी भी बहुतसी बातोंमें यह तुलना अभ्यासीको खास उपयोगी सिद्ध होगी। तुलना संक्षेपमें तीन भागोंमें विभक्त की जाती है: १. अविकल अथवा तनिक परिवर्तनवाली गाथाएँ, २. पद, वाक्य एवं विचारकी समानता, और ३ वादिप्रतिवादिभाव।

१ सन्मति का० ३ की 'नत्थि पुढवी विसिट्ठो' आदि गा० ५२ और 'दोहिं वि नएहिं नीय' आदि गा० ४९ तनिक भी फेरफारके बिना अविकलरूपमें विशेषावश्यकभाष्यके क्रमांक २१०४ और २१९५ पर अनुक्रमसे आयी हैं। भाष्यके टीकाकार ये दो गाथाएँ असलमें भाष्यकी ही हैं या अन्य स्थानसे उद्धृत हैं, इसके बारेमें कुछ भी सूचन या विचार नहीं करते। वह इन गाथाओंको भाष्यकी समझकर व्याख्या करते हों, ऐसा प्रतीत होता है, परन्तु बारीकीसे देखनेपर ज्ञात होता है कि भाष्यकारने अपने कथनकी पुष्टिमें इन गाथाओंको कहींसे लेकर उद्धृत किया है। एक बार मूलमें समर्थकके रूपमें प्रविष्ट पद्य पीछेसे मूलके ही हों, ऐसा माननेका इतिहास, खास करके पद्यबन्ध कृतियोंमें, बहुत मिलता है।[1] ये दो गाथाएँ असलमें सन्मतिकी होनी चाहिए, ऐसी सम्भावनाके लिए यहाँ दो दलीलें मुख्य हैं। पहली यह कि सन्मतिके अलावा दूसरे किसी भी ग्रन्थमें ये दो गाथाएँ अभीतक देखनेमें नहीं आयीं, और दूसरी यह कि सन्मतिमें ये दोनों गाथाएँ बराबर मेल खाती हैं और प्रकरणप्राप्त हैं, जब कि विशेषावश्यकमें ऐसा नहीं है, क्योंकि इन दो गाथाओंमें जो बातें कही गयी हैं, वे इन गाथाओंके पूर्वकी गाथाओं अर्थात् अनुक्रमसे २१०३ और २१९४ में आ जाती हैं। प्रस्तुत दो गाथाओंको सांवादिक और अन्य ग्रन्थसे उद्धृत न माना जाय, तो भाष्यमें पुनरुक्ति होती है,[2] जब कि सन्मतिमें वैसा नहीं है।

---

१. शास्त्रवार्तासमुच्चयके तीसरे स्तबकमें दूसरा और तीसरा श्लोक अन्यकर्तृक हैं, परन्तु अपरीक्षक पाठकको वे मूलके मालूम हो सकते हैं।

तत्त्वसंग्रहमें ९१२–४ तककी कारिकाएँ भामहकी हैं और उनके बादकी कई कारिकाएँ कुमारिल भट्टकी हैं, परन्तु मूलको देखनेवाला उन्हें मूलकी ही मान लेगा।

२ कारणद्वारगत द्रव्यकारणके विचारके प्रसंगमें भाष्यमें (२०९८ से २११८) जो २१ गाथाएँ हैं, उनमेंसे २१०३ तक तद्द्रव्यकारण और अन्यद्रव्यकारणके विचारका उपसंहार हो जाता है और २१०५वीं गाथासे निमित्त एवं नैमित्तिक कारणका विचार शुरू होता है। उपसंहार और इस विचारके बीच जो यह २१०४वीं गाथा है, उसका बराबर मेल नहीं बैठता। इसके अतिरिक्त

'कापिलदर्शनमात्र द्रव्यास्तिकनयावलम्बी और सौगतदर्शनमात्र पर्यायास्तिक-नयावलम्बी होनेसे परसमय हैं'—सन्मति का० ३, गा० ४८ के ऐसे कथनके बाद सीधा ही सवाल होता है कि तब द्रव्यास्तिक एव पर्यायास्तिक उभयनयावलम्बी कणाददर्शनको स्वसमय अर्थात् सम्यग्दृष्टि मानना चाहिए या नही? इसका उत्तर यह 'दोहिं वि नएहिं' गाथा ही देती है। यदि यह गाथा न हो, तो सन्मतिमें किया गया नयवादमे परसमयका विचार अधूरा ही रहता है। अत. उस स्थानमे यह गाथा बराबर उपयुक्त है और इसीलिए मौलिक लगती है। विशेषावश्यक-भाष्यमें उक्त प्रश्नका उत्तर २१९४वी गाथामे स्पष्ट रूपसे तथा कणादके नामके साथ आ जाता है। इसी भाँति सत्वाद और असत्वादके अपेक्षाकृत समन्वयके प्रसगमे 'नत्थि पुढवी विसिट्ठो' गाथा सन्मतिमें बराबर मेल खाती है, जब कि भाष्यमें ऐसा नही है।

कमोबेश परिवर्तनवाली या रचनाके व्यत्ययवाली सन्मतिकी कई गाथाएँ विशेषावश्यकभाष्यमें खोजी जा सकती हैं, परन्तु यहाँ तो हम उदाहरणस्वरूप एक ही गाथा उद्धृत करेंगे। वह है—

जावइया वयणवहा तावइया चेव होंति णयवाया।
जावइया णयवाया तावइया चेव परसमया॥ ३.४७॥

सन्मतिगत यह गाथा विशेषावश्यकभाष्यमे गाथा क्रमाक २२६५ पर इस प्रकार फेरफारके साथ देखी जाती है—

जावन्तो वयणपहा तावन्तो वा नया विसद्दाओ।
ते चेव य परसमया सम्मत्तं समुदिया सव्वे॥

२ सन्मतिमे का० १ गा० २२ से रत्नावलीका जो विस्तृत दृष्टान्त देखा जाता है और जिसमे 'रयणावली', 'मणि' आदि शब्द हैं, ये ही शब्द इस दृष्टान्तके सक्षेपके साथ विशेषावश्यकभाष्यकी २२७१वी गाथामे आये हैं। सन्मतिके का० १, गा० ५४ मे आया हुआ 'परिकम्मणाणिमित्त' शब्द भाष्यकी २२७६वी गाथामे 'परिकम्मणत्थ' के रूपमें आया है। सन्मतिके का० १, गा० २८ मे जो विचार है, वही विचार उसके कुछ मूल शब्दोंके साथ भाष्यकी २२७२ वी गाथामे आता है।

२१०९ से २१११ तककी गाथाओंमें २१०४वीं गाथामें कहा गया भाव सिद्धान्तके रूपमें रखा गया है। इससे भी यह २१०४वीं गाथा कहींसे संवाद रूपमें उद्धृत प्रतीत होती है। इसी तरह २१९५वी गाथाका भाव २१९४वी गाथामें स्पष्ट रूपसे आ जाता है।

जिनभद्र सैद्धान्तिक होनेसे तार्किक सिद्धसेनके प्रतिवादी माने जाते हैं। उन्होंने सन्मतिगत कतिपय बातोसे भिन्न प्रतीत होनेवाली आगमिक बातोकी अपने भाष्यमे चर्चा की है। ऐसा होनेपर भी सन्मतिमे आनेवाले सिद्धसेनके उक्त विचारोको भी उन्होने भाष्यमे अपनाया है। टीकाकार मलधारी ऐसे स्थलोपर वे विचार सिद्धसेनके ही हैं, ऐसा कहकर उन गाथाओकी व्याख्या करते हैं। मलधारीके समक्ष पूर्व टीकाओंकी परम्परा होनेसे और भाष्यमे अन्य स्थानपर आगे आनेवाला विरोधी मत उनके सम्मुख होनेसे उनका वैसा कथन तथ्यपूर्ण है, ऐसा मानना चाहिए। अतः यही फलित होता है कि जिन बातोमे प्रतिवाद करने जैसा और आगमसे खास विरुद्ध विचार उन्हे ज्ञात न हुआ, वहाँ उदार भावसे सिद्धसेनके विचारोको भी, आगम-परम्पराके विचारोकी भाँति, अपने भाष्यमे उन्होने स्थान दिया। ऐसे विचारोमे यहाँ दो मुख्य विचार, उदाहरणस्वरूप, दिखलाये जाते हैं: (क) एक नयसख्याका, और (ख) दूसरा निक्षेप एव मूल नयमे नय-विशेषोंकी अवतारणाका।

(क) भाष्यमे मूलके रूपसे मानी गयी और टीकाकारके द्वारा निर्युक्तिके रूपमे उल्लिखित गा० २२६४ मे सात प्रकारके और पाँच प्रकारके नयोका निर्देश है। सिद्धसेन अपने सन्मतिके का० १ गा० ४-५ मे सग्रहसे प्रारम्भ करनेके कारण छ प्रकारके नय माननेवालेके रूपमे प्रसिद्ध हैं। निर्युक्तिकी कही जानेवाली उस गाथापरके भाष्यमे यद्यपि जिनभद्रने नयोके छ प्रकारका उल्लेख तो नही किया, फिर भी दूसरे प्रसगोपर उन्होने सिद्धसेनके षड्नयवादको भी भाष्यमे स्थान दिया है।

निक्षेपमे नयोकी अवतारणा जिनभद्रने सग्रहनयमे ही की है; विशेषावश्यक भाष्यकी गा० ७५ मे और नयद्वारकी गा० ३५८६ मे सग्रहनयसे ही नयका निरूपण किया गया है, जब कि दूसरी अनेक जगहोपर[1] वह नयके विचारमे नैगमसे प्रारम्भ करके सातो नयोका सविस्तर वर्णन करते है और सर्वत्र उन्हीको घटाते है। यह चर्चा इतना स्पष्ट करनेके लिए पर्याप्त है कि जिनभद्रने प्राचीन परम्पराके अनुसार सात नयोका स्वीकार करके भी सिद्धसेनके षड्नयवादका आदर किया है।

(ख) सन्मतिके का० १, गा० ६ मे प्रथमके तीन निक्षेप द्रव्यास्तिकके रूपमे और चौथा निक्षेप पर्यायास्तिकके रूपमे वर्णित है, तथा इसीके का० १, गा० ५-६ मे

---

१. विशेषावश्यकभाष्य गा० २१८१ इत्यादि।

द्रव्यास्तिकमें संग्रह एवं व्यवहार और पर्यायास्तिकमें ऋजुसूत्र आदि चार नय घटाये हैं। जिनभद्रने इन निक्षेपोमें मूल नयकी अवतारणाका और मूल नयमें सग्रह आदि छ नयोंकी अवतारणाका सन्मतिगत समग्र विचार भाष्यकी एक ही ७५वीं गाथामें सन्निविष्ट किया है।

३ सिद्धसेन एव जिनभद्रका सम्बन्ध जाँचनेमे उनकी तथाकथित वादि-प्रतिवादिभावकी बात भी बहुत ही महत्त्वकी है। उनका वादिप्रतिवादिभाव मुख्यत: केवलोपयोगके बारेमे ही प्रसिद्ध है। यहाँ तीन मुद्दे खास विचारणीय हैं: (क) प्रस्तुत वाद-विषयक सबसे प्राचीन साहित्य; (ख) प्रस्तुत वादका आरम्भ एव उसका विकास; और (ग) प्रस्तुत वादके आद्य सूत्रधार कौन थे ?

(क) दिगम्बरीय साहित्यमें तो प्रस्तुतवादकी चर्चावाला कोई खास ग्रन्थ नही है[1], अतः उस परम्परामे किसी समय भी यह चर्चा हुई होगी, ऐसा इस समय तो नही लगता। श्वेताम्बरीय साहित्यमे यह चर्चा काफी हुई है। उपलब्ध श्वेताम्बरीय साहित्यमें[2] यह चर्चा करनेवाले सबसे प्राचीन ग्रन्थ हमारे समक्ष सिद्धसेन और जिनभद्रके है। सिद्धसेनका सन्मति और जिनभद्रके विशेषणवती एव विशेषावश्यकभाष्य ये तीन ही ग्रन्थ इस समय इस चर्चाके आद्य ग्रन्थ हैं। जिनदास, हरिभद्र, गन्धहस्ती[3] आदि बादके विद्वानोने अपने-अपने ग्रन्थोंमे इस चर्चाको छुआ तो है, परन्तु उनमे जो गाथाएँ उद्धृत की गयी है या दलीले दी गयी है, वे उक्त तीन ग्रन्थोके अतिरिक्त दूसरे किसी प्राचीन ग्रन्थमे इस समय उपलब्ध नही होती।

(ख) ऐसा मालूम होता है कि प्राचीन जैन परम्परामे केवलोपयोग क्रमिक ही माना जाता होगा। दिगम्बर परम्परामे एकमात्र युगपद्वाद प्रचलित है। इससे ऐसा माननेका कारण है कि कुन्दकुन्द जैसे आद्य दिगम्बरीय साहित्यप्रणेताओने युगपद्वाद नये सिरेसे उपस्थित किया या फिर पहलेसे गौणभावसे चले आनेवाले उस वादकी पुष्टि की और उसे मान्य रखा। दिगम्बर परम्परा[4] प्राचीन

---

१. देखो 'दर्शन और चिन्तन' (हिन्दी) पृ० ४४२ से।

२. विशेषावश्यकभाष्य गा० ३०८९ से।

३. नन्दीचूर्णि, धर्मसंग्रहणी और तत्त्वार्थ टीका। इसके लिए देखो सन्मति टीका पृ० ५९७ से ६०४।

४. प्रवचनसार अ० १, गा० ५१। अधिकके लिए देखो सन्मति टीका पृ० ६०३।

विरासतवाले आगमोको अक्षरश नही मानती थी; इससे क्रमवादके उपासक आगमिक श्वेताम्बर विद्वान् युगपद्वादी दिगम्बर विद्वानोको इतना ही कहते होगे कि तुम्हारे युगपद्वादको आगमका आधार कहाँ है ? आगममे तो हमारा क्रमवाद ही स्पष्ट रूपसे आता है। आगमका परित्यागकर अलग हो जानेवाले दिगम्बर विद्वानोने शास्त्राधारके बलकी बहुत परवाह नही की होगी, फिर भी श्वेताम्बरीय साहित्यमे यह चर्चा पहले ही से थोडी-बहुत होती रही होगी। यह चर्चा सिद्धसेन अथवा उनके जैसे दूसरे किसी प्रतिभाशाली दार्शनिक विद्वान्ने देखी और तर्क एव दर्शनान्तरके अभ्यासके बलपर उन्हे नया स्फुरण हुआ होगा कि क्रमवादकी अपेक्षा युगपद्वाद अधिक सयुक्तिक है, फिर भी उसमे भी कुछ कमी है। वस्तुत: केवलोपयोगका अभेद ही होना चाहिए। यह बात उन्हे स्फुरित तो हुई होगी, परन्तु शास्त्राधारके बिना कोई भी वस्तु न माननेके मानसवाले उस जमानेमे उस स्फुरणका प्रतिपादन शास्त्राधारके बिना करना शक्य नही था। इसीलिए उन्होंने अपने नवस्फुरित मन्तव्यको प्राचीन जैन आगमोमेसे फलित करनेका और तद-नुसार शब्दोका अर्थ और पूर्वापर सम्बन्ध घटानेका प्रयत्न प्रारम्भ किया। इस प्रकार अभेदवादके पुरस्कर्ता एव उनके अनुगामी श्वेताम्बर विद्वानोने अभेद-वादको आगमके आधारपर खडा किया। तब आगमभक्त क्रमवादी श्वेताम्बर विद्वानोके लिए अभेदवादका खण्डन करना कठिन हो गया। अब युगपद्वादियोकी भाँति अभेदवादियोको सिर्फ इतना ही कहनेसे चल नही सकता था कि तुम्हारे वादको तो शास्त्रका आधार नही है। यह बात विशेषणवतीकी गाथा १४८ में आयी हुई प्रस्तुत वादकी चर्चाका आरम्भ देखते ही स्पष्ट हो जाती है। उसमे युगपद्वादको तो शास्त्रके आधारसे रहित है, इतना ही कहकर अलग हटा दिया है और क्रमवादका स्थापन अभेदवादके खण्डनसे ही शुरू किया है। समग्र चर्चामें पूर्वपक्षके रूपमे केन्द्रस्थानमे अभेदवाद ही है; और जो-जो आगमविरोध, युक्ति-शून्यता आदि आक्षेप किये गये है, वे सब अभेदवादको ही सीधे तौरपर लक्षित करके किये गये है। यदि अभेदवाद चर्चामे उपस्थित न हुआ होता अथवा उप-स्थित होनेपर भी उसने शास्त्रका आधार न लिया होता, तो वह या तो अज्ञात रहता या ज्ञात होनेपर भी टिक न पाता। साराश यह है कि प्रस्तुत वादका विकास मुख्यत तर्क एव आगमनिष्ठाके सघर्षणके कारण ही हुआ है।

(ग) प्रस्तुत वादके आद्य सूत्रधारोका प्रश्न हमे सन्मति एव विशेषणवतीमे आयी हुई अपने-अपने पक्षका स्थापन करनेवाली तथा विरोधी पक्षका खण्डन करने-वाली दलीलोको ध्यानसे जाँचनेके लिए प्रेरित करता है। सन्मतिके दूसरे काण्डकी

४ से ३१ तककी गाथाओमे अभेदवादकी स्थापना और मुख्यत: क्रमवादका खण्डन होनेके कारण अभेदका समर्थन करनेवाली और क्रमका खण्डन करनेवाली दलीले हैं; जब कि विशेषणवतीकी १८४ से २८० तककी गाथाओंमें तथा विशेषावश्यक-भाष्यकी ३०८९ से शुरू होनेवाली गाथाओमे इससे उल्टा है। उनमे क्रमवादका समर्थन करनेवाली और मुख्य रूपसे अभेदवादका खण्डन करनेवाली दलीलें हैं। इन दोनोमेसे किसी एककी सिद्धान्तरूप दलीले दूसरेके पूर्वपक्षके रूपमे आये, यह स्पष्ट है; फिर भी दोनोकी बारीकीसे तुलना करनेपर साफ प्रतीत होता है कि सन्मतिमे अभेदका स्थापन करनेवाली सभी दलीले और क्रमवादको दूषित करनेवाले सभी आक्षेप विशेषणवतीमे नही हैं, परन्तु उनमेसे कुछ हैं और उनके अतिरिक्त दूसरे भी हैं। इसी तरह विशेषणवतीमे क्रमवादको स्थापित करनेवाली सभी दलीले और अभेदको दूषित करनेवाले सभी आक्षेप सन्मतिमे नही हैं, परन्तु उनमेसे कुछ हैं और उनके अतिरिक्त दूसरे भी हैं। सिद्धसेन एव जिनभद्र समकालीन होनेसे आमने-सामने थे अथवा सिद्धसेन उत्तरवर्ती थे, ऐसा माननेका कोई निश्चित आधार नही है—यह बात प्रारम्भमें ही कही गयी है। अतएव प्रश्न होता है कि अभयदेव-के कथनानुसार यदि जिनभद्र क्रमवादके पुरस्कर्ता हो, तो सिद्धसेनने सन्मतिमे क्रमवादकी जो दलीले खण्डन करनेके लिए ली है, वे किम क्रमवादीके द्वारा उपस्थित की गयी है और सिद्धसेनने किस क्रमवादीके सामने अपना अभेद पक्ष स्थापित किया है? इसका उत्तर यही प्रतीत होता है कि जिनभद्रके पहले भी क्रमवादके स्थापक आचार्य तो हुए है, कदाचित् उन्होने इस विषयका साहित्य न भी रचा हो, फिर भी उनकी दलीले तो मुखपाठ द्वारा अभ्यासियोमे चली आती होगी। क्रमवादकी ये ही दलीले जिनभद्रको विरासतमे मिली, उन्होने इसमे अपनी ओरसे कुछ अभिवृद्धि की और खास तो यह किया कि क्रमवादका व्यवस्थित रूपसे समर्थन करनेवाले तथा अभेदका प्रबल खण्डन करनेवाले प्रकरण लिखे। सम्भवत ऐसे व्यवस्थित प्रकरण पहले किसी क्रमवादीने नही लिखे होगे। आविष्कारक अर्थमे नहीं, किन्तु उपर्युक्त अर्थमे ही अभयदेवने[1] जिनभद्रको क्रमवादके सूत्रधार या समर्थक कहा है, ऐसा समझना चाहिए। परन्तु मुख्य प्रश्न तो सिद्धसेनके बारेमे होना है। क्या अभेदवाद उनसे पहले किसीने प्रस्तुत करके थोडा-बहुत स्थापित किया था या उन्होने ही यह वाद सर्वप्रथम उपस्थित करके सन्मति आदिमे उसकी व्यवस्थित रूपसे चर्चा की है? जिनभद्रने विशेषणवती एव भाष्यमे अभेदका जो खण्डन किया है, उसे देखनेपर ऐसा लगता है कि उनके समक्ष अभेदके स्थापक एकसे अधिक आचार्योंके मन्तव्य थे, क्योंकि वे 'केचित्' एव 'अन्ये' शब्दसे भिन्न-भिन्न अभेदवादियोंको

---

१. सन्मतिटीका पृ० ६०८, पं० २१।

लेकर उनकी भिन्न-भिन्न दलीलोका खण्डन करते है। इन अनेक अभेदवादियोंमें मूल सूत्रधार कौन और उनके पोषक अनुगामी या उत्तरवर्ती दूसरे कौन और उनके ग्रन्थ थे या नही और यदि थे तो कौन-कौनसे—यह सब निश्चयपूर्वक कहना अभी शक्य नहीं है, फिर भी इतना तो निश्चित है कि जिनभद्रके सम्मुख सन्मतिके अतिरिक्त दूसरे भी सिद्धसेनके अथवा अन्य आचार्योंके अभेदसमर्थक ग्रन्थ अवश्य थे। हरिभद्र द्वारा अभेदके पक्षकारके रूपमे सूचित वृद्धाचार्य[१] यदि सचमुच ही कोई ऐतिहासिक पुरुष हो और वे ही अभेदके मूल सूत्रधार हो, तो ऐसा कहना चाहिए कि अभयदेव[२] सिद्धसेनको अभेदवादके पुरस्कर्ताके रूपमे जो सूचित करते है, उसका अर्थ इतना ही है कि उन्होने अभेदको व्यवस्थित रूपसे प्रस्थापित करनेके लिए सर्वप्रथम प्रकरण रचे अथवा ऐसा मानना चाहिए कि पहलेके प्रकरणोसे श्रेष्ठ प्रकरण लिखे। इस मान्यताकी पुष्टिमे एक दलील दी जा सकती है, और वह यह कि सिद्धसेनने सन्मतिके का० २ गा० २१ मे, श्री यशोविजयजीकी व्याख्याके अनुसार[३], किसी एकदेशीय अभेदवादीका निरास किया है। इससे यही सूचित होता है कि सिद्धसेनसे पहले अथवा कमसे कम उनके सामने दूसरे अभेदवादी और उनकी भिन्न-भिन्न मान्यताएँ थी, जिनका निरास सिद्धसेनने किया। सिद्धसेन स्वय ही अभेदवादके प्रथम आविष्कर्ता हो अथवा उसे व्यवस्थित रूपसे तर्कपूर्वक सर्वप्रथम लिपिबद्ध करनेवाले हो, चाहे जो हो, परन्तु इतना निश्चित है कि सिद्धसेनके अतिरिक्त दूसरे भी उनके समकालीन या उत्तरकालीन अभेदवादी विशिष्ट आचार्य हुए थे और उन्होने इस विषयपर प्रकरण भी लिखे थे। मलधारी हेमचन्द्रने विशेषावश्यकभाष्यकी टीकामे[४] एक सस्कृत पद्य उद्धृत किया है। वह पद्य अभेदवादका समर्थक होनेसे ऐसी सम्भावना हो सकती है कि वह सिद्धसेनका हो, परतु उनकी उपलब्ध बत्तीसी आदि किसी भी सस्कृत कृतिमे वह उपलब्ध नही होता। यदि उनकी लुप्त कृतियोका वह पद्य न हो, तो वह दूसरे ही किसीका होना चाहिए। सिद्धसेनने सन्मतिके अतिरिक्त अभेदस्थापक दूसरा भी कोई स्वतत्र प्रकरण लिखा होगा, ऐसी सम्भावना तो रहती ही है।

अभयदेवने मल्लवादीको युगपद्वादका पुरस्कर्ता कहा है[५], इसका अर्थ क्या

---

१. नन्दीटीका पृ० ५२।

२. सन्मतिटीका पृ० ६०८, प० २५।

३. ज्ञानबिन्दु पृ० ४३। (सिंघी जैन ग्रन्थमाला)

४. पृ० ११९८।

५. सन्मतिटीका पृ० ६०८, पं० २१।

—यह भी एक प्रश्न है। दिगम्बरोंका युगपद्वाद कुन्दकुन्दके ग्रन्थसे ही सिद्ध है। मल्लवादीका कोई भी ग्रन्थ इस समय अविकल उपलब्ध नहीं है, अतः इसका अर्थ इतना ही लगता है कि अभयदेवके सामने युगपद्वादकी व्यवस्थित रूपसे चर्चा करनेवाला मल्लवादीरचित कोई स्वतंत्र प्रकरण अथवा टीकात्मक ग्रन्थ होगा[1]।

सिंहगणी क्षमाश्रमण, हरिभद्र और गन्धहस्ती

सिंहगणी क्षमाश्रमण—सिंहगणी क्षमाश्रमणने नयचक्रमे अनेक स्थानोंपर सिद्धसेनके नामके साथ और नामके बिना भी सन्मतिकी अनेक गाथाएँ उद्धृत की है[2] और उस ग्रन्थके अन्तमे ऐसा सूचित किया है कि सन्मति एवं नयावतार जैसे नयविषयक प्रौढ ग्रन्थ होनेपर भी वे अत्यन्त दुर्गम तथा विस्तृत होनेसे संक्षेपरुचि पाठकोके लिए यह नयचक्र लिखा गया है। ग्रन्थकारका यह एक ही उल्लेख स्वय उनके ऊपर सिद्धसेनका कितना अधिक प्रभाव था, यह सूचित करनेके लिए पर्याप्त है।

हरिभद्र—हरिभद्रके ऊपर सिद्धसेनका प्रभाव स्पष्ट है। उन्होने सिद्धसेनका सन्मतिके द्वारा एक लब्धप्रतिष्ठके रूपमे वर्णन तो किया ही है, परन्तु इसके अतिरिक्त उन्होने अनेकान्तजयपताका, शास्त्रवार्तासमुच्चय, षड्दर्शनसमुच्चय, धर्मसग्रहणी आदि अनेक ग्रन्थोकी रचनामे सिद्धसेनकी सन्मति, न्यायावतार और दूसरी बत्तीसी आदि कृतियोमेंसे बहुमूल्य प्रेरणा तथा उपयोगी विषय लिये है[3]। यह बात इन दोनो आचार्योंकी कृतियोकी तुलना करनेसे स्पष्ट ज्ञात हो सकती है। षड्दर्शनसमुच्चय तो प्राय सिद्धसेनकी दार्शनिक बत्तीसियोके अवलोकनकी प्रेरणाका ही फल है।

गन्धहस्ती—गन्धहस्तीने अपनी तत्त्वार्थभाष्यवृत्तिमे[4] क्रमवादका पक्ष लेकर अभेदवादीके सामने जो कठोर आक्रमण किया है, वह सिद्धसेन दिवाकरको लक्ष्यमे रखकर ही किया हो, ऐसा जान पडता है, फिर भी ऐसा लगता है कि उनके ऊपर

---

१. ज्ञान-दर्शनोपयोगके क्रम आदिकी यह चर्चा 'ज्ञानबिन्दु'की प्रस्तावना (पृ० ५४) में भी की गयी है।

२. देखो सन्मति, परिशिष्ट दूसरा 'सिंह क्षमाश्रमण।'

३. अनेकान्तजयपताकामें चर्चित विषयका मूल सन्मतिके तीसरे काण्डमें है। सन्मतिके पहले काण्डकी गा० ४३-४ का अनुवाद शास्त्रवार्तासमुच्चयकी ५०५ एवं ५०६ कारिकाओंमें है। षड्दर्शनसमुच्चयके मूलमें चर्चित विषय रूपान्तरसे सिद्धसेनकी दार्शनिक बत्तीसियोंमें है।

४. 'यद्यपि केचित् पण्डितम्मन्याः' इत्यादि अ० १, ३१; पृ० १११।

दिवाकरके पाण्डित्यका प्रभाव बहुत पड़ा है, क्योंकि वह अपनी इसी भाष्यवृत्तिमें अनेक स्थानोपर सिद्धसेनके सन्मतिगत[1] और द्वात्रिंशिकागत[2] पद्य प्रमाणके रूपमें आदरपूर्वक उद्धृत करते हैं। यह बात इतना सूचित करनेके लिए पर्याप्त है कि गम्भीर आचार्य अमुक बातमे मतभेद होनेपर भी बिना मतभेदकी दूसरी बातोमे अपने प्रतिपक्षी प्रतिष्ठित आचार्यका प्रामाण्य स्वीकारकर उनका आदर करते थे।

अकलंक, वीरसेन और विद्यानन्दी

अकलंक—इन प्रसिद्ध एव प्रकाण्ड दिगम्बर आचार्यपर सिद्धसेनका भारी प्रभाव दिखायी पडता है। अकलकने राजवार्तिकमे[3] सिद्धसेनकी बत्तीसीमेसे एक पद्य तो उद्धृत किया ही है, परन्तु पर्यायसे गुणके भिन्न न होनेकी सिद्धसेनकी दलीलको, अपनी प्राचीन दिगम्बर परम्पराके विरुद्ध जा करके भी, राजवार्तिकमे[4] स्वीकार कर लिया है और लघीयस्त्रयीमे[5] जो प्रमाण, नय एव निक्षेप आदिका वर्णन किया है, उसमे सिद्धसेनके सन्मति एव न्यायावतारकी थोडी-बहुत प्रेरणा होगी, ऐसा तुलना करनेपर लगता है।

वीरसेन—दिगम्बर परम्पराके अनुसार वीरनिर्वाणके अनन्तर क्रमश श्रुतका ह्रास होता गया और वीर निर्वाण ६८३ के बाद तो कोई भी आचार्य अगधर या पूर्वधर नहीं रहा; परन्तु जो कोई हुए, वे अग एव पूर्वके अशधर हुए। उनकी परम्परामे पुष्पदन्त और भूतबलि हुए, जिन्होने 'षड्खण्डागम' की रचना की और गुणधर आचार्यने 'कसायपाहुड' की रचना की। आचार्य वीरसेनने उक्त दोनो ग्रन्थोकी टीका लिखी, जो क्रमश 'धवला' और 'जयधवला' के नामसे प्रसिद्ध है। आचार्य वीरसेनका समय ईसाकी आठवी शतीके उत्तरार्धसे नवी शतीके पूर्वार्धतक मानना चाहिए, क्योंकि धवलाके अन्तमे उन्होने समयका जो निर्देश किया है, उसके अनुसार वह ग्रन्थ ८वी अक्तूबर, ८१६ मे पूर्ण हुआ था[6]। आचार्य वीरसेनने उक्त दोनो टीकाग्रन्थोमे प्रमाणके तौरपर सन्मतिकी अनेक गाथाएँ उद्धृत की

---

१. अ० १, सू० ७ की तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति (पृ० ५३) मे पहले काण्डकी २१वीं और २८वीं गाथाएँ उद्धृत हैं।

२. अ० १, सू० १० की तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति, पृ० ७१।

३. अ० ८, सू० १ के १७वें वार्तिकमें पहली बत्तीसीका ३०वाँ पद्य उद्धृत है।

४. अ० ५, सू० ३७ के वार्तिक।

५. देखो लघीयस्त्रयी १, ४ और न्यायावतारका चौथा श्लोक आदि।

६. देखो धवला प्रथम भागकी अंग्रेजी प्रस्तावना पृ० २।

हैं' और अपने मतके साथ सन्मतिके वक्तव्यका कोई भी विरोध नहीं है, ऐसा भी सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है। इससे प्रतीत होता है कि उनके समयतक दिगम्बर परम्परामें भी सन्मतिका प्रामाण्य स्वीकृत हो गया था।

धवलामें (पृ० १५) सन्मतिकी 'णाम ठवणा' इत्यादि गाथा (१६) उद्धृत करके उसके साथ अपने मन्तव्यका किस तरह विरोध नही है, इसका स्पष्टीकरण किया है। यही वस्तु पुन सिद्धसेनके नामके साथ उक्त गाथाको

---

१. धवला भा० १ : पृ०	१२	सन्मतिकी गाथा :	१.३, ४
	१३		१.११
	१५		१.६
	८०		३.४७
	९१		३.६४, ६५
	१६२		३.४७
	३८६		१.३१
धवला भा० ८ :	३		१.६
	३३७		१.११, १२
जयधवला भा० १ :	२१८		१.३, ५
	२२०		१.४
	२४५		३.४७
	२४८		१.११, १२, १३
	२४९		१.१७, १८, १९, २०, २१
	२५२-३		१.८, ३१
	२५६		१.९
	२५७		१.२८
	२६०		१.६
	३५१		२.४
	३५२		२.५, ९
	३५६		२.१२, १३
	३५७		२.३
	३५९		२.६
	१०८	बत्तीसी :	३.१६

उद्धृत करके जयधवलामें (पृ० २६०) विशेष रूपसे स्पष्ट की गयी है। इससे सूचित होता है कि आचार्य सिद्धसेनके मन्तव्यका तत्कालीन दिगम्बर परम्परामें भी कितना महत्त्व था। एक और भी ध्यान देने योग्य बात है और वह यह कि उक्त दोनो स्थानोपर आचार्य सिद्धसेनके सन्मतिको सूत्र (सम्मइसुत्त) कहा है, जिससे सूचित होता है कि वह ग्रन्थ सूत्रकोटिका माना जाता था।

विद्यानन्दी—विद्यानन्दी भी अकलक जैसे ही प्रसिद्ध और प्रकाण्ड दिगम्बर आचार्य थे। उन्होंने तो अकलककी अपेक्षा भी सिद्धसेनीय कृतियोंकी अधिक उपासना की हो, ऐसा लगता है, क्योकि वह अपने श्लोकवार्तिकमें[1] मात्र सन्मतिकी गाथा उद्धृत करके ही सन्तोष नही मानते, परन्तु कहीपर वह सिद्धसेनके मतको सविशेष मान्य रखते हैं, तो कही उनके मतका विरोध करते भी प्रतीत होते हैं। पर्यायसे गुणके भिन्न न होनेकी बातका स्वीकार अकलकके ही समान होनेके कारण उस तरफ ध्यान न भी दें, तो भी मूल दो नयोमे उत्तरनयोंके बँटवारेका विद्यानन्दी द्वारा किया गया स्वीकार सन्मतिके अवलोकनपर आश्रित हो, ऐसा जान पडता है[2], क्योकि ऐसा बँटवारा श्लोकवार्तिकके आधारभूत सर्वार्थसिद्धि या राजवार्तिकमें नही दिखायी पडता और दिगम्बरीय ग्रन्थोमे सर्वप्रथम श्लोकवार्तिकमे ही दृष्टिगोचर होता है। विद्यानन्दीने नैगमनयको भिन्न माननेके बारेमे और नय छ नही, किन्तु सात ही होने चाहिए, इस बारेमे जो चर्चा की है[3], वह सिद्धसेनके षड्नयवादके सामने ही प्रतीत होती है, क्योकि दिगम्बरीय ग्रन्थोमे कही भी षड्नयवादके स्वीकारकी बात ही नही दिखायी पडती। विद्यानन्दीका विशिष्ट एव विस्तृत नयनिरूपण, उनके कथनानुसार, भले ही 'नयचक्र'[4] पर अवलम्बित हो, किन्तु उसमे सिद्धसेनके नयविषयक विचारोंका बहुत ही स्पष्ट प्रतिघोष है। मल्लवादी अथवा अन्य किसी आचार्यके नयचक्रके अभ्यासके परिणामस्वरूप विद्यानन्दीके नयनिरूपणमे सप्तभगियोके विविध भेदोका जो वर्णन है, उसमे सन्मतिगत सप्तभगीके परिचयका थोडा भी हिस्सा होगा, ऐसी सम्भावना रहती है। विद्यानन्दीको सन्मतिका खास परिचय था, यह बात पूर्वोक्त उल्लेखसे सिद्ध होनेके पश्चात् इस सम्भावनाकी पुष्टिमे कुछ अधिक कहने जैसा नही रहता।

---

१. पृ० ३ पर सन्मतिके तीसरे काण्डकी ४५वीं गाथा उद्धृत है।
२. अ० १, सू० ३३ का श्लोक तीसरा, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० २६८।
३. अ० १, सू० ३३ के श्लोक १७–२६, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० २६९।
४. 'तद्विशेषाः प्रपञ्चेन संचिन्त्या नयचक्रतः।' १, ३३ का १०२वाँ श्लोक।

शीलांक, वादिवेताल शान्तिसूरि और वादिदेव

ये तीनों आचार्य सिद्धसेनकी कृतियोंके अभ्यासी थे और इन्होंने उन कृतियोंमेंसे बहुत कुछ अपनी रचनाओमे लिया है, यह बात उनकी प्रसिद्ध कृतियोको देखते ही स्पष्ट हो जाती है। शीलांकने आचारांग[1] और सूत्रकृतांग[2] सूत्रकी टीकामें तथा वादिवेताल शान्तिसूरिने अपनी प्रसिद्ध कृति 'पाइय' टीकामें[3] सन्मतिके बहुतसे पद्य समर्थनके रूपमें उद्धृत किये हैं। वादिदेवसूरिके स्याद्वादरत्नाकरमे तो सन्मतिकी टीकाकी ध्वनि जहाँ-तहाँ सुनायी पड़ती है। उनके प्रमाणनिरूपणके अनेक आधारोमे एक खास आधार न्यायावतार भी है; इतना ही नही, वादिदेव स्वय अपनी रचनाके मूल आधारके रूपमे आचार्य सिद्धसेनको रत्नाकरके आरम्भमे ही याद करते हैं[4]।

हेमचन्द्र और यशोविजय

हेमचन्द्र—सर्वतंत्रस्वतंत्रके रूपमे प्रसिद्ध आचार्य हेमचन्द्रने अपनी दो बत्तीसियाँ सिद्धसेनकी बत्तीसियोका आदर्श सम्मुख रखकर ही रची हैं, ऐसा उनकी

---

१. आचारांगसूत्रकी टीका पृ० १ पर द्रव्यानुयोगके रूपमें पूर्व एवं सन्मति आदिका एक साथ ही उल्लेख है, तथा पृ० २४९ पर सन्मतिका दर्शनप्रभावक ग्रन्थके रूपमें उल्लेख है। वे दोनों पाठ क्रमशः इस प्रकार हैं—

'द्रव्यानुयोगः पूर्वाणि सम्मत्यादिकश्च।'

'दर्शनप्रभावकैर्वा सम्मत्यादिभिः।'

पृ० ८०, ८५, १४७ और १७१ पर क्रमशः पहले और तीसरे काण्डकी गाथाएँ उद्धृत हैं। पृ० २३१ और २५० पर दूसरी और आठवीं बत्तीसीके पद्य उद्धृत हैं।

२. सूत्रकृतांगसूत्रकी टीकामें पृ० २११ पर सन्मतिके पहले और तीसरे काण्डकी गाथाएँ उद्धृत हैं।

३. 'पाइय' टीका (पृ० २१) में सन्मतिके पहले काण्डकी तीसरी और छठी गाथा 'तथा च महामतिः' कहकर उद्धृत की गयी है तथा पृ० ६७ पर तीसरे काण्डकी ४७वीं गाथा दी है।

४. श्रीसिद्धसेनहरिभद्रमुखाः प्रसिद्धा-
स्ते सूरयो मयि भवन्तु कृतप्रसादाः।
येषां विमृश्य सततं विविधान् निबन्धान्
शास्त्रं चिकीर्षति तनुप्रतिभोऽपि मादृक् ॥ ८ ॥ पृ० २

रचनाका आरम्भ[1] देखते ही स्पष्ट हो जाता है। 'सकलार्हत्-प्रतिष्ठान' की रचना उन्होंने समन्तभद्रके 'स्वयम्भूस्तोत्र' के लघु अनुकरणके रूपमें की है, परन्तु अयोगव्यवच्छेद और अन्ययोगव्यवच्छेद नामकी बत्तीसियोंमें तो सिद्धसेनकी कृतियोंमेंसे ही मुख्यत प्रेरणा प्राप्त की है। उन्होंने सिद्धसेनको श्रेष्ठ कवि कहा है, यह उनपर पड़े हुए बत्तीसियोंके प्रभावको सूचित करता है।

यशोविजयजी—अन्तमें जैन-साहित्यकी विविध रूपसे पूर्ति एव असाधारण उपासना करनेवाले वाचक यशोविजयजी आते हैं। सिद्धसेनसे लगभग बारह सौ वर्ष पीछे होनेपर भी सिद्धसेनके साक्षात् विद्याशिष्यत्वके सम्मानकी योग्यता रखनेवाले यही यशोविजयजी हैं। सिद्धसेनकी कृतियोंके अवलोकनकार एव अभ्यासी अनेक हुए होंगे, परन्तु उनकी कृतियोंका गहरा और सर्वांगीण पान जितना इन्होंने किया है, उतना किसी दूसरेने किया हो, ऐसा निश्चयपूर्वककह नेके लिए हमारे पास प्रमाण नहीं है। प्राकृत, सस्कृत और गुजरातीमें विपुल साहित्य रचनेवाले इन वाचकवरेण्यने तीनों भाषाकी अपनी अनेक कृतियोंकी रचना केवल सन्मतिके तीन काण्डोंके आधारपर ही की है। सन्मतिके सारे काण्डके काण्ड लेकर इन्होंने स्वतत्र प्रकरण लिखे हैं और दूसरे अनेक प्रकरणोंमें सन्मतिके विचार गूंथ लिये हैं। इन वाचकवर्यकी सभी कृतियोंमें मिलनेवाली और उनके द्वारा विवृत सन्मतिकी गाथाओंका जोड करें, तो ऐसा ही कहना पड़ेगा कि वाचक यशोविजयजीने प्राय समग्र सन्मतिका विवरण और उसका उपयोग किया है। यह बात सन्मतिके सटीक सस्करणके भा० ५ में तीसरा परिशिष्ट देखनेसे स्पष्ट हो जायगी।

वाचक यशोविजयजीके कौन-कौनसे ग्रन्थ सन्मतिके किस-किस काण्डपर कितने अवलम्बित हैं, इसका स्पष्ट दर्शन तो उनके उक्त परिशिष्टगत ग्रन्थ सांगोपांग देखनेसे ही हो सकता है, फिर भी उस परिशिष्टका सिर्फ अवलोकन ही अभ्यासियोंको यशोविजयजीके सन्मति-विषयक गहरे अभ्यासकी प्रतीति करायेगा। यशोविजयजी द्वारा सन्मतिकी गाथाओंका क्रमसे या उत्क्रमसे किया गया विवरण और उसपर प्रदर्शित किये गये भाव इकट्ठे करके सन्मतिकी सक्षिप्त टीकाका

---

१. क्व सिद्धसेनस्तुतयो महार्था अशिक्षितालापकला क्व चैषा।
तथापि यूथाधिपते पथस्थः स्खलद्गतिस्तस्य शिशुर्न शोच्यः॥

हेमचन्द्रकी अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिकाके व्याख्याकार मल्लिषेणका भी मानना है कि आ० हेमचन्द्रने स्तुतियोंके विषयमें सिद्धसेनका अनुकरण किया है। देखो स्याद्वादमजरी पृ० २।

एक नवीन संस्करण तैयार करनेकी हमारी वृत्ति यद्यपि हम चरितार्थ नहीं कर सके है, तथापि कोई उत्साही एव बुद्धिमान् विद्वान् उस परिशिष्टके ऊपरसे यह काम कम मेहनतमे कर सकेगा। जिस तरह यशोविजयजीके बाद जैन वाङ्मयका विकास रुक-सा जाता है, उसी तरह सिद्धसेनकी कृतियोके अवलोकनकार और अभ्यासियोका पहलेसे चला आता विरल प्रवाह भी रुक जाता है।

४. सिद्धसेन और जैनेतर आचार्य

मध्यकालीन तथा अर्वाचीन किसी भी विशिष्ट दार्शनिक कृतिमे उस-उस दर्शनके सूत्रधार माने जानेवाले कणाद, अक्षपाद, जैमिनि, बादरायण आदि आचार्यों-का और उनके विशिष्ट व्याख्याकारोका एक या दूसरे रूपमे प्रभाव न हो, यह शक्य ही नही है। अत सिद्धसेन जैसोकी विशिष्ट कृतियोमे उन आचार्योंके ग्रन्थोका अभ्यास झलक उठे, यह स्वाभाविक ही है। हम सिद्धसेनकी इस समय उपलब्ध होनेवाली थोडी कृतियोमे भी उन आचार्योका विचार-प्रवाह प्रायः उनके नामके साथ ही देख सकते है।[1] इसीलिए यहाँ वैसे जैनेतर आचार्योंके साथ सिद्धसेनकी तुलना करनेका विचार ही नही है। जिन कतिपय खास-खास जैनेतर विद्वानोकी कृतियाँ स्वरूपकी दृष्टिसे, शैलीकी दृष्टिसे, नामकरणकी दृष्टिसे और भावनाकी दृष्टिसे सिद्धसेनको अपने ग्रन्थ लिखनेमे प्रेरक होनेकी कल्पना होती है, उन्ही विद्वानोके साथ सिद्धसेनकी अतिसक्षेपमे तुलना करनेका यहाँ विचार है।

नागार्जुन, मैत्रेय, असंग और वसुबन्धु

नागार्जुन—नागार्जुन ईसाकी दूसरी शतीके प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् और शून्य-वादके सूत्रधार समझे जाते है। ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी मध्यमककारिका और विग्रहव्यावर्तनी कारिका सिद्धसेनने देखी होगी, क्योकि वह अपनी बत्तीसीमें बौद्ध विद्वानो द्वारा प्रतिष्ठित मध्यममार्गको अपनानेके लिए उसके सच्चे प्रणेताके रूपमे महावीरको ही मानकर उसके (मध्यममार्गके) द्वारा उनकी स्तुति करते है[2]; इतना ही नही, नागार्जुन द्वारा प्रतिष्ठित शून्यत्वकी भावनाको अपने विवक्षित अर्थमे लेकर और उसे महावीरके साथ जोडकर भी उनकी स्तुति करते है[3]। इसके अतिरिक्त बुद्धके अनेक साभिप्राय विशेषणोमेसे एक 'शून्यवादी' विशेषणको

१. देखो न्याय, सांख्य, वैशेषिक आदि दार्शनिक द्वात्रिंशिकाएँ।
२. देखो द्वात्रिंशिका ३, ५।
३. देखो द्वात्रिंशिका ३, २०।

अपने विवक्षित अर्थमे महावीरके साथ जोड़कर उनकी शून्यवादीके रूपमें उन्होंने स्तुति की है।[1] शून्यत्वभावनाकी और शून्यवादित्वकी प्रतिष्ठा तथा मध्यममार्गका महत्त्व सामान्यत शून्यवादके प्रतिष्ठापक माने जानेवाले और मध्यमककारिकाके रचयिता नागार्जुनके कारण समझा जाता है। यह धारणा यदि सत्य हो, तो सिद्ध-सेनकी स्तुतियोमे आनेवाले उक्त उल्लेख उनपर नागार्जुनकी कृतियोंके पड़े हुए प्रभावका अनुमान करानेके लिए पर्याप्त हैं।

मैत्रेय और असंग—मैत्रेय एव असग इन दोनो गुरु-शिष्योके कई मूल ग्रन्थ मिलते हैं[2], तो कई ग्रन्थोके चीनी अनुवाद भी उपलब्ध होते हैं। इन ग्रन्थोके आधारपर प्रोफ़ेसर टूचीने जो थोडा-बहुत विश्वासपात्र लिखा है[3], उसपरसे ऐसा मानना सकारण प्रतीत होता है कि सिद्धसेनको अपनी कृतियोंके विषय प्राप्त करनेमे, उनपर चर्चा करनेमे अथवा उनकी स्पष्टता करनेमे साक्षात् या परम्परासे इन दोनो गुरु-शिष्योंकी कृतियाँ कमोबेश उपकारक हुई होगी, क्योंकि सिद्धसेनकी वाद-विषयक बहुत ही मार्मिकतावाली जो दो बत्तीसियाँ इस समय उपलब्ध होती हैं, उनकी प्रतिपाद्य वस्तु इन मैत्रेय और असगके उपलब्ध प्रकरणोमे सविस्तर होगी, ऐसी धारणा प्रो० टूचीके लेखपरसे होती है।

वसुबन्धु—विज्ञानवादके प्रसिद्ध आचार्य वसुबन्धुका 'वादविधि'[4] ग्रन्थ मूल रूपमें यद्यपि हमारे सामने नही है, फिर भी उनकी बीस श्लोककी एक विंशिका और तीस श्लोककी एक त्रिंशिका ये दो कृतियाँ अपने मूल रूपमे प्राप्त हुई है, जो हमारे समक्ष है।[5] इनका विषय विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि है। उक्त वादविधिका प्रभाव सिद्धसेनकी वाद-विषयक दो बत्तीसियोपर पडा होगा, ऐसी तो इस समय केवल कल्पना ही की जा सकती है, परन्तु उक्त विंशिका और त्रिंशिकाके प्रभाव-के विषयमे तो कुछ अधिक सम्भावना रहती है, क्योकि इष्ट वस्तुके निरूपणके

---

१. देखो द्वात्रिंशिका ३, २१।

२. मैत्रेय और असंगके लभ्य ग्रन्थ हैं—महायानसूत्रालकार, अभिसमयालंकार, मध्यान्तविभाग, योगचर्याभूमिशास्त्र।

३. देखो जर्नल रो० ए० सो० जुलाई १९२९ का अंक, पृ० ४५१।

४. यह ग्रन्थ वसुबन्धुका है, इसके बारेमें प्रो० टूचीके एक मननीय लेखके लिए देखो इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरलीका दिसम्बर १९२८ का अंक, पृ० १३०।

५. डॉ० सिल्वाँ लेवी द्वारा सम्पादित।

लिए अमुक नियतसख्यक श्लोकवाले प्रकरणोकी रचना करना और उन प्रकरणोको श्लोकसख्याके अनुसार विंशिका आदि जैसा नाम देना—यह पद्धति इस समय हमें वसुबन्धुकी कृतियोंमे सबसे पहले उपलब्ध होती है। सम्भव है, पहलेसे चली आती इस पद्धतिको वसुबन्धुने अपनाया हो। सिद्धसेन विज्ञानवादके ज्ञाता थे, ऐसी प्रतीति भी उनके ग्रन्थोको देखनेसे होती है। वसुबन्धु जैसे पूर्ववर्ती प्रसिद्ध विज्ञानवादीकी कृतियाँ सिद्धसेन जैसे बहुश्रुतके हाथमे आयी होगी, ऐसी धारणा सर्वथा निर्मूल तो नही कही जा सकती। अतएव सिद्धसेनको अमुक श्लोक-परिमाण प्रकरणोकी रचना करनेकी, उन प्रकरणोको श्लोक-सख्याके अनुसार बत्तीसी जैसे नाम देनेकी और उन प्रकरणोके द्वारा अपनी प्रतिपाद्य वस्तु स्थापित करनेकी जो स्फुरणा हुई, उसमे वसुबन्धुकी उक्त विंशिका, त्रिंशिका आदि कृतियोका थोड़ा भी हिस्सा होगा, ऐसी कल्पना अपने-आप हो आती है।

अश्वघोष और कालिदास

अश्वघोष और कालिदास दोनों महाकविके रूपमे विख्यात है और इनकी एकाधिक कृतियाँ भी प्रसिद्ध है। हेमचन्द्राचार्यने सिद्धसेनका एक श्रेष्ठ कविके रूपमे वर्णन किया है, फिर भी निर्विवाद रूपसे कहा जा सके ऐसा इनका कोई महाकाव्य या कोई काव्यग्रन्थ अभीतक उपलब्ध नही हुआ है। जो कुछ हमारे सामने है, वह है इनकी बत्तीसियाँ। इन बत्तीसियोका काव्यत्व और शैली तथा कुछ पद्य एव उनके भावको देखनेपर और अश्वघोष तथा कालिदासकी कृतियोके साथ उनकी तुलना करनेपर ऐसा लगे बिना नही रहता कि इन तीनो विद्वानोकी कृतियोमे बहुत ही समानता है। अश्वघोषकी छाया कालिदासके ऊपर है। कालिदास और सिद्धसेन एकदम नजदीकके समयमे आगे-पीछे हुए हो अथवा समकालीन हो, इस विषयमे निश्चयपूर्वक कुछ भी कहना शक्य नही है, फिर भी इतना तो लगता ही है कि किसी एकके विचार दूसरेमे प्रतिबिम्बित हुए है। अश्वघोषके बुद्धचरित और सौन्दरनन्दमे तथा कालिदासके कुमारसम्भव, रघुवश आदिमे पद्यका जो दृढ़बन्ध, प्रसाद गुण और स्फुटार्थत्व है, वैसा ही सिद्धसेनकी बत्तीसियोमे है। बुद्धचरित आदिमे विविध छन्दोका चुनाव और सर्गान्तमे जैसा छन्दोभेद है, वैसा ही बत्तीसियोमे है। अश्वघोष अपने पूज्य बुद्धका और कालिदास स्वमान्य महादेव एव अजका अपनी-अपनी परम्परागत साम्प्रदायिक भावनाके अनुसार जिस ढंगसे वर्णन करते है, प्राय. उसी ढगसे सिद्धसेन अपने मान्य देव महावीरके त्यागका अतिसक्षेपसे चित्र अकित करते है।[1] 'पुराना होनेसे सारा काव्य अच्छा है और नया

---

१. देखो द्वात्रिंशिका ५।

है, इसलिए वह खराब है ऐसा नही"[1]—कालिदासका यह संक्षिप्त भाव मानो भाष्यके रूपमे विकसित होकर सिद्धसेनकी समग्र छठी बत्तीसीमे प्रतिपादित है, ऐसा उस बत्तीमी और कालिदासके उक्त भाववाले पद्यको देखनेपर ज्ञात हुए बिना नही रहता। सिद्धसेनके प्रिय छन्द तथा अश्वघोष एव कालिदासके प्रिय छन्दोंके बीच भी बहुत ही समानता है। उनमे शब्दाडम्बर नही, बल्कि अर्थगौरव विशेष है। दार्शनिक विषयके कारण सिद्धसेनकी बत्तीसियोमे जिस कठिनताका अनुभव होता है उसे जाने दे, तो कल्पनाकी उच्चगामिता, वक्तव्यकी आकर्षकता और उपमाकी मनोहरताके विषयमे ये तीनो बहुत ही समान है।

दिङ्नाग और शंकरस्वामी

दिङ्नाग—बौद्ध तार्किक दिङ्नाग एक विज्ञानवादीके रूपमे विख्यात है। इनकी अनेक प्रसिद्ध कृतियोमेसे एक भी मूल एव अविकल रूपमे इस समय हमारे सामने नही है। अत हम इनकी कृतियोके विषयमे जो कुछ जान सकते है, वह मुख्यत उनके चीनी और तिब्बती अनुवाद तथा उन भाषाओमे उनपर की गयी व्याख्याओके आधारपर ही।[2] दिङ्नागका एक प्रसिद्ध ग्रन्थ 'न्यायमुख' है। प्रो० टूचीने चीनीपरसे इसका अंग्रेजी अनुवाद किया है। दूसरा एक 'न्यायप्रवेश' नामका ग्रन्थ अतिप्रसिद्ध और मूल रूपमे ही सुलभ है।[3] तिब्बती परम्परा और प्रो० विधुशेखर भट्टाचार्यका मत बाधित न हो, तो यह ग्रन्थ भी दिङ्नागकी ही कृति है। दिङ्नाग और सिद्धसेनके पौर्वापर्य या समकालीनताके बारेमे कुछ भी निश्चय-पूर्वक कहना शक्य नही है, फिर भी ऐसा माननेका कारण है कि इन दोनोके बीच यदि समयका अन्तर होगा, तो वह नही-जैसा ही होगा। इन दोनोंमेसे किसी एककी कृतियोके ऊपर दूसरेकी कृतियोका प्रभाव यदि नही भी पडा होगा, तो भी इतना निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि इन दोनोकी कृतियोमे ऐसे अनेक समान

---

१. पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्त परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः॥

—मालविकाग्निमित्र

२. देखो डॉ० सतीशचन्द्रका 'हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लॉजिक' ग्रन्थ तथा 'न्यायप्रवेश' दूसरे भागकी प्रो० विधुशेखर भट्टाचार्यकी प्रस्तावना।

३. यह ग्रन्थ गायकवाड ओरिएण्टल सिरीजमें प्रो० आनन्दशंकर बी० ध्रुव द्वारा सम्पादित होकर प्रकाशित हुआ है। इसकी अनेक हस्तलिखित प्रतियाँ जैन भण्डारोंमें है।

अंश हैं, जो दोनोंको मिली समान विरासतके परिणाम हैं। इस बातकी प्रतीति सिद्धसेनके न्यायावतारके साथ न्यायमुख और न्यायप्रवेशकी तुलना करनेसे हो सकती है।[1] केवल नामकरण अथवा ग्रन्थके विषयके चुनावमें ही नहीं, शब्दविन्यास और वस्तुविवेचनतकमें इन तीनों ग्रन्थोंका साम्य बहुत ही ध्यान आकर्षित करे, ऐसा है। सिद्धसेनके द्वारा न्यायावतारमे किये गये कतिपय विधान[2] न्यायमुख एव न्यायप्रवेशके विधानोंके सामने ही हैं अथवा दूसरे किसी वैसे बौद्ध ग्रन्थके विधानके सामने हैं, यह जाननेका निश्चित साधन तो इस समय कोई नही है; फिर भी न्यायमुख तथा न्यायप्रवेशकी प्रत्यक्ष एवं अनुमान-विषयक विचारसरणीको सम्मुख रखकर न्यायावतारकी विचारसरणीको देखनेपर इस समय ऐसा प्रतीत होता है कि सिद्धसेनने अपने विधान दिङ्नागकी परम्पराके सामने ही किये हैं।

शंकरस्वामी—यदि चीनी परम्परा और उसपरसे बद्ध मान्यता सच हो, तो उक्त न्यायप्रवेश ग्रन्थ शकरस्वामीका ही है और यह शकरस्वामी दिङ्नागके शिष्य थे। 'तत्त्वसग्रह' के व्याख्याकार कमलशील[3] और सन्मतिके टीकाकार अभयदेव द्वारा निर्दिष्ट[4] शकरस्वामीसे न्यायप्रवेशके कर्ता शकरस्वामी भिन्न हैं या नहीं, यह जाननेका इस समय हमारे पास कोई साधन नही है, परन्तु यदि न्यायप्रवेश-का कर्ता कोई शकरस्वामी हो और वह दिङ्नागका शिष्य हो अथवा दिङ्नाग-के समयके आसपास हुआ हो, तो ऐसी सम्भावना रहती है कि सिद्धसेन और उस शकरस्वामी दोनोमेसे किसी एकके ऊपर दूसरेकी कृतिका असर है अथवा दोनोंकी कृतिमे किसीकी विरासत है।

धर्मकीर्ति और भामह

इन दो विद्वानोंमेसे पहला कौन और बादका कौन, इस विषयमे मतभेद हैं[5],

---

१. इसके लिए देखो न्यायमुखकी प्रो० टूची द्वारा सम्पादित अंग्रेजी आवृत्ति, न्यायप्रवेशकी प्रो० भट्टाचार्य तथा प्रो० ध्रुव द्वारा सम्पादित आवृत्ति तथा पं० श्री दलसुखभाई मालवणिया द्वारा की गयी विस्तृत तुलनावाला परिशिष्ट 'न्यायावतारवार्तिकवृत्ति' पृ० २८७।

२. अनुमानमें अभ्रान्तताका, प्रत्यक्षमें भी अभ्रान्तताका और प्रत्यक्षके स्वार्थ-परार्थ भेद होनेका इत्यादि विधान।

३. तत्त्वसंग्रहपंजिका पृ० १९९।

४. सन्मतिटीका पृ० ६६४, पं० १५।

५. भामह और धर्मकीतिपर विवेकरका लेख ज० रॉ० ए० सो० अक्तूबर १९२९, पृ० ८२५ से।

परन्तु हमारी दृढ़ धारणाके अनुसार यह तो निश्चित है कि सिद्धसेन इन दोनोंके पूर्ववर्ती हैं। धर्मकीर्ति सातवीं शताब्दीके प्रखर बौद्ध तार्किक हैं, तो भामह आलंकारिक हैं। धर्मकीर्तिके समग्र 'हेतुबिन्दु'[1] के साथ तुलना की जा सके, ऐसी सिद्धसेनकी कोई कृति इस समय हमारे सामने नहीं है, परन्तु उनके न्यायबिन्दु-के साथ आद्यन्त तुलना की जा सके, ऐसी एक कृति तो सौभाग्यसे बची हुई है और वह है न्यायावतार। न्यायबिन्दुमें प्रमाणसामान्यकी चर्चा होनेपर भी उसमें अनुमानकी और खास करके परार्थ अनुमानकी ही चर्चा मुख्य और विस्तारसे है। न्यायावतारमें भी यही वस्तु है। न्यायमुख और न्यायप्रवेशके प्रत्यक्षलक्षणके साथ न्यायबिन्दुके प्रत्यक्षलक्षणकी तुलना करनेपर दोनोंकी परम्परा भिन्न-भिन्न प्रतीत होती है। पहलेके दो ग्रन्थोंकी परम्परा विज्ञानवादकी तथा तीसरेकी परम्परा सौत्रान्तिक मालूम होती है। भामहने तो अपने अलंकारग्रन्थमें प्रसंगवश[2] ही परार्थ अनुमान अर्थात् न्यायकी संक्षिप्त चर्चा करके[3] महान् भार उठानेकी कविकी जवाबदेहीका निर्देश किया है। उसमें भी विज्ञानवादकी ही परम्परा भासित होती है। सिद्धसेनने अपने न्यायावतारमें विज्ञानवाद और सौत्रान्तिक दोनों बौद्ध परम्पराओंके सामने जैन दृष्टिके अनुसार कई विधान किये हैं, परन्तु वे विधान, हमारी दृष्टिसे, धर्मकीर्ति या भामहके सामने नहीं हैं। ये दोनों बौद्ध परम्पराएँ बहुत लम्बे अरसेसे पहले ही से चली आ रही थीं और इनके अनुगामी अनेक दूसरे समर्थ विद्वानोंने इनकी पुष्टिमें काफी साहित्य रचा था। इन परम्परा-ओंके पोषक मैत्रेय, असंग और दिङ्नाग जैसोंके ग्रन्थोंके सामने ही सिद्धसेनके विधान हैं। अतएव न्यायबिन्दु अथवा काव्यालंकारके साथ न्यायावतारके कुछ साम्य-मात्रसे सिद्धसेनके समय-विषयक अनुमानकी ओर ढल जाना योग्य नहीं है। दर्शन या अन्य विषयके प्रदेशमें ऐसी अनेक विचार-परम्पराएँ हैं, जिनका

---

१. इसकी मूल संस्कृत प्रति सौभाग्यसे पाटनके जैन भण्डारमेंसे उपलब्ध हुई है। इसकी एक नकल गुजरात विद्यापीठके राजचन्द्र ग्रन्थ भण्डारमें है। अब यह ग्रन्थ अर्चटकी टीका तथा दुर्वेक मिश्रकी अनुटीकाके साथ गायकवाड़ ओरिएण्टल सिरीज़में प्रकाशित हो चुका है।

२. देखो परिच्छेद ५।

३. न स शब्दो न तद्वाच्यं न स न्यायो न सा कला।
जायते यन्न काव्याङ्गमहो भारो महान् कवेः॥

—काव्यालंकार परि० ५, श्लो० ४

आदिमूल खोजना शक्तिके बाहरकी बात है। वे विचार-परम्पराएँ पर्वतीय स्रोतकी भाँति कभी मन्द तो कभी तीव्र वेगसे उदित होती देखी जाती हैं। किसी समर्थ विद्वान्‌के पैदा होनेपर अमुक समयतक अमुक परम्पराको बहुत वेग मिलता है। उस समय दूसरी परम्पराएँ या तो दब-सी जाती हैं या फिर कुछ गौण बन जाती हैं। ऐसे समय वेगप्राप्त परम्पराको उस समर्थ विद्वान्‌की आद्यसृष्टि मानकर उसपरसे ऐतिहासिक अनुमान बाँधनेमें बहुत बार भूल हो जानेकी सम्भावना रहती है। धर्मकीर्ति एव सिद्धसेनके ग्रन्थगत सादृश्यपरसे निर्विवाद अनुमान तो इतना ही किया जा सकता है कि दोनोके सामने अमुक-अमुक परम्परा थी; इससे अधिक कुछ भी नही।

२

टीकाकारका परिचय

श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परामे अभयदेव नामके अनेक विद्वान् ग्रन्थकार हो गये हैं[1]। इनमेसे सन्मतिके टीकाकार प्रस्तुत अभयदेव श्वेताम्बरीय हैं। उनके विषयमे जानकारी प्राप्त करनेके मुख्य दो साधन हमारे समक्ष हैं : पहला साधन तो उनकी अपनी ही रची हुई सन्मतिटीकाके अन्तकी प्रशस्ति है, और दूसरा साधन है बादके आचार्यों द्वारा रचित वशप्रशस्तियोमे आनेवाले उल्लेख। अभयदेवकी अपनी प्रशस्ति तथा उसका सार इस प्रकार है :

"इति कतिपयसूत्रव्याख्यया यन्मयाऽऽप्त
कुशलमतुलमस्मात् सन्मतेर्भव्यसार्थः ।
भवभयमभिभूय प्राप्यता ज्ञानगर्भ
विमलमभयदेव-स्थानमानन्दसारम् ॥
पुष्यद्वाग्दानवादिद्विरदघनघटाकुण्ठधीकुम्भपीठ-
प्रध्वसोद्भूतमुक्ताफलविशदयशोराशिभिर्यस्य तूर्णम् ।
गन्तु दिग्दन्तिदन्तच्छलनिहितपद व्योमपर्यन्तभागान्
स्वल्पब्रह्माण्डभाण्डोदरनिबिडभरोत्पिण्डितैः सम्प्रतस्थे ॥
प्रद्युम्नसूरे शिष्येण तत्त्वबोधविधायिनी ।
तस्यैषाऽभयदेवेन सन्मतेर्विवृतिः कृता ॥"

---

१. देखो अभिधानराजेन्द्रमें 'अभयदेव' शब्द।

—इस तरह सन्मतिके कतिपय सूत्रोंकी व्याख्याके द्वारा मैंने जो अतुलनीय पुण्य उपार्जित किया है, उसके आश्रयसे भव्य जीव ससारका भय दूर करके ज्ञानगर्भित निर्मल एव आनन्दप्रधान अभयदेव (मोक्ष) स्थान प्राप्त करे।

जिनका वादिमदमर्दनसे उत्पन्न यश विश्वमे व्याप्त हो गया था, उन प्रद्युम्न-सूरिके शिष्य अभयदेवने सन्मतिकी तत्त्वबोधविधायिनी नामकी यह वृत्ति रची है।

इस सक्षिप्त प्रशस्तिमेसे नीचेकी बाते स्पष्ट होती हैं : (१) टीकाकारके गुरुके रूपमे प्रद्युम्नसूरिका तथा टीकाकारके रूपमे अभयदेवका नाम, (२) मूल ग्रन्थका सन्मति तथा टीकाका तत्त्वबोधविधायिनी नाम; (३) सन्मतिके कुछ ही सूत्रोपर व्याख्याकी रचना।

प्रद्युम्नसूरि और अभयदेवसूरिके नामके अतिरिक्त उनके गच्छ, समय, वश, कृति और जाति आदि दूसरे किसीके बारेमे कुछ भी जानकारी उपर्युक्त प्रशस्ति-मेंसे उपलब्ध नही होती; फिर भी उनके गच्छ, समय एव परिवारके बारेमे कुछ जानकारी हम अन्य आचार्यों द्वारा रचित प्रशस्तियोंमे आये हुए उनके उल्लेख-परसे प्राप्त कर सकते हैं। ऐसे उल्लेखवाली चार प्रशस्तियाँ इस समय हमारे सामने हैं। उनमसे सबसे पहली वादिवेताल शान्तिसूरिके द्वारा अपनी उत्तरा-ध्ययनकी 'पाइअ' नामकी टीकाके अन्तमें दी गयी प्रशस्ति है[1], दूसरी प्रवचन-सारोद्धारकी वृत्तिके कर्ता सिद्धसेनकी अन्तमे लिखी गयी प्रशस्ति है[2], तीसरी

---

१. अस्ति विस्तारवानुर्व्यां गुरुशाखासमन्वित. ।
आसेव्यो भव्यसार्थानां श्रीकोटिकगणद्रुम ॥ १ ॥
तदुत्थवंरशाखायामभूदायतिशालिनी ।
विशाला प्रतिशाखेव श्रीचन्द्रकुलसन्तति : ॥ २ ॥

× × ×

यस्याभूद् गुरुरागमे गुरुनिधिः श्रीसर्वदेवाह्वयः
सूरीशोऽभयदेवसूरिरभवत् ख्यातप्रमाणेऽपि च (?)।
तस्येयं सुगुरुद्वयादधिगता अल्पात्मविद्यागुणा (?)
प्रत्याख्याय चिर भुवि प्रचरतु श्रीशान्तिसूरेः कृतिः ॥ ८ ॥

२. विशेषके लिए देखो प्रवचनसारोद्धारके प्रान्तभागकी प्रशस्ति—
श्रीचन्द्रगच्छगगने प्रसरितमुनिमण्डलप्रभाविभवः ।
उदगात्प्रवीनमहिमा श्रीमदभयदेवसूरिरविः ॥
तार्किकागस्त्यविस्तारिसत्प्रज्ञाचुलुकैश्चिरम् ।
वर्धते पीयमानोऽपि येषां वादमहार्णवः ॥

काव्यप्रकाशकी संकेत नामक टीकाके रचयिता माणिक्यचन्द्रके स्वरचित पार्श्वनाथचरितके अन्तमें दी गयी प्रशस्ति है[1], और चौथी प्रभावकचरित्रके रचयिता प्रभाचन्द्रकी उसके अन्तमे दी गयी प्रशस्ति है[2]। इन चारमेसे पहली प्रशस्तिके रचयिता शान्तिसूरिका स्वर्गवास वि० स० १०९६ मे हुआ है। दूसरी प्रशस्ति स० १२४८ मे, तीसरी स० १२७६ मे और चौथी स० १३३४ मे लिखी गयी है।

इन चारो प्रशस्तियोमे अभयदेवका गच्छ चन्द्रगच्छ कहा गया है, जो उनके शिष्यके द्वारा राजगच्छके नामसे प्रसिद्ध हुआ है। शान्तिसूरिने अपने दो गुरुओका निर्देश करते समय प्रमाणशास्त्रके गुरुके रूपमे जिन अभयदेवका उल्लेख किया है, वह प्रस्तुत सन्मतिके टीकाकार अभयदेव ही होने चाहिए, ऐसा दूसरे सब पहलुओका विचार करनेपर स्पष्ट प्रतीत होता है, क्योकि जो प्रमाणशास्त्रके पारगामी हो और जो शान्तिसूरिके गुरुपदका सम्मान प्राप्त करनेकी

---

१. तर्कग्रन्थविचारदुर्गमवनीसंचारपंचानन-
स्तत्पट्टेऽभयदेवसूरिरजनि श्वेताम्बरग्रामणीः।
सद्वाक्यश्रुतिलालसा मधुकरीकोलाहलाशंकिनी
हित्वा विष्टरपंकजं श्रितवती ब्राह्मी यदीयाननम्॥
वृढनिम्नगाः सत्पथभेदमेता ध्रुवं करिष्यन्ति जडैः समेताः।
इतीव रोधाय चकार तासां ग्रन्थं नवं वादमहार्णवं यः॥ ६-७॥

× × ×

श्रीअभयदेवसूरिस्तच्छिष्यस्तर्कभूरभूत्।
भग्नासनाऽलितुमुलाद् गौर्यंवास्यमशिश्रियत्।
जडोल्लासेन सन्मार्गभेदिनीं वृक्तरंगिणीम्।
रोद्धुं चकार स नवं ग्रन्थं वादमहार्णवम्॥ २९-३०॥

अधिकके लिए देखो पार्श्वनाथचरित्रकी प्रशस्ति।

२. शिष्योऽस्याभयदेवसूरिभवज्जाड्यान्धकारं हरन्
गोभिर्भास्करवत्परां विरचयन् भव्याप्तवर्गे मुदम्।
ग्रन्थो वादमहार्णवोऽस्य विदितः प्रौढप्रमेयोर्मिभृत्
दत्तेऽर्थं जिनशासनप्रवहणे सांयात्रिकाणां ध्रुवम्॥ ३९॥

अधिकके लिए देखो प्रभावकचरित्रकी प्रशस्ति।

योग्यता रखते हों, ऐसे कोई दूसरे अभयदेव विक्रमकी ११वी शतीके पूर्वार्धमें विद्यमान हो, ऐसा अबतक ज्ञात नहीं हुआ है।

सिद्धसेन, माणिक्यचन्द्र और प्रभाचन्द्रकी प्रशस्तियोमे निर्दिष्ट अभयदेव तो निर्विवाद रूपसे प्रस्तुत सन्मतिके टीकाकार अभयदेव ही है, क्योकि इन तीनों प्रशस्तियोमे अभयदेवका निर्देश प्रद्युम्नसूरिके शिष्य और वादमहार्णव नामक तर्कग्रन्थके रचयिता तार्किक विद्वान्के रूपमे किया गया है।[1] वादमहार्णव किसी दूसरे स्वतत्र ग्रन्थका नाम नही है, परन्तु प्रस्तुत सन्मतिकी तत्त्वबोधविधायिनी टीकाका ही दूसरा अनुरूप नाम है। सिद्धसेनके द्वारा दी गयी वश-परम्पराके अनुसार वह स्वय अभयदेवसे नवे पुरुष है। माणिक्यचन्द्र, उनकी दी हुई वश-परपराके अनुसार, अभयदेवसे दसवे पुरुष है।

सिद्धसेनने मुज राजाके मान्य अभयदेवके एक शिष्य धनेश्वरका और माणिक्यचन्द्रने अभयदेवके शिष्य जिनेश्वरका वर्णन किया है। प्रभाचन्द्रने अभयदेवके शिष्य धनेश्वरको त्रिभुवनगिरिके स्वामी कर्दमराजका मान्य लिखा है।

यदि इन प्रशस्तियोंके पाठ और उनमे उल्लिखित बाते सही हो, तो ऐसा मानना चाहिए कि या तो अभयदेवके धनेश्वर और जिनेश्वर दो भिन्न ही शिष्य थे, या फिर एक ही शिष्यके दो नाम थे। इसी प्रकार सिद्धसेनकी प्रशस्तिका मुज और प्रभाचन्द्रकी प्रशस्तिके त्रिभुवनगिरिका स्वामी कर्दमराज या तो भिन्न व्यक्ति थे, या फिर एक ही व्यक्तिके दो नाम थे। सम्भवत कर्दमराज द्वारा सम्मानित धनेश्वर और मुज द्वारा सम्मानित धनेश्वर ये दोनो भिन्न भी हो। चाहे जो हो, ऊपरकी सब हकीकतोके ऊपरसे अभयदेवका इतिहास सामान्यत. ऐसा फलित होता है—वह चन्द्रकुलीय और चन्द्रगच्छके प्रद्युम्नसूरिके शिष्य थे। उनका समय विक्रमकी दसवी सदीका उत्तरार्ध और ग्यारहवी सदीका पूर्वार्धतक है। उनके विद्याशिष्यो एव दीक्षाशिष्योका परिवार बहुत बडा और अनेक भागोमे विभक्त था। इस परिवारमे अनेक विद्वान् हुए थे और उनमेसे कई विद्वानोने राजाओके समक्ष सम्मान भी प्राप्त किया था। उनकी जाति, माता-पिता अथवा जन्मस्थानके विषयमे कुछ भी जानकारी उपलब्ध नही है, फिर भी उनका विहारक्षेत्र राजस्थान और गुजरात था, ऐसा माननेके प्रबल कारण है। सन्मतितर्ककी टीकाके अतिरिक्त उनकी दूसरी कृतिके बारेमे कोई प्रमाण नही है।

---

१. सन्मतिटीका पृ० ३०८ का दूसरा टिप्पण।

प्रशस्तियोंके अनुसार शिष्य-परिवार

	सिद्धसेनीय प्रशस्ति	माणिक्यचन्द्रकी प्रशस्ति	प्रभाचन्द्रकी प्रशस्ति		
१.	अभयदेव	अभयदेव		अभयदेव	
२.	धनेश्वर	जिनेश्वर		धनेश्वर	
३	अजितसिंह	अजितसेन		अजितसिंह	
४.	वर्धमान	वर्धमान		वर्धमान	
५	देवचन्द्र	शीलभद्र		शीलभद्र	
६.	चन्द्रप्रभ	भरतेश्वर	श्रीचन्द्र	पूर्णभद्र	जिनेश्वर
७	भद्रेश्वर	वैरस्वामी	भरतेश्वर	चन्द्र	जिनभद्र
८	अजितसिंह	नेमिचन्द्र	धर्मघोष	प्रभाचन्द्र	पद्मदेव
९	देवप्रभ	सागरेन्दु	सर्वदेव		श्रीचन्द्र
१०	सिद्धसेनसूरि	माणिक्यचन्द्र			

२

मूल और टीका-ग्रन्थका परिचय

ग्रन्थ मात्र विचार या मात्र शब्दरचना नही है, परतु व्यवस्थित एव प्रमाण-बद्ध सपूर्ण विचार और उसका अभिव्यजक समुचित शब्दविन्यास—इन दोनोकी सयोजनाका नाम ही ग्रन्थ है। यहाँपर मूल सन्मति और उसकी टीका इन दोनो प्रस्तुत ग्रन्थोके शाब्दिक एव आर्थिक स्वरूपसे सम्बद्ध कतिपय बातोका परिचय प्राप्त करे, उससे पहले तीन बातोका सामान्य रूपसे दिग्दर्शन हम कराना चाहते है। वे है: १ रचनाका उद्देश्य, २ प्रेरक सामग्री, और ३. रचनाका प्रभाव।

१. रचनाका उद्देश्य—जैन दर्शनकी प्राणरूप और जैन आगमोकी कुंजीरूप अनेकान्तदृष्टिका व्यवस्थित और नये सिरेसे निरूपण करना, तर्कशैलीसे उसका पृथक्करण करके तार्किकोमे उसकी प्रतिष्ठा स्थापित करना; दर्शनान्तरोमे जैन

दर्शनका क्या स्थान है अथवा जैन दर्शनके साथ दर्शनान्तरोंका क्या सम्बन्ध है, यह दिखलाना, अनेकान्तदृष्टिमेंसे फलित होनेवाले दूसरे वादोंकी मीमांसा करना, अपने समयतक दार्शनिक प्रदेशमें चर्चित होनेवाले मुद्दोंका अनेकान्त-दृष्टिसे निरूपण करना; और नवीन स्फुरित विचारणाओंको प्राचीन एवं प्रति-ष्ठित अनेकान्तदृष्टिका आश्रय लेकर विद्वानोंके सामने रखना—यह मूल ग्रन्थकी रचनाके पीछे रहा हुआ मूलकार सिद्धसेनका उद्देश्य है।

मूल ग्रन्थकी रचनाके उपर्युक्त उद्देश्यके अतिरिक्त टीकाकी रचनाके पीछे टीकाकारका उद्देश्य कुछ अधिक है, और वह यह कि अपने समयतक दार्शनिक प्रदेशमें चर्चित और विकसित सभी वादोंके विषयमें विस्तार एवं गहराईसे चर्चा—खण्डन-मण्डन करके उन सबके बारेमें जैन मन्तव्यका स्पष्टीकरण करना और इस प्रकार अनेकान्तवादकी चर्चामें अनेक नये मुद्दोंका समावेश करके उसमें विशालता लाना।

२. **प्रेरक सामग्री**—एक विशिष्ट ग्रन्थकार जब कोई रचना करता है, तब उसका मुख्य उद्देश्य अपनी मानी हुई विचार-परम्पराका विशेषत्व बतलानेका होता है। वह विचार-परम्परा सर्वथा नवीन नहीं होती, फिर भी विशिष्ट ग्रन्थकार उसमें नवीनता लाता है। ऐसी नवीनताके कारण इस प्रकार गिनाये जा सकते हैं (क) पूर्वकी सभी विरोधी तथा अविरोधी परम्पराओंका अभ्यास, (ख) गहरा निरीक्षण, (ग) खण्डन द्वारा, विरोधियोंके आक्षेपोंके परिहार द्वारा या तुलना द्वारा अपनी विचार-परम्पराके विशेषत्वका स्थापन, और (घ) प्रतिभाजनित नयी व्यवस्था अथवा नया स्फुरण।

वेद एवं उपनिषदोंके अभ्यासके परिणामस्वरूप मीमांसासूत्रोंका जन्म हुआ। पूर्वकी तर्क-परम्पराओं, पदार्थविचार-परम्पराओं और साधकोंके मार्गोंकी परम्पराओंके अभ्यासके फलस्वरूप न्याय, वैशेषिक, सांख्य और योगसूत्रोंका उद्भव हुआ। आगम तथा पिटकके अभ्यासके परिपाकस्वरूप बादका जैन और बौद्ध तर्कसाहित्य पैदा हुआ। नवसर्जनके समय सर्जकको अमुक पूर्व-परम्पराके विषयमें बलवान् आदर होता है और फिर भी उसे उसमें कुछ कमी महसूस होती है। उस कमीको दूर करनेकी सामर्थ्य जब वह अपनेमें देखता है, तब आसपास बहती विचारधाराओंमेंसे अमुक उपादान लेकर और उसके साथ अपनी प्रतिभाको जोड़कर अभीप्सित सर्जन करता है और बहुत बार तो वह प्रतिष्ठित भी बनता है। सिद्धसेन और अभयदेवने यही किया। इन मूलकार तथा टीकाकारके बीच समयका जैसा अन्तर था, वैसा ही परिस्थिति-भेद भी था। वैयक्तिक शक्तिभेदके अलावा लोगोंकी माँग भी भिन्न-भिन्न थी।

इसीलिए दोनों ग्रन्थोंके बीच मूल-टीकाका सम्बन्ध होनेपर भी गुरु-शिष्यकी तरह काफी अन्तर पड गया है। समकालीन ग्रन्थोके सर्जन भी बहुत बार देश-भेद एव आवश्यकता-भेदके कारण भिन्न-भिन्न प्रकारके होते हैं। प्राकृत तथा संस्कृत भाषाके गहरे अभ्यासके अतिरिक्त इन दोनो भाषाओमे रचित अपने-अपने समयतकके जैन-जैनेतर दर्शनोंकी विविध शाखाओकी दार्शनिक ग्रन्थराशिका अभ्यास (जिसका कुछ ख्याल सटीक सन्मतितर्कके परिशिष्ट ६ और १० परसे आ सकेगा)—इन सबने सिद्धसेन और अभयदेवको ग्रन्थ रचनेमें मुख्य प्रेरणा प्रदान की है।

३. **रचनाका प्रभाव**—मूल ग्रन्थ सन्मतिकी रचना होते ही तत्काल उसका अजीब प्रभाव जैन वाङ्मयके ऊपर पडा। पाँचवी शतीसे लेकर वर्तमान शतीतकके प्रतिष्ठित एव अभ्यासी श्वेताम्बर और दिगम्बर विद्वानोंमेसे किसीने सन्मतिका जैन दर्शनके एक प्रभावक ग्रन्थके[1] रूपमे वर्णन किया है, तो किसी दूसरेने अपने विचारोकी पुष्टिमे उसका आधार लिया है[2]। अनेकोने उसपर टीकाएँ लिखी है,[3] तो दूसरे किसीने उसका आश्रय लेकर अनेक नये स्वतत्र प्रकरणोकी रचना की है[4]। किसीने सन्मतिके अमुक अलग पडनेवाले खास विचारोका खण्डन करनेके लिए प्रौढ और अभ्यासपूर्ण प्रकरण लिखे हैं,[5] तो किसीने पुन उन्ही विचारोका समन्वयकर उसकी प्रतिष्ठा बढ़ायी है[6]। सक्षेपमे ऐसा कहा जा सकता है कि जैन वाङ्मयमे तर्कशैलीकी जमी हुई प्रतिष्ठा अधिकाशत. सन्मतिकी रचनापर ही आश्रित है।

जैन वाङ्मयके ऊपर टीकाकी रचनाका प्रभाव मुख्य रूपसे तीन बातोमे दृष्टिगोचर होता है। दसवी शताब्दीके पीछेके जैन वाङ्मयमे प्रसन्न शैलीसे सस्कृत भाषामे लिखनेकी जो पद्धति देखी जाती है, विशाल और विशालतर परिमाणवाले ग्रन्थ रचनेकी जो भावना दिखायी पडती है और विविध जैनेतर दर्शनोके ग्रन्थोका अभ्यास करके जैन साहित्यको विकसित करनेकी जो तीव्र

---

१. जिनदासगणिमहत्तर आदिने।
२. हरिभद्र, गन्धहस्ती आदिने।
३. मल्लवादी, सुमति आदिने।
४. उपाध्याय यशोविजयजीने।
५. जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण आदिने।
६. देखो ज्ञानबिन्दु पृ० १६४।

वृत्ति उदित प्रतीत होती है—इन सबमें सन्मतिकी प्रस्तुत टीकाके प्रभावका खास हिस्सा है। यह बात इस टीका और उसके बादके जैन संस्कृत वाङ्मयकी तुलना करनेसे स्पष्ट जानी जा सकती है।

१. शाब्दिक स्वरूप

ग्रन्थके शाब्दिक स्वरूपसे सम्बद्ध नाम, भाषा, रचनाशैली, परिमाण और विभाग इन पाँच बातोपर यहाँ विचार किया जायगा।

नाम

पहलेके चार भागोके प्रारम्भमे 'सम्मतितर्कप्रकरण' और पाँचवे भागमे 'सन्मतिप्रकरण' ऐसा नाम छपा हुआ देखकर पाठकोको इस परिवर्तनका कारण जाननेकी इच्छा हो सकती है। 'सम्मति' इस नामके औचित्यके विषयमे तनिक शका होनेपर भी पहले उसे पसन्द करने और छपानेके पीछे तीन कारण थे : (१) सम्प्रदायमे विद्वान् समझे जानेवाले प्रत्येक साधुके मुँहसे 'सम्मति' इसी एकमात्र नामका सुना जाना, (२) लिखित प्रतियोके अधिकाश भागमे 'सम्मति' नामका उल्लेख, और (३) श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदायके प्राचीन ग्रन्थोके अतिरिक्त सबसे अन्तिम उपाध्याय यशोविजयजी जैसोके ग्रन्थोमे उद्धृत अवतरणोमे भी 'सम्मति' ऐसे उल्लेखका दीख पड़ना।

जिस पुष्ट प्रमाणके कारण बादमे नाम बदलनेकी इच्छा हुई, वह है धनजय-नाममालामे आये हुए महावीरके अनेक नामोमेसे एक नाम सन्मतिका होना[1]। यह बात मालूम होते ही पहलेके सम्मति नामके औचित्यके बारेमे जो शकाएँ थी, वे दूर हो गयी और ऐसा लगा कि ग्रन्थकारका अभिप्रेत नाम 'सन्मति' ही होना चाहिए, क्योंकि एक ओर वह महावीरका वाचक होनेसे ग्रन्थका महावीरके साथ सम्बन्ध सूचित करता है, तो दूसरी ओर वह श्रेष्ठमति अथवा श्रेष्ठ मतिवाला ऐसा अर्थ श्लेषके द्वारा सूचित करके ग्रन्थकर्ताका योग्य स्थान भी बतलाता है। महावीरवाचक 'सन्मति' नाम उनके मुख्य सिद्धान्तके प्रतिपादक ग्रन्थके साथ जितना अधिक जँचता है, उतना 'सम्मति' नाम उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। यह औचित्य स्पष्ट होते ही लिखित प्रतियोमे कई स्थानोपर 'सन्मति' ऐसा जो

---

१. सन्मतिर्महतिवीरो महावीरोऽन्त्यकाश्यपः।

—धनंजयनाममाला, ११६।

उल्लेख मिलता था, उसका खुलासा हो गया और ऐसा महसूस हुआ कि सही पाठ सन्मति ही होना चाहिए।

सन्मतिके स्थानमे सम्मति पाठ कैसे दाखिल हुआ, इसका विचार करनेपर ऐसा प्रतीत होता है कि मूल ग्रन्थ प्राकृतमें होनेसे ग्रन्थकारने उसका प्रथम नाम प्राकृतमे ही रखा होगा और वैसे प्राकृत नामका उल्लेख कहीं-कहीं मिलता भी है। संस्कृत रूप सन्मतिका प्राकृत व्याकरणके नियमके अनुसार 'सम्मइ' रूप बनता है। जबतक यह प्राकृत नाम प्राकृतरूपमे ही व्यवहारमे रहा, तबतक तो उसमे कोई भी भ्रम पैदा न हुआ, परन्तु जब उसपरसे सस्कृत रूप बनाकर उसका व्यवहार शुरू हुआ, तब जो लोग महावीरका सस्कृत नाम सन्मति भी है ऐसा नही जानते थे, वे मात्र 'इ' के स्थानमे 'ति' रखकर प्राकृत 'सम्मइ'के स्थानमे सस्कृत 'सम्मति' रूप ही समझने, बोलने और लिखने लगे। इस कारण सस्कृत भाषामे भी लेखकोके हाथसे 'सम्मति' रूप लिखा जाने लगा और इसके परिणामस्वरूप लिखित प्रतियोमे लम्बे अरसेसे यह रूप प्राय प्रयुक्त होने लगा। इसका परिणाम यह आया कि एक ही लिखित प्रतिमे कही 'सम्मति' तो कही 'सन्मति' ऐसे दोनों पाठ दाखिल हुए और सामान्य व्यवहार तथा बोलचालमे एकमात्र 'सम्मति' नाम ही रहा और यही नामभ्रमका कारण बना। दिगम्बर-परम्परामे 'सन्मति' नाम भगवान् महावीरके एक नामके रूपमे प्राचीन कालसे ही विशिष्ट ग्रन्थोमे प्रसिद्ध रहा,[1] इससे उनके साहित्यमे जहाँ प्रसग आया है, वहाँ प्राय सर्वत्र एक 'सन्मति' रूप ही मिलता है। श्वेताम्बर-परम्परामे यदि इस रूपकी महावीरके नामके रूपमे विशेष प्रसिद्धि होती, तो उक्त भ्रम पैदा ही न होता। प्राकृतमे 'सम्मइ' और सस्कृतमे 'सन्मति' इतना ही नाम प्राचीन ग्रन्थोके अवतरणोपरसे निश्चित होता है। ऐसा होनेपर भी उसके साथ तर्क शब्दका व्यवहार बहुत ही प्रसिद्ध हो गया है और यह व्यवहार ग्रन्थके विषय तथा ग्रन्थकारकी तर्कदृष्टिको देखनेपर बराबर योग्य भी है। इसीलिए इस प्रचलित व्यवहारको मान्य रखकर हमने 'सम्मतितर्क' ऐसा नाम पहले चार भागोमे छपाया था, परन्तु अन्तिम पाँचवे भागमे प्राचीन नाम 'सन्मतिप्रकरण' ही छपाया है।

पाँचवे भागमे तीसरे काण्डके प्रारम्भके पृष्ठोपर 'सन्मतिप्रकरणम्' नाम छपा है, परतु बाहरके तथा अदरके मुखपृष्ठपर तथा प्रस्तावनाके भी कई स्थानोपर पूर्वके अध्याससे 'तर्क' शब्द रह गया है। पाठक, आशा है, उसे सुधारकर पढेगे।

---

१. देखो दिगम्बरीय 'महावीरचरित्र' के प्रथम श्लोकका हिन्दी अनुवाद।

सन्मति नामका प्रस्तुत ग्रन्थ 'प्रकरण' कहलाता है, और इसका टीकाकारोंने पहलेहीसे प्रकरणके रूपमें निर्देश भी किया है। प्रकरणका सामान्य अर्थ इतना ही किया जा सकता है कि किसी भी एक विषयका मुख्य रूपसे अवलबन लेकर, अतिविस्तार न करके, गद्य या पद्यमें उसका विवेचन करनेवाला ग्रन्थ।

टीकामें प्रत्येक काण्डके अन्तमें आये हुए उल्लेखपरसे यह तो निश्चित है कि टीकाकारने अपनी टीकाका नाम 'तत्त्वबोधविधायिनी' रखा है। टीकाकारने अपनी प्रस्तुत सन्मतिकी व्याख्याके लिए टीका शब्द नही, परन्तु वृत्ति शब्दका प्रयोग किया है। टीकाकार अभयदेवका जो बिखरा हुआ बहुत ही थोडा परिचय मिलता है, उसमें उनकी कृतिके रूपमें 'वादमहार्णव'का ही उल्लेख है[1]। विचार करनेपर स्पष्ट प्रतीत होता है कि प्रस्तुत 'तत्त्वबोधविधायिनी' सन्मतिवृत्तिका 'वादमहार्णव' ऐसा दूसरा अनुरूप नाम पीछेसे प्रशस्ति-लेखक विद्वानोंने अथवा दूसरे किसीने दिया है। इस मान्यताकी पुष्टिमें यहाँ तीन दलीलें दी जाती हैं :

(१) प्रस्तुत अभयदेवकी कृतिके रूपमें कही भी उनके परिचयमें सन्मतिकी अतिमहती और अतिगम्भीर 'तत्त्वबोधविधायिनी' नामक टीकाके उल्लेखका न होना और केवल 'वादमहार्णव' के उल्लेखका होना, (२) तत्त्वबोधविधायिनी टीकामें आये हुए सभी वाद बहुत लम्बे और बहुत जटिल होनेसे उसके लिए वादमहार्णव नामका अधिक औचित्य, और (३) स्याद्वादमजरी[2] आदिमें वादमहार्णव नामके साथ मिलनेवाले अवतरणोका अक्षरश तत्त्वबोधविधायिनी टीकामें उपलब्ध होना।

तत्त्वबोधविधायिनी नाममें तत्त्व शब्दसे शुरू होनेवाले तत्त्वसग्रह, तत्त्ववैशारदी आदि प्रसिद्ध ग्रन्थोंके नामसादृश्यकी प्रतिध्वनि है।

भाषा

सन्मतिकी भाषा प्राकृत है। वह शौरसेनी, मागधी या पैशाची आदि विशिष्ट प्राकृत नहीं है, परन्तु सामान्य एव व्यापक प्राकृत है। उसका स्वरूप ग्रन्थकारका समय निर्णीत करनेमें उपयोगी नहीं हो सकता, क्योंकि जो भाषाएँ एक बार व्यवहारमेंसे हटकर शास्त्रीयताका रूप धारण कर लेती हैं, उनके विशिष्ट अभ्यासी विद्वान् चाहे जिस समयमें रहनेपर भी अपने अभ्यासके बलपर अपनेसे बहुत पहलेके समयमें प्रचलित भाषाका उपयोग करके वैसी ही रचना कर सकते हैं।

---

१. देखो पृ० ७०-१ पर के टिप्पण।

२. देखो पृ० ७२ टिप्पण १।

ऐसा होनेपर भी सन्मतिकी भाषाके उपलब्ध स्वरूपपरसे इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि दक्षिण भारतमें रचित और सुरक्षित प्राकृत जैन ग्रन्थोंमे जो विशिष्ट 'द'कार आदि लक्षण है, वे सन्मतिमे नही है। इसपरसे उत्तर अथवा पश्चिम भारतमे ग्रन्थरचनाके सम्भवको पुष्टि मिलती है। इस ग्रन्थकी सुरक्षा और प्रचार मुख्यत. उत्तर एव पश्चिम भारतमे हुए है, यह तो इसकी उपलब्ध प्रतियों, इसके टीकाकार और बादके ग्रन्थोमे इसके विशेष परिमाणमे हुए उपयोगपरसे स्पष्ट ही है।

भाषाके बारेमे यहाँ एक प्रश्न विचारणीय है और वह यह कि ग्रन्थकारकी उपलब्ध निश्चित कृतियोमे सन्मतिको छोडकर दूसरी सब कृतियाँ सस्कृतमें है। इससे ग्रन्थकार सस्कृतके विशिष्ट प्रभाववाले समयमे हुए हो अथवा तो उनके ऊपर सस्कृत भाषाका विशिष्ट प्रभाव पडा हो, ऐसा क्या माना जा सकता है? अलबत्ता ऐसा ही लगता है। प्राचीन जैन वाङ्मय प्राकृत भाषामे ही लिखा गया था, यह तो निर्विवाद है। उपलब्ध समग्र जैन साहित्यमे वाचक उमास्वातिकी कृतियाँ ही प्रथम जैन सस्कृत कृतियाँ है। उनके पहले किसीने सस्कृतमे ग्रन्थ लिखे हो, ऐसा प्रमाण अभीतक नही मिला है। इससे इस समय तो ऐसा कहनेमे तनिक भी बाधा नही है कि जैन साहित्यमे सस्कृत भाषाको सर्वप्रथम स्थान देनेवाले वाचक उमास्वाति है। उनके द्वारा जैन साहित्यमे सस्कृत भाषाका द्वार खुलनेपर प्राचीन प्रथाके अनुसार प्राकृत ग्रन्थरचनाके साथ-साथ सस्कृतमे भी ग्रन्थरचना होने लगी। सिद्धसेन दिवाकर जन्मसे ही सस्कृत भाषाके तथा दार्शनिक विषयोके अभ्यासी थे। जैन दीक्षा अगीकार करनेके पश्चात् उन्होने प्राकृतका विशिष्ट अभ्यास तो कर लिया, परन्तु उनके ऊपर विशिष्ट सस्कार तो सस्कृतके ही थे। इस कारण उनकी सस्कृत कृतियाँ अधिक मिलती है। प्राकृतमे इस समय निर्विवाद रूपसे उनकी कृति सन्मति ही है। उसमे प्रसग और अभ्यासके कारण यद्यपि प्राकृत शब्दोंका प्रयोग दिखायी पडता है, फिर भी कितने ही ऐसे प्राकृत रूप भी है, जो उनपरके विशिष्ट सस्कृत प्रभावकी साक्षीरूप है[1]।

टीकाकी भाषा तो सस्कृत है। उसमे शकराचार्य और वाचस्पति मिश्र जैसे प्रौढ विद्वानो द्वारा पल्लवित-पुष्पित सस्कृत भाषाका परिपाक दृष्टिगोचर होता है।

---

१. 'सुविणिच्छियामो', 'विभज्जवायं', 'आकुंचणकालो' इत्यादि।

रचनाशैली

समग्र सन्मतिकी रचना पद्यमय है। उसमे सभी पद्य आर्या छन्दमे हैं। ऐतिहासिक विद्वानोकी समयनिर्णय विषयक एक कसौटी ग्रन्थकार द्वारा की गयी छन्दकी पसन्दगी भी है, परन्तु इस ग्रन्थमे प्रयुक्त छन्द समयनिर्णयके बारेमे उपकारक हो सके ऐसे नहीं हैं, क्योकि पूर्वके और बादके प्राचीन ग्रन्थोमे यद्यपि अनुष्टुप् एव उपजाति आदि छन्दोंमे प्राकृत रचना मिलती है, फिर भी प्राकृत पद्यकृतियोमे प्राचीन समयसे लेकर अठारहवी सदीतक आर्या छन्द ही मुख्य रूपसे प्रयुक्त हुआ है। प्राकृत पद्यकृतियोमे आर्याका प्राधान्य देखते हुए ऐसा लगता है कि यह छन्द दूसरे सब छन्दोकी अपेक्षा प्राकृत भाषाको विशेष अनुकूल है। इसीलिए ग्रन्थकारने यह छन्द पसन्द किया है। इस पसन्दगीमे समयका विशेष प्रभाव परिलक्षित नही होता। इस छदोबद्ध रचनापरसे जो एक सामान्य अनुमान स्फुरित होता है, वह यह कि जैसे ब्राह्मण विद्वानोमे सूत्र-रचनाकी जमी हुई प्रतिष्ठाने वाचक उमास्वातिको सस्कृतमे जैन-सूत्र रचनेकी प्रेरणा की, वैसे ही दार्शनिक क्षेत्रमे छन्दोबद्ध रचनाकी जमती हुई प्रतिष्ठाने दिवाकरश्रीको भी छन्दोबद्ध रचनामे दार्शनिक चर्चा करनेकी प्रेरणा की। ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रन्थकारके सामने छन्दोबद्ध ग्रन्थोमे नागार्जुनकी 'मध्यमक-कारिका' जैसे बौद्ध ग्रन्थ, ईश्वरकृष्णकी 'साख्यकारिका' आदि जैसे वैदिक ग्रन्थ तथा प्राचीन निर्युक्ति और भाष्य जैसे जैन ग्रन्थ भी होगे।

टीकाकी रचना पद्यमे नही, किन्तु गद्यमे है। प्रारम्भमे मगल एव प्रयोजन-सूचक पद्य और अन्तकी प्रशस्तिके तीन श्लोक बाद करनेपर समग्र ग्रन्थ ही निरपवादरूपसे गद्यमय है। उसमे बीच-बीचमे यत्रतत्र अनेक पद्य तो आते हैं, परन्तु वे स्वय टीकाकारके नही हैं, मात्र उद्धरणके रूपमे वे लिये गये है। टीका-की गद्यशैली 'प्रमेयकमलमार्तण्ड' और न्यायकुमुदचन्द्र' जैसी प्रसन्न एव अर्थ-पूर्ण है। दसवी सदी पहलेके श्वेताम्बरीय सस्कृत वाङ्मयमे प्रस्तुत टीकाकी कक्षामे रखा जा सके, ऐसी शैलीवाला दूसरा कोई ग्रन्थ अभीतक हमारे देखनेमे नही आया। इस टीकामे ग्यारहवी सदीके पीछेके ग्रन्थोमे दिखाई पडनेवाला शब्दाडम्बर अथवा विरोधियोके प्रति कटाक्षभाव नही है।

परिमाण

मूल ग्रन्थका परिमाण वसुबन्धुकी विंशिका या त्रिंशिका जैसा एकदम छोटा, अथवा पीछेके जिनभद्रगणीके विशेषावश्यकभाष्य जैसा अतिविस्तृत नही है,

किन्तु मध्यम कक्षाका है। इसमे १६७ पद्य है, ऐसा सटीक संस्करणके प्रथम भागके निवेदनमे हमने लिखा है, परन्तु वस्तुत १६६ पद्य ही हैं, क्योंकि टीकावाली किसी भी प्रतिमें जो एक पद्य नही है, वह मूलमात्रकी लिखित एवं मुद्रित प्रतिमें देखा जाता है। यह एक पद्य ग्रन्थके अन्तिम पद्यके पहले आया है और उसपर टीका न होनेसे वह किसी समय पीछेसे प्रक्षिप्त हुआ है, यह निर्विवाद है। उस पद्यमे अनेकान्तवादका सयुक्तिक गौरव प्रदर्शित करके उसे नमस्कार किया गया है। इसपरसे ऐसा लगता है कि किसी अनेकान्तप्रिय कुशल विद्वान्ने ग्रन्थके स्वरूप और अनेकान्तके महत्त्वसे आकर्षित हो इस पद्यकी रचना करके वह मूलमे जोड दिया होगा। वह पद्य इस प्रकार है :

जेण विणा लोगस्स वि ववहारो सव्वहा न णिव्वडइ।
तस्स भुवणेक्कगुरुणो णमो अणेगतवायस्स ॥

अर्थात् जिसके बिना लोगोका व्यवहार भी सर्वथा सिद्ध नही होता, उस भुवनके एकमात्र गुरु—पूज्य अनेकान्तवादको नमस्कार हो।

टीकाका परिमाण २५,००० श्लोक जितना है। दसवी सदी पूर्वके श्वेताम्बरीय या दिगम्बरीय वाङ्मयमे जो सबसे बडे सम्कृत दार्शनिक ग्रन्थ मिलते है, उनमेसे एक भी ग्रन्थ परिमाणकी दृष्टिसे प्रस्तुत टीकाके जितना विशाल नही है। दसवी शताब्दी पहलेके किसी ब्राह्मण, बौद्ध या जैन सस्कृत दर्शनग्रन्थका परिमाण २५,००० श्लोक जितना हो, ऐसा निश्चय करानेवाला प्रमाण आजतक हमे नही मिला है। इससे यह कहा जा सकता है कि शायद अभयदेवने अपने पूर्ववर्ती और समसामयिक विद्वानोके साथ ग्रन्थपरिमाणके बारेमें स्पर्द्धा करनेका और उसमे सबसे आगे रहनेका प्रयत्न किया हो। पहली सदीसे लेकर दसवीं सदीतकके भारतीय सस्कृत दार्शनिक वाङ्मयमे परिमाणका जो क्रमश उत्तरोत्तर प्रकर्ष होता आया है, उसका चरम पर्यवसान इस टीकामे देखा जाता है।

विभाग

मूल ग्रन्थ साख्यकारिका जैसा अविभक्त नही है, परन्तु प्रवचनसारकी तरह तीन भागोमे विभक्त है। मूल मात्रकी तथा टीकावाली सभी प्रतियोमे तीनो विभागोंका निर्देश काण्डके नामसे किया गया है। टीकाकारने तीनो विभागोके अन्तमे अनुक्रमसे 'प्रथम काण्डम्', 'द्वितीयकाण्डम्', 'तृतीयकाण्डम्' इतना ही लिखा है, इन काण्डोको विषयसूचक कोई विशेषण नही दिया। मात्र मूल पद्योकी एक लिखित प्रतिमे और मुद्रितमे प्रथम काण्डका 'नयकड' और द्वितीय काण्डका

'जीवकंडयं'के नामसे निर्देश किया गया है, परन्तु तीसरे विभागके अन्तमें न तो सामान्य काण्ड शब्द ही है और न विशेषणयुक्त काण्ड शब्द। पहले विभागका 'नयकंडं' नाम यथार्थ है, क्योंकि उसमे नयकी ही चर्चा आती है; परन्तु दूसरे काण्डका 'जीवकडय' नाम ठीक नही है, क्योंकि उस विभागमे जीवके पूर्ण स्वरूपकी चर्चा नही है, किन्तु उसमे आदिसे अन्ततक मुख्य चर्चा ज्ञानकी ही है। इससे उस काण्डको ज्ञानकाण्ड या उपयोगकाण्ड कहना ही समुचित होगा। तीसरे विभागके अन्तमे तो कोई विशेष नाम नही है। इसपरसे ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रन्थकारने तो मात्र तीनो विभागोको काण्ड ही कहा होगा और किसीने बादमें विषयकी दृष्टिसे 'नयकड' जैसे विशेष नाम लगा दिये होगे और ऐसा करनेमे दूसरे काण्डको 'जीवकडय' कहनेकी अयथार्थता आ गयी होगी अथवा तो लेखककी कुछ भूल हो गयी होगी। विशेष नाम जोडनेवालेने तीसरे काण्डको विशेष नाम दिया होगा या नहीं और यदि दिया होगा, तो फिर बादकी प्रतिलिपियोमेसे वह कैसे छूट गया होगा, यह कहना कठिन है। इसका विशेष निर्णय करनेके लिए तो मूलकी अनेक प्राचीन एव अर्वाचीन प्रतियाँ प्राप्त करनी चाहिए। इन तीनो विभागोको विषयानुरूप नयमीमासा, ज्ञानमीमासा और ज्ञेयमीमासा ऐसे जो नाम मुद्रित भागोमें छपे है, वे हमने ही सरलता एव स्पष्टताकी दृष्टिसे दिये है।

'काण्ड' सज्ञा अथर्ववेद, शतपथ ब्राह्मण आदि प्राचीन वैदिक ग्रन्थोमे तथा रामायण जैसे प्राचीन काव्यमे प्रसिद्ध है ही। काण्ड शब्दका प्रयोग अरण्यवासका परिणाम है। प्राचीन जैन वाङ्मयमे तो कहीपर भी काण्ड नामका प्रयोग उपलब्ध नही होता। जहाँतक हम जानते हैं वहाँतक जैन ग्रन्थोमे काण्ड नामका प्रयोग सबसे पहले सन्मतिमे ही हुआ है। आचार्य हेमचन्द्रने अपने कोशमे काण्डके नामसे विभाग किये है, परन्तु वह तो बादकी बात है और वह बहुधा अमर, त्रिकाण्ड आदि कोशग्रन्थोका ही अनुकरण है। काण्डका प्राकृत 'कड' या 'कडय' है। इससे कुछ मिलता-जुलता और नजदीकका प्राकृत शब्द 'गडिका' है। यह शब्द दृष्टिवाद नामक लुप्त बारहवे महान् जैन अगके भागोके लिए प्रयुक्त होता था, ऐसा उल्लेख मिलता है। गडिकाका सस्कृत रूप कडिका हो सकता है और 'कण्डिका' शब्द उपनिषदोके अमुक मत्रभागके लिए प्रयुक्त देखा भी जाता है। अत. यह स्पष्ट है कि दृष्टिवादके खास भागोके लिए प्रसिद्ध गडिका शब्द कडिका-की प्रतिकृति है, काण्डकी नही।

समग्र सन्मति ग्रन्थको 'सुत्त' कहा जाता है। प्रत्येक गाथाको भी 'सुत्त' कहा है। 'सुत्त' शब्द प्राकृत और पालि भाषामे प्रसिद्ध है। प्रत्येक जैन आगम इस समय एक अखण्ड 'सुत्त' कहा जाता है (जैसे कि आयारगसुत्त, सूयगडांग-

सुत्त इत्यादि), परन्तु उसके विशिष्ट छोटे-छोटे भागोमें 'सुत्त' शब्दकी प्रसिद्धि तो बहुत प्राचीन समयसे चली आती है। पालि पिटकमेंसे कोई एक समूचा ग्रन्थ सुत्त नही कहलाता, परन्तु उसके अमुक-अमुक प्रकरण ही सुत्तके नामसे प्रसिद्ध हैं, जैसे कि—ब्रह्मजालसुत्त, सिंहनादसुत्त इत्यादि। इसी तरह दीघनिकाय आदि ग्रन्थराशि भी सुत्तपिटक पदसे व्यवहृत है। एक सुत्तनिपात ग्रन्थ अवश्य ऐसा है, जिसके मूल नाममे 'सुत्त' पद है। 'सुत्त' इस प्राकृत और पालि पदका सस्कृतरूप 'सूत्र' और 'सूक्त' दोनो हो सकता है। जैन या बौद्ध वाङ्मयमे प्रयुक्त 'सुत्त' पदका जहाँ-जहाँ सस्कृत रूप व्याख्याकारोने किया है, वहाँ-वहाँ सर्वत्र 'सूत्र' ऐसा सस्कृत रूप ही लिया है; कहीपर भी 'सूक्त' रूप दिखायी नही पडता। परन्तु सस्कृतजीवी वैदिक वाङ्मयमें सूक्त और सूत्र ये दोनो रूप बहुत प्राचीन समयसे प्रयुक्त होते आये हैं। वेद जैसे सर्वप्राचीन ग्रन्थोमें मण्डलके अमुक विशिष्ट भागको सूक्त कहते हैं। इसमे अनेक ऋचाएँ होती हैं। सूत्र शब्द तो छोटे-छोटे गद्यवाक्योके लिए पाणिनीय आदि व्याकरण ग्रन्थोमे तथा श्रौत, स्मार्त एव दर्शन आदि सूत्रग्रन्थोमे ही प्रयुक्त हुआ है। यद्यपि जैन और बौद्ध ग्रन्थोमे प्राचीन समयसे प्रयुक्त होनेवाला सुत्त शब्द इस समय तो इन दोनों सम्प्रदायोमे सस्कृत 'सूत्र' के रूपमें ही अनूदित हुआ है, तथापि जिन और जितने बड़े प्रकरणोके लिए 'सुत्त' शब्दका प्रयोग होता है, उनके साथ वैदिक 'सूक्त' नामसे प्रसिद्ध प्रकरणोकी तुलना करनेपर ऐसी कल्पना होती है कि प्राचीन सूक्तका ही रूप सुत्त तो नही होगा ? और बादमे सूत्रकालमें सूत्र शब्दकी जमी हुई प्रतिष्ठाके कारण ही सुत्तका सूत्ररूपमे सस्करण तो नही हुआ होगा ? अस्तु, चाहे जो हो। यहाँ प्रस्तुत इतना ही है कि समस्त सन्मति ग्रन्थ जैसे सूत्र कहलाता है, वैसे ही उसकी प्रत्येक गाथाको भी सूत्र कहते हैं। यह पद्यमे होनेपर भी और पद्यमे सूक्त शब्दका वैदिक प्रयोग प्राचीन कालसे प्रचलित होनेपर भी, जैन परम्पराने उस सरणीका स्वीकार न कर सस्कृतमे एकमात्र सूत्र शब्दके व्यवहारको ही अपनाया है।

'व्याकरण-महाभाष्य', 'न्यायमजरी' आदि कितने ही टीकाग्रन्थोमे मूलकी अपेक्षा भिन्न विभागोकी जैसी आयोजना की गयी है, वैसी आयोजना प्रस्तुत टीकामे नही की गयी है। इसमे तो टीकाकारने मूलके काण्ड-विभागके अनुसार ही तीन विभाग किये हैं। प्रत्येक काण्ड पूर्ण होनेपर टीकाकार भी 'प्रथम काण्ड' इत्यादि कहकर अपनी टीकाका विभाग समाप्त करते हैं। अतः विभागकी दृष्टिसे टीकामे अपनी कोई विशेषता नहीं है।

२. आर्थिक स्वरूप

मूल और टीका दोनों ग्रन्थोंका मुख्य विषय अनेकान्त होनेसे यहाँ आर्थिक स्वरूपके बारेमें मुख्य दो ही मुद्दोंकी चर्चा की जायगी : पहला है अनेकान्त और दूसरा है अनेकान्तसे सम्बद्ध विषय। अनेकान्तकी चर्चामे (१) उसका स्वरूप, (२) ऐतिहासिक विकास, और (३) दर्शनान्तरमें उपलब्ध अनेकान्तवादके साथ उसकी तुलना—इन तीन बातोपर हम अनुक्रमसे विचार करेंगे। दूसरे मुद्दे 'अनेकान्तसे सम्बद्ध विषय'के निरूपणमे (१) अनेकान्तमेंसे फलित होनेवाले वाद, (२) अनेकान्तके आधारसे की गयी दर्शन-ज्ञानमीमासा, और (३) अनेकान्त एव एकान्तके उदाहरण तथा उसकी पूर्णता व विकलता—इन तीन बातोपर हम क्रमश विचार करेंगे।

(क) अनेकान्त

स्वरूप व्याख्या—किसी भी वस्तुको उसके अनेक (सभी सम्भव) पहलुओंसे देखना-जाँचना अथवा उस तरह देखनेकी वृत्ति रखकर वैमा प्रयत्न करना ही अनेकान्तदृष्टि है।

ऐतिहासिक विकास—भगवान् महावीरसे पहले भारतीय वाङ्मयमे अनेकान्तदृष्टि नही थी, ऐसा तो नहीं कहा जा सकता, परन्तु प्राचीन जैन आगमोके पूर्ववर्ती और समसमयवर्ती दूसरे दार्शनिक साहित्यके साथ तुलना करनेपर यह तो स्पष्ट ही लगता है कि अनेकान्तदृष्टिका स्पष्ट एव व्यवस्थित निरूपण तो भगवान् महावीरके उपदेशरूप माने जानेवाले जैन आगमोमे ही है। उपलब्ध जैन अगग्रन्थोमे अनेकान्तदृष्टिकी तथा उसमेंसे फलित होनेवाले दूसरे वादोकी चर्चा तो है सही, परन्तु वह बहुत सक्षिप्त, बहुत ही थोडे ब्योरेवाली तथा कम उदाहरणोवाली है। आगमपरके निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णि जैसे प्राकृत साहित्यमे यह चर्चा कुछ लम्बी तो अवश्य दिखायी पडती है, परन्तु उसमे तर्कशैली एव दार्शनिक वाद-प्रतिवाद बहुत ही कम है। जैन वाङ्मयमे सस्कृत भाषाका और उसके द्वारा तर्कशैली तथा दार्शनिक खण्डन-मण्डनका प्रवेश होते ही अनेकान्तकी चर्चा विस्तृत बनती है, उसमे नयी-नयी हकीकतोका समावेश होता है और उसके मूल कलेवरके अनुसार उसमें अनेक सप्रमाण विचार-परम्पराएँ स्थान प्राप्त करके योग्य रूपसे व्यवस्थित हो जाती है। सस्कृतजनित इस विकासका पहला दृष्टान्त वाचक उमास्वातिके तत्त्वार्थाधिगमसूत्रके भाष्यमे[1] मिलता है। इसके पश्चात्

---

१. १.३४-५; ५.२९ और ५.३१।

गुप्तकाल और बौद्ध विद्यापीठोंके कारण पूर्व एव उत्तर भारतमे तथा पूर्व एवं उत्तर बौद्धवादियोके साथ चर्चा-प्रतिचर्चा होनेके कारण दक्षिण भारतमें संस्कृत वाङ्मयको, और उसमें भी खास करके तर्कविद्याको, जो बल मिला, उसका असर जैन वाङ्मयके ऊपर भी एकदम शीघ्र और बड़े परिमाणमे हुआ। इसीके फल-स्वरूप हम सिद्धसेन और मल्लवादी, पूज्यपाद और समन्तभद्र, सिंह क्षमाश्रमण और हरिभद्र, अकलक और विद्यानन्द, प्रभाचन्द्र और अभयदेव आदि अनेक विद्वानो द्वारा रचित दसवी सदीतकके सस्कृत जैन वाङ्मयमे अनेकान्तकी उत्तरोत्तर अधिकाधिक विकसित चर्चा देख सकते हैं।

अगसे लेकर चूर्णितकके श्वेताम्बरीय साहित्यमे अनेकान्त या नयवादकी चर्चामे जो औपनिषद अद्वैततत्त्ववाली विचारधाराओंका समन्वय दिखायी नहीं पड़ता, वह समन्वय सिद्धसेन[1] और समन्तभद्रकी[2] स्याद्वादचर्चामे मन्द-मन्द दिखायी पडता है और इसी अद्वैतमीमासाका समन्वय हरिभद्र[3], अकलक[4], विद्यानन्दी[5] तथा अभयदेवके[6] नयवादके निरूपणमे स्पष्ट एव विस्तारपूर्वक दृष्टिगोचर होता है। ब्रह्माद्वैत, शब्दाद्वैत, द्रव्याद्वैत इत्यादि अद्वैतोके जो नाम प्राकृत जैन वाङ्मयमे नही मिलते, वे ही नाम विस्तृत शास्त्रार्थके साथ पिछले सस्कृत जैन वाङ्मयमे मिलते हैं और वे सब वाद सग्रहनयके उदाहरणके रूपमे व्यवस्थित हो जाते हैं। प्राकृत जैन वाङ्मयमे ऋजुसूत्रके उदाहरणके रूपमें सामान्यत जिस बौद्ध दर्शनका ही नाम था, उसके स्थानमे पिछले सस्कृत जैन तर्कग्रन्थोमे बौद्धदर्शनकी माध्यमिक आदि चारो शाखाएँ आती हैं[7] और अभयदेव जैसे विस्ताररुचि आचार्य तो उस समन्वयको फैलाकर उक्त चारो शाखाओको ऋजुसूत्रनयसे लेकर एवम्भूततकके चारो नयोमे किसी-न-किसी तरह व्यवस्थित करनेका प्रयत्न करते हैं। यह तो लगभग दसवी शताब्दीतकके अनेकान्तवादके विकासकी बात हुई, परन्तु उसके पीछेके अठारहवी शताब्दीतकके साहित्यमे भी यह विकास देखा जा सकता है। वादी देवसूरि, आचार्य हेमचन्द्र और अन्तमे उपाध्याय यशोविजयजीके साहित्यमे

---

१. सन्मति काण्ड १ गा० २७ और ५१ तथा काण्ड ३ गा० ४८।
२. आप्तमीमांसा श्लो० २४ से।
३. शास्त्रवार्तासमुच्चय श्लो० ५४३ से।
४. लघीयस्त्रयी श्लो० ३, पृ० ५२।
५. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक १.३३ का श्लोक ५३।
६. सन्मतिटीका पृ० २७१।
७. सन्मति १.५ की टीका।

अनेकान्त-विषयक जो चर्चा मिलती है, उसमें पूर्वके साहित्यकी विरासतमेंसे प्राप्त होनेवाले समन्वयके अतिरिक्त दूसरा भी समन्वय देखा जाता है। दार्शनिक क्षेत्रमें जैसे-जैसे नवीन विचारधाराओका उदय होता गया अथवा तो वे विशेष और विशेष विकास साधती गयीं, वैसे-वैसे जैन आचार्य अभ्यास करके उन विचार-धाराओको अपने अनेकान्तनिरूपणमे एक अथवा दूसरे रूपमे समाविष्ट करते गये। द्वैताद्वैत, द्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत आदिकी उत्तरमीमासागत जो चर्चाएँ दक्षिण भारतमे लगभग दसवी शताब्दीके बाद विकसित हुई है, उनका केवला-द्वैतकी भाँति स्याद्वादके निरूपणमे समावेश नही दीखता। इसका कारण यह है कि इस मीमासाकी चर्चाओका अभ्यास करनेवाले प्रबल जैन विद्वान् दक्षिण भारतमे पैदा ही नही हुए और पश्चिम भारतमे जो प्रखर अभ्यासी जैन विद्वान् हुए, उन्हे द्वैताद्वैत आदि मन्तव्योके प्रधान ग्रन्थोका अभ्यास करनेका अवसर ही नहीं मिला। यदि शांकरमतकी भाँति निम्बार्क, मध्व, रामानुज और वल्लभके मतका अभ्यास जैन आचार्योंने किया होता, तो उनके ग्रन्थोमे वे मत नयवादके निरूपणप्रसंगमे स्थान पाये बिना कभी न रहते। इतना ही नही, अनेकान्तवादमें रही हुई विशाल समन्वयशक्ति और जैन आचार्योकी मत-मतान्तरोको नयवादमे समानेकी प्रवृत्तिके इतिहासको देखते हुए ऐसा कहना तनिक भी अत्युक्तिपूर्ण नही है कि यदि जैन आचार्योंने पारसी, इसलाम और ईसाई धर्मका अभ्यास किया होता, तो उनके नयवादके निरूपणमे इन धर्मोंका समन्वय भी कभीका हो गया होता।

अब यहाँ प्रश्न यह है कि उपर्युक्त अनेकान्तके ऐतिहासिक विकासमे मूल सन्मतितर्क और उसकी टीकाका क्या स्थान है? चौथी-पाँचवी शताब्दीके मूल सन्मतिमे[1] न्याय, वैशेषिक, साख्य और बौद्ध दर्शनका ही स्पष्ट रूपमे समन्वय है, जब कि दसवी-ग्यारहवी शताब्दीकी उसकी टीकामे इन चारो दर्शनोके अतिरिक्त पूर्वमीमासा, उत्तरमीमासा, शब्दाद्वैत और माध्यमिक आदि चारो बौद्ध शाखाओके मन्तव्योका विस्तारपूर्वक समन्वय हुआ है।

तुलना

इस समय सामान्यत ऐसी मान्यता प्रचलित है कि अनेकान्तदृष्टि जैन दर्शनका ही एक तत्त्व है और इसपर विचार-विमर्श केवल जैन साहित्यमे ही हुआ है। यह मान्यता कितनी निराधार है, यह दिखलानेके लिए जैनेतर दर्शनोमे

---

१. ३. ४८-५१

उपलब्ध होनेवाले अनेकान्तगामीवादो के साथ जैन अनेकान्तवादकी तुलना करना आवश्यक है। यद्यपि सामान्य रूपसे किसी भी जैनेतर दर्शनमे एक अथवा दूसरे रूपमे अनेकान्तदृष्टिके साथ बराबर मेल खाये ऐसे विचार मिलते ही हैं और जैन अनेकान्तवादके विकासके असरके कारण निम्बार्क, रामानुज और वल्लभके दर्शनमे वैसे विचार विशेष रूपमे पाये जाते है, तथापि यहाँ तो बौद्ध, साख्य-योग और पूर्वमीमासा दर्शनके साथ ही कुछ तुलना करनेका विचार है।

जैन दर्शनमे अनेकान्तदृष्टि शब्द है और बौद्ध दर्शनमे मध्यमप्रतिपदा—मध्यममार्ग शब्द है। वस्तुके किसी एक पहलूकी ओर न ढलकर उसके अनेक पहलुओकी ओर दृष्टि रखना—यह अनेकान्तदृष्टि शब्दका सीधा अर्थ है। इसी प्रकार किसी एक छोरकी ओर न झुककर बीचका मार्ग अगीकार करना ही मध्यमप्रतिपदाका सीधा अर्थ है। इन दोनो शब्दोके सीधे अर्थमे जो साम्य है, उसकी अपेक्षा भी अधिक साम्य तो उनके पीछे रही हुई भावनामे है। अनेकान्तदृष्टि और मध्यममार्ग ये दोनो वाद एक ही भावनाके फल है और वह भावना यानी सत्यनिरूपणकी भावना। सात्त्विक बुद्धिकी वृत्ति तत्त्वगामी होनेसे वह सर्वदा यथार्थकी दिशा ही पकडती है। अत यह स्वाभाविक है कि महावीर या बुद्धकी सात्त्विक बुद्धिमेसे पैदा हुई साम्यभावनाके परिणामस्वरूप ये दोनो समानार्थक वाद उत्पन्न हुए हो। इस साम्यको जैन और बौद्ध दोनों परम्पराओने तत्त्व एव आचार दोनो क्षेत्रोमे अपने-अपने ढगसे उत्तरोत्तर अधिकाधिक विकसाया है।

साख्य, योग और पूर्वमीमासा दर्शनके साहित्यमे अनेकान्तदृष्टिसूचक कोई खास शब्द नही है, फिर भी उनमे अनेकान्तदृष्टिगामी विचार तो बहुत है और वे सुस्पष्ट भी है। साख्य-योगका परिणामवाद और पूर्वमीमासाका उत्पाद-भग-स्थितिवाद,[1] जो कि उपनिषदकी क्षराक्षरभावनाके[2] सूचक है, दोनो जैन अनेकान्तदृष्टिसे तनिक भी भिन्न नही है। अलबत्ता, उनके विषयप्रदेशमे तथा निरूपणमे अन्तर है। साख्य-योगका परिणामवाद चेतन अर्थात् जीवतत्त्वको न छूकर मात्र अचेतन अर्थात् प्रकृतिका ही स्पर्श करके प्रवृत्त होता है और पूर्वमीमासाका उत्पाद-भग-स्थितिवाद चेतनका स्पर्श करता हो ऐसा प्रतीत नही होता, जब कि जैन अनेकान्तवाद चेतन-अचेतन सभी तत्त्वोका स्पर्श करके प्रवृत्त होता है। निरूपणके बारेमे तो बहुत बडा अन्तर है। साख्य, योग या पूर्वमीमासा दर्शनके

---

१. देखो मीमांसाश्लोकवार्तिक पृ० १६९।

२. श्वेताश्वतर उपनिषद् १–८ तथा भगवद्गीता अ० ८, श्लो० ४,१५, १६।

साहित्यमें प्रमेयकी चर्चाके प्रसंगमे परिणामवाद या उत्पाद-भंग-स्थितिवादका निरूपण आता है। इसके अतिरिक्त इन वादोंके विषयमे अधिक विवेचन करने-वाले कोई छोटे या बड़े स्वतंत्र ग्रन्थ नही है, जब कि जैन दर्शनके साहित्यमें इससे उल्टा है। उसमे अनेकान्तदृष्टिका स्थापन करके उसपरके आक्षेपोंको दूर करनेवाले, उसकी बारीकियो एवं विशेषताओको समझानेवाले तथा उसमेंसे फलित होनेवाले दूसरे वादोकी चर्चा करनेवाले सैकडो छोटे-बड़े ग्रन्थ और प्रकरण लिखे गये है। इसका स्वाभाविक प्रभाव दूसरे जैनेतर दर्शनोके ऊपर अत्यन्त स्पष्ट रूपसे पडा है। इसका निश्चय श्रीभाष्य, अणुभाष्य आदि वैदिक ग्रथ देखनेसे हो सकता है।

(ख) सम्बन्धी विषय

मूल एव टीकाके मुख्य विषय अनेकान्तके बारेमे तीन बातोका विचार ऊपर हमने किया। इसी मुख्य विषयके समर्थनके लिए ग्रन्थकारने ग्रन्थके तीनो काण्डोमे उससे सम्बन्ध रखनेवाले जिन विषयोका निरूपण किया है, उनका काण्डके अनुसार मूल और टीकामेसे यहाँ उल्लेख किया जायगा।

फलितवाद

प्रथम काण्डमे ग्रन्थकारने अनेकान्तवादमेसे फलित होनेवाले दो वादोंकी मुख्य रूपसे चर्चा की है। इनमेंसे पहला है नयवाद तथा दूसरा है सप्तभगीवाद। अनेकान्तदृष्टिकी आधारभूत जिन दो दृष्टियोका आगममे बार-बार उल्लेख आता है, उन सामान्यग्राही अर्थात् द्रव्यास्तिक और विशेषग्राही अर्थात् पर्यायास्तिक दृष्टिका पृथक्करण करके ग्रन्थकारने उनमे नयोका बँटवारा किया है[1]। अपने समयतकके तत्त्वदर्शनोका समन्वय करनेकी भावनामेसे भगवान् महावीरने अनेकान्तदृष्टिकी स्थापना की थी। इससे उस समयमे प्रसिद्ध दर्शनोको उनके विचारकी स्थूलता-सूक्ष्मताके क्रमसे सात भागोमे व्यवस्थित करके अनेकान्तदृष्टिके अगके रूपमे स्थान दिया गया था। ये सात भाग जैन आगममे सात नयके नामसे प्रसिद्ध है। दृष्टिका पृथक्करण और उसमे नयोका बँटवारा करनेमे सिद्धसेनकी दो विशेषताएँ है। एक तो यह कि आगमप्रसिद्ध सात नयोको छ नयोमे सकलित करना और दूसरी विशेषता यह है कि प्राचीन परम्पराके अनुसार द्रव्यास्तिक दृष्टिकी जो सीमा ऋजुसूत्रनयतक थी, उसके स्थानपर व्यवहारनयतक ही बाँधना। इन दो विशेषताओके कारण सन्मतिके अनुसार सिद्धसेनका मन्तव्य

---

१. सन्मति का० १, गा० ४, ५।

ऐसा फलित होता है : नैगम कोई अलग और स्वतंत्र नय नही है, परन्तु संग्रहसे एवम्भूततकके छ नय ही स्वतंत्र है और द्रव्यास्तिकवादकी मर्यादा व्यवहारनय-तक ही है। ऋजुसूत्रसे लेकर सभी नय पर्यायास्तिक नयकी मर्यादामे आते है। सिद्धसेनसे पहले षड्नयवाद किसीका था, ऐसा आजतक जाननेमे नही आया। शायद इसी कारण वह षड्नयवादी कहलाते है। सिद्धसेनके द्वारा व्यवहारनय-तक ही बाँधी गयी द्रव्यास्तिकदृष्टिकी मर्यादा उनके पीछेके साहित्यमे बहुत ही प्रतिष्ठित हुई है, क्योंकि सिद्धसेनके विरोधी माने जानेवाले जिनभद्रगणी क्षमा-श्रमण जैसोंने भी अपने भाष्यमे प्राचीन मर्यादाके अतिरिक्त इस मर्यादाको भी मान्य रखा है। दिगम्बर साहित्यमे तो सिद्धसेनकी बाँधी हुई मर्यादाका ही एकमात्र स्वीकार देखा जाता है और वह भी सिद्धसेनके पूर्ववर्ती दिगम्बरीय आचार्योंके ग्रन्थोमें नहीं, परन्तु उनके बादके तथा निश्चयपूर्वक उनके ग्रन्थोको देखनेवाले विद्यानन्दी[1] और माणिक्यचन्द्रके[2] ग्रन्थोमे यह सिद्धसेनीय मर्यादा देखी जाती है।

नयवादकी चर्चामें सिद्धसेनने मुख्य चार बाते कही है : (१) मूल दो दृष्टियोका सम्बन्ध, (२) वस्तुके लक्षणका दो दृष्टियो द्वारा पृथक्करण और दो दृष्टियोमे ही उस लक्षणकी पूर्णता, (३) किसी एक ही दृष्टिके स्वीकारमे बन्ध-मोक्षकी अनुपपत्ति, और (४) बिखरे हुए मणि और उनके हारके दृष्टान्तके द्वारा अलग-अलग तथा सम्मिलित नयोके मूल्यका अकन। इसके बाद सिद्धसेनने सप्तभगीवादकी चर्चा करके उसकी भी सयोजना मूल दो दृष्टियोमे की है, विशेषमे उन्होने पूर्वकालीन उपलब्ध साहित्यमे दृष्टिगोचर न होनेवाली व्यजन तथा अर्थपर्यायकी स्पष्ट चर्चा करके उसमे सप्तभगी उतारी है। अन्तमे उन्होने जैन दर्शनके अनुसार बाह्य या अभ्यन्तर जैसा कोई स्वतन्त्र तत्त्व है या नही, यह सूचित करके अनेकान्तदृष्टिवाले सम्भाषणकी वास्तविकताका स्वीकार करनेपर भी अधिकारीको देखकर एक-एक नयवादकी सार्थकता भी बतायी है।

पहले नयकाण्डमे मूलकार द्वारा वर्णित सभी वस्तुओका स्पष्टीकरण तो टीका-कारने किया ही है, परन्तु उसके अतिरिक्त उन्होने अपने समयतकके दार्शनिक क्षेत्रमे बलपूर्वक चर्चित तथा जैन दर्शनके प्रामाण्यमे बाधक होनेवाले अथवा तो उसमेसे फलित हुए मन्तव्योमे अवरोधक बननेवाले अनेक दार्शनिक वादोंको,

---

१. देखो तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक अ० १, सू० ३३ में नयचर्चा।

२. देखो परीक्षामुख।

कतिपय गाथाओकी व्याख्या करते समय किसी भी तरह गाथाके मूल शब्दके साथ जोडकर अथवा तो दूसरी तरह सम्बन्ध लगाकर, दाखिल किया है। इसी प्रकार आगेके काण्डोमे भी उन्होने किया है। कही-कही तो उन्होने अपने श्वेताम्बरीयत्व-अभिनिवेशके वशीभूत होकर दिगम्बर सम्प्रदायके साथकी मतभेदवाली आचारविषयक बातोके भी लम्बे-लम्बे वादोका सन्निवेश किया है।

जैन दर्शनका प्रामाण्य पुरुषप्रणीत और उसमे भी सर्वज्ञपुरुषप्रणीत आगमके माननेपर अवलम्बित है। इस प्रामाण्यमे मीमासकके मुख्य चार वाद बाधक होते है : (१) अपौरुषेयवाद, (२-३) उसमेसे फलित होनेवाले स्वत प्रामाण्यवाद तथा शब्दनित्यत्ववाद और (४) सर्वज्ञत्वके असम्भवका वाद। इन चार वादोका निरसन करके टीकाकारने जैन दर्शनका प्रामाण्य सिद्ध करनेके लिए बहुत ही लम्बी और बहुश्रुतत्वयुक्त तथा शान्तरक्षितके तत्त्वसग्रहका अनुगमन करनेवाली चर्चा की है। जैन दर्शन जगत्के स्रष्टाके रूपमे किसी व्यक्तिविशेषको नही मानता। इसके अतिरिक्त वह आत्माको देहपरिमाण मानता है और मुक्त-अवस्थामे सुखानुभव भी स्वीकार करता है। फलत इन मन्तव्योमे बाधक होनेवाले न्याय-वैशेषिकके ईश्वरकर्तृत्ववाद, आत्मव्यापकतावाद और मुक्तावस्थामे सुखाभाववादका सविस्तर निरसन करके अन्तमे जैन मन्तव्य स्पष्ट किया है। पहली गाथाकी टीकामे मुख्य रूपसे आनेवाले उक्त वादोके बीच प्रसग लेकर टीकाकारने जैन दर्शनके विरोधी दूसरे वादोका खण्डन करके उस-उस विषयमे जैन दर्शन क्या मानता है, यह भी स्पष्ट किया है।

दूसरी गाथाकी टीकामे उन्होने मुख्य रूपमे शब्द, अर्थ और इन दोनोके सम्बन्धकी मीमासा अतिविस्तारसे की है और ऐसा करते समय उन्होने शब्द, उसका अर्थ और उनके सम्बन्धके स्वरूपके विषयमे जित-जितने मत-मतान्तर प्रचलित थे और जो उनकी जानमे थे, उन सबका परस्पर निरास करके अन्तमे इस बारेमे जैन दर्शनको क्या मान्य है, यह दिखलाया है।

तीसरी गाथाकी टीकामे उन्होने शुद्ध द्रव्यास्तिकनयके रूपमे ब्रह्माद्वैतवादकी तथा अशुद्ध द्रव्यास्तिकनयके रूपमे साख्यसम्मत प्रकृति-पुरुषद्वैतवादकी चर्चा करके और पर्यायास्तिकनय द्वारा इन दोनो वादोका निरसन करके अन्तमे द्रव्यास्तिक-पर्यायास्तिक उभयका प्रामाण्य स्थापित किया है।

पाँचवी गाथाकी व्याख्यामे उन्होने पर्यायास्तिकके भेदके रूपमे ऋजुसूत्र आदि चार नयोका निरूपण करते समय बौद्धसम्मत क्षणभगवाद, विज्ञप्तिमात्रतावाद तथा शून्यवादकी बहुत ही गहराई तथा विस्तारसे चर्चा की है, और बौद्ध

दर्शनकी सौत्रान्तिक, योगाचार, वैभाषिक एवं माध्यमिक इन चारों महायान शाखाओंके मन्तव्योंका सविस्तर वर्णन किया है।

छठी गाथाकी व्याख्यामें उन्होने मूल दो नयोमे चार निक्षेपोके बँटवारेके प्रसंगमें भर्तृहरिसम्मत शब्दब्रह्मवाद तथा बौद्धसम्मत क्षणभगवाद आदिकी विस्तृत चर्चा की है और बीच-बीचमें दूसरे भी दर्शनान्तरीय छोटे-बड़े वादोकी चर्चा करके अन्तमे उन सबके बारेमे जैन दर्शन क्या मानता है, यही स्थापित किया है।

सत्ताईसवीं गाथाकी व्याख्यामें उन्होने साख्य, वैशेषिक और बौद्ध आदि सम्मत सत्कार्य, असत्कार्य आदि वादोका निरास करके तत्त्वाद्वैत, द्रव्याद्वैत, प्रधानाद्वैत, शब्दाद्वैत और ब्रह्माद्वैत आदि वादोंका निरसन किया है, और इसपरसे यह सूचित किया है कि जैन दर्शन इनमेसे प्रत्येकके बारेमे क्या मत रखता है।

बत्तीसवी गाथाकी व्याख्यामें उन्होने व्यजनपर्यायकी चर्चाके प्रसगमे वाचक अर्थात् शब्द और वाच्य अर्थात् अर्थ तथा वाच्यवाचकसम्बन्धके स्वरूपकी मीमासा की है। इसमे उन्होने वैयाकरणोके स्फोटवाद, वैशेषिकोके अनित्यवर्ण-वाचकत्ववाद, मीमासकोके नित्यवर्णवाचकत्ववाद एव सम्बन्धनित्यत्ववादकी चर्चा करके अन्तमे अनेकान्तदृष्टिसे इन सबका जैनदर्शनसम्मत स्वरूप दिखलाया है।

छत्तीसवी गाथाकी व्याख्यामें उन्होने सप्तभगीका स्फोटन करते समय उसके समर्थनके लिए बहुत ही बारीकीमे अकलक जैसों द्वारा चर्चित विविध अपेक्षाओका विस्तारसे वर्णन किया है।

इन आठ गाथाओके अतिरिक्त दूसरी गाथाओकी व्याख्या प्राय मूल ग्रन्थ-को स्फुट करनेवाली और सक्षिप्त ही है, परन्तु जहाँ तनिक लम्बी है, वहाँ भी मुख्य रूपसे जैन-आगमके मन्तव्योकी चर्चा होनेसे उनमे दर्शनान्तरोके किसी वादका समावेश नही हुआ है।

दर्शन-ज्ञानमीमांसा

अनेकान्त श्रुतप्रमाण है। वह द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक इन दो दृष्टियो-पर अवलम्बित है। ये दोनो दृष्टियाँ अनुक्रमसे सामान्य बोध और विशेष बोधके कारण प्रवृत्त होती है। ये दोनो प्रकारके बोध जैन शास्त्रमे अनुक्रमसे दर्शन और ज्ञानके नामसे प्रसिद्ध है। अनेकान्तके स्वरूपका वर्णन करते हुए सिद्धसेनने दूसरे काण्डमे अनेकान्तकी अगभूत दर्शन एव ज्ञानकी मीमासा की है। इस समूचे काण्डमे वे यही मीमासा करते है। इस मीमासामे भी सिद्धसेनने अपना वैशिष्ट्य अद्भुत

रीतिसे दिखलाया है। केवल दर्शन और केवल ज्ञानकी उत्पत्ति क्रमसे होती है, ऐसा मत पहलेहीसे आगमपरम्परामे प्रसिद्ध था। इन दोनोंकी उत्पत्ति साथ ही होती है, ऐसा मत भी पहलेसे चला आता था। इन दोनो मतोंके सामने सिद्धसेनने अपना अभेदवाद रखा। इस वादकी स्थापना उन्होने प्रस्तुत दूसरे काण्डमे की है। यह स्थापना यद्यपि तर्कबलपर अवलम्बित है, तथापि उसमे सिद्धसेनने प्रसग आनेपर श्रद्धा और ज्ञानका ऐक्यविषयक अपना मत भी जता दिया है। दर्शन और ज्ञान तथा श्रद्धा और ज्ञानका अभेद ही प्रस्तुत काण्डगत सिद्धसेनकी मीमासाकी विशेषता है। यद्यपि चूर्णिके आधारपर नन्दीसूत्रकी टीका रचनेवाले याकिनीसूनु हरिभद्र, नवागीवृत्तिकार अभयदेव तथा उनके अनुगामी मलयगिरि दर्शनज्ञानविषयक सहवाद सिद्धसेनका है और अभेदवाद वृद्धाचार्यका है ऐसा कहते हैं, तथापि सन्मतिके टीकाकार अभयदेव तो सिद्धसेनको ही अभेदवादके पुरस्कर्ता कहते ह। इस बारेमे हरिभद्र और मलयगिरिकी अपेक्षा अभयदेवका ही कथन अधिक उपयुक्त है, ऐसा माननेके तीन कारण हैं. (१) क्रमवाद और सहवादके निरसनके बाद अन्ततक अभेदवादका समर्थन, (२) अभयदेव सन्मतिके टीकाकार होनेसे उन्हे मिली हुई प्राचीन टीकाओकी विरासतके कारण तथा उनके द्वारा किये गये उसके गहरे अभ्यासके कारण उन्हींमे हरिभद्रकी अपेक्षा विशेष यथार्थताका सम्भव, और (३) अभेदवादके पुरस्कर्ताके रूपमे सिद्धसेनकी ही जैनपरम्परामे प्रसिद्धि और यशोविजयजी जैसोंका इस विषयमे ऐकमत्य।

सिद्धसेन अभेदवादके प्रस्थापक हैं और उन्होने इसके लिए ही सन्मतिका दूसरा काण्ड रोका है, फिर भी जिनभद्रगणी क्षमाश्रमणने अपने भाष्यमे और विशेषणवती ग्रन्थमे अभेदवादका खण्डन तथा आगमसिद्ध क्रमवादकी स्थापना करते समय अभेदवादियोकी जो-जो दलीलें उद्धृत की हैं और उनके जिन-जिन मतभेदोका वर्णन किया है, उन सबका समग्र भावसे विचार करनेपर ऐसा तो लगता ही है कि सिद्धसेनके पूर्ववर्ती नही, तो अन्तत सममसमयवर्ती और उत्तरवर्ती कई आचार्य अभेदवादका समर्थन करनेवाले भी हुए होगे और सन्मतिके दूसरे काण्डके अतिरिक्त अभेदवादका समर्थन करनेवाले दूसरे प्रकरण या टीकाएँ सिद्धसेनकी अथवा दूसरे आचार्योकी होनी चाहिए। चाहे जो हो, इस समय हमारे सामने तो सिद्धसेनके इस विशिष्ट वादकी चर्चा करनेवाला प्रस्तुत दूसरा काण्ड ही है।

दूसरे काण्डकी व्याख्यामे टीकाकारने पहली और पन्द्रहवी गाथाके सिवा बाकीकी सभी गाथाओकी मात्र स्पष्टीकरण करनेवाली सक्षिप्त व्याख्या लिखी है। उसमे कोई खास वाद समाविष्ट नही किये है। पन्द्रहवी गाथाकी व्याख्यामे

प्रसंग खड़ा करके उन्होंने दिगम्बर-परम्पराके साथ श्वेताम्बर-परम्पराके मतभेद-वाले केवलि-कवलाहार विषयक एक ही वादकी चर्चा की है, परन्तु पहली गाथाकी व्याख्यामें तो उन्होंने वादसंग्रहके बारेमें हद ही कर दी है। प्रमाणके सामान्य स्वरूपके विषयमें, उसके भेदोंके विषयमें और उसकी संख्याके विषयमें जैन तर्क-शास्त्रियोंके जो-जो मन्तव्य हैं, उन सबकी सविशेष स्थापनाके लिए टीकाकारने समकालीन सभी जैनेतर दर्शनोंके उस-उस विषयके सब वादोंकी अत्यन्त विस्तार-पूर्वक और विशिष्ट संकलनाके साथ चर्चा की है और इस तरह उस व्याख्यामें सारा भारतीय प्रमाणशास्त्र उपस्थित किया है। प्रस्तुत दूसरे काण्डमें मूलकारकी विशेषता यदि अभेदवादकी स्थापना मानी जाय, तो टीकाकारकी विशेषता इस प्रमाणवादसंग्रहमें माननी चाहिए।

अनेकान्तकी खूबी और एकान्तकी खामी

अनेकान्तदृष्टिसे ज्ञेयतत्त्व कैसा होना चाहिए, इसकी चर्चा प्रधान रूपसे तीसरे काण्डमें है, परन्तु साथ-ही-साथ अनेकान्तवादका उपपादन किया जा सके ऐसे दूसरे भी अनेक विषय इसमें लिये गये हैं। जिस प्रकार गौतमने अपने न्याय-सूत्र ४.१.१४ से अभावकारणवाद, ईश्वरकारणवाद, आकस्मिकत्ववाद आदि आठ वादोंकी चर्चा करके अन्तमें अपना मन्तव्य प्रकट किया है, और जिस प्रकार समन्तभद्रने आप्तमीमांसामें सप्तभंगीके निरूपणका प्रसंग लेकर उसमें सत्-असत्, अद्वैत-द्वैत, एकत्व-पृथक्त्व, नित्यत्व-अनित्यत्व, दैव-पुरुषार्थ आदि अनेक वादोंकी चर्चा करके अन्तमें उनके विषयमें अनेकान्तदृष्टिसे अपना मन्तव्य स्थापित किया है, उसी प्रकार सिद्धसेनने भी सामान्य और विशेषवाद, अस्तित्व और नास्तित्ववाद, आत्मस्वरूपवाद, द्रव्य और गुणका भेदाभेदवाद, तर्क और आगमवाद, कार्य और कारणका भेदाभेदवाद, काल आदि पाँच कारणवाद, आत्माके विषयमें नास्तित्व आदि छः और अस्तित्व आदि छः वाद इत्यादि अनेक विषयोंका सूक्ष्म, विस्तृत तथा स्पष्ट निरूपण करते हुए एकान्त और अनेकान्तके उदाहरण देकर उनके गुण-दोष बतलाये हैं तथा एकान्तवादीकी विजेयता और अनेकान्त-वादीकी अजेयता उन्होंने सूचित की है। उन्होंने उक्त वादोंके अतिरिक्त अने-कान्तके बहाने ही कतिपय साम्प्रदायिक परिस्थितिका निरूपण करनेका भी प्रस्तुत काण्डमें बलवान् प्रयत्न किया है। एकदेशीय सूत्राभ्याससे या अर्थशून्य सूत्रमात्रके पाठसे या बहुश्रुतत्व और परिवारके अभिमानसे कोई आगमज्ञ नहीं हो सकता —यह उन्होंने बहुत ही भारपूर्वक कहा है, और तात्त्विक प्ररूपणा किस तरह की जाय, यह भी उन्होंने बतलाया है। स्व-परदर्शनके अभ्यासके बिना क्रिया-

कलाप व्यर्थप्राय है और ज्ञान एव क्रिया दोनों मिल करके ही कार्यसाधक होते हैं इत्यादि बातें कहकर अन्तमे उन्होंने अनेकान्तरूप जिनवचनकी कल्याणकामना करके ग्रन्थ पूर्ण किया है।

तीसरे काण्डमे सिद्धसेनकी प्रतिभा अनेक रूपमे झलकती है, क्योंकि उसमें उन्होंने पर्यायार्थिककी भाँति गुणार्थिक नय भिन्न माननेके बारेमे जो चर्चा उठायी है, वह उनके पहलेके किसी आचार्यके ग्रन्थमे दृष्टिगोचर नही होती। विद्यानन्दीने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमे इसकी जो चर्चा उठायी है वह सन्मतिके ही आभारी है, ऐसा लगता है। श्रद्धावाद और तर्कवादके बीचके झगडेका निराकरण करनेके लिए उन्होने अहेतुवाद और हेतुवादकी जो मर्यादा बाँधी है, वह अनेकान्तदृष्टिको शोभा देनेवाली है। अल्पश्रुतके अभ्यासीको, थोडे अभ्यासमे बहुश्रुतता माननेवालेको मात्र शिष्यपरिवारके कारण बडप्पन माननेवालेको, अर्थज्ञानके बिना मात्र सूत्रपाठके अभ्यासीको, स्व-परदर्शनका अभ्यास छोडकर मात्र क्रियाकाण्डमें कृतार्थता माननेवालेको और केवल शासनभक्तिमे अनेकान्तकुशलता समझनेवालेको उन्होने जो सच्ची और चोटदार बात कही है, वह उनका स्पष्ट ज्ञान और निडरता सूचित करती है।

टीकाकारने तीसरे काण्डकी आठ गाथाओकी व्याख्यामे अनेक प्रकारके वाद और शास्त्रार्थोंकी आयोजना की है, बाकीकी इकसठ गाथाओंकी व्याख्या तो विशद होनेपर भी वैसे शास्त्रार्थवाली नही है। उनचासवी गाथाकी व्याख्यामे सारा कणाददर्शन रखकर उसकी लम्बी समालोचना की गयी है, तथा सामान्य तत्त्वकी चर्चाके प्रसगमे तत्त्वसग्रह एव प्रमेयकमलमार्तण्डमे चर्चित ब्राह्मणत्व जातिकी चर्चा करके जातिवादका विरोध किया है। पचासवी गाथाकी व्याख्यामे न्याय, वैशेषिक, बौद्ध और साख्यके सत् एव असत् वादोका विस्तारसे निरूपण करके अन्तमे स्वसम्मत सदसद्वादकी स्थापना की है। तिरपनवी गाथाकी व्याख्यामे काल, स्वभाव, नियति, कर्म और पुरुष इन पाँच ऐकान्तिक कारणवादोंका निरूपण एव उनका खण्डन करके अन्तमे कारणसमवायवाद स्थापित किया है। छप्पनवी गाथाकी व्याख्यामे हेत्वाभासकी सख्याके बारेमे दूसरे वादियोके साथ विस्तारपूर्वक चर्चा की है। साठवी गाथाकी व्याख्यामे पुन. एकान्त-क्षणिकत्व और एकान्त-अक्षणिकत्वका शास्त्रार्थ छेडा है। तिरसठवी गाथाकी व्याख्यामे जैनदर्शनसम्मत सात तत्त्वोके निरूपणके प्रसगमे जीव और अजीव दो तत्त्वोमे कणाद आदि दर्शनोके मान्य पदार्थोंका कैसे समावेश हो जाता है, यह अत्यन्त स्पष्टतासे बताकर जैन दर्शनमे प्रसिद्ध चार ध्यान और उनके भेद-प्रभेदोका सविस्तर वर्णन किया है। इसके बाद इसी गाथाकी व्याख्यामे वाच्यका स्वरूप निश्चित करनेके लिए लट्

आदिके अर्थविचारसे सम्बद्ध अनेक मीमांसक पक्षोंको रखकर उसपर विद्यानन्दीने अष्टसहस्रीमे की है वैसी नियोगकी विस्तृत चर्चा की है। पैंसठवीं गाथाकी व्याख्यामे दिगम्बरोके साथ मतभेदवाले निर्ग्रन्थ द्वारा वस्त्र-पात्र धारण करनेके, स्त्री-मुक्तिके और प्रतिमाको वस्त्रालकार धारण करानेके वाद बहुल विस्तारसे दाखिल किये हैं। उनहत्तरवी गाथाकी व्याख्यामे पुनः सप्तभगी आदिकी स्पष्ट चर्चा करके अनेकान्तका स्वरूप दिखलाया है। अन्तमे निग्रहस्थानके स्वरूपकी बौद्ध और न्यायवादियोंके साथ दीर्घ चर्चा करके टीका पूर्ण की है।

प्रस्तुत टीकामे आये हुए वाद बहुधा तत्त्वसग्रह, न्यायकुमुदचन्द्र, प्रमेयकमलमार्तण्ड, सिद्धिविनिश्चय आदि ग्रन्थोमे है, परन्तु उन ग्रन्थोकी अपेक्षा प्रस्तुत टीकाकी विशेषता भाषा, शैली, ग्रन्थ एव ग्रन्थकारोके नाम तथा उद्धरणके विषयमे—इस प्रकार अनेक प्रकारकी है।

मूल तीनो काण्डोके विषयोका तथा टीकामे उल्लिखित शास्त्रार्थीय विषयोंका यह अतिसक्षिप्त चित्रण है। इस ग्रन्थके विषयोका क्रमिक और अधिक ख्याल प्राप्त करनेकी इच्छावालेको यदि ग्रन्थका अध्ययन न करना हो, तो भी अनुक्रमणिका देखनेसे बहुत कुछ ख्याल आ सकेगा।

४

बत्तीसियोंका परिचय[1]

आचार्य सिद्धसेनकी उपलब्ध बत्तीसियाँ इक्कीस और उनमे न्यायावतारका समावेश किया जाय तो बाईस है। इन बत्तीसियोके अवलोकनका सामान्य और सक्षिप्त सार यहाँ दिया जाता है। इसके तीन भाग है:

१. ग्रन्थकर्ता सिद्धसेनके युगकी कतिपय परिस्थितियाँ।

२. सिद्धसेनकी योग्यता और स्थिति।

३. बत्तीसियोका परिचय।

---

१. सिद्धसेनके जीवनकी जानकारीका सच्चा आधार तो उनके ग्रन्थ ही समझे जा सकते हैं। उनके ग्रन्थोंमें बत्तीसियोंका स्थान सम्मतिकी अपेक्षा भी अनेक दृष्टियोंसे महत्त्वका है। अतः उनका अवलोकन यहाँ प्रस्तुत ही नहीं, अत्यन्त आवश्यक भी है। इसी दृष्टिसे यहाँ उनके विषयमें थोड़ा प्रयत्न किया है।

(१) बत्तीसियोंका वाचन एवं मनन करनेपर उनकी रचनाके युगके विषयमें मनपर ऐसी सामान्य छाप पड़ती है कि जिस समय संस्कृत भाषाका उत्थान और विकास खूब हुआ होगा, जिस समय दार्शनिक विचार संस्कृत भाषामें करनेकी और उन्हें पद्यतकमें गुफित करनेकी प्रवृत्ति जोर-शोरसे चलती होगी, जिस समय प्रत्येक सम्प्रदायके विद्वान् अपने-अपने सम्प्रदायकी स्थापना, पुष्टि और प्रचारके

हमारे समक्ष इस समय जैनधर्मप्रसारक सभा, भावनगरकी ओरसे प्रकाशित मुद्रित आवृत्ति है। उसमें जिस क्रमसे बत्तीसियाँ हैं उसी क्रमसे उनकी रचना हुई होगी, ऐसा नहीं लगता। पीछेसे लेखकोंने अथवा पाठकोंने वह क्रम निश्चित किया होगा, ऐसा प्रतीत होता है। इन बत्तीसियोंमेंसे कुछके अन्तमें नाम छपा हुआ है, जब कि कुछके अंतमें नहीं है। इसपरसे सम्भव तो ऐसा लगता है कि पीछेसे किसीने वे नाम जोड़ दिये हैं। ये कही तो जाती हैं सभी बत्तीसियाँ, पर उनमें कहीं-कहीं पद्य कमोबेश भी हैं। बत्तीस-बत्तीसके हिसाबसे बाईस बत्तीसियोंके कुल ७०४ पद्य होने चाहिए, परन्तु उपलब्ध मुद्रित बत्तीसियोंमें उनकी कुल संख्या ६९५ है। २१वीं बत्तीसीमें एक पद्य अधिक है अर्थात् उसमें कुल तैंतीस पद्य हैं, जब कि ८, ११, १५ और १९ इन चारमें बत्तीसकी अपेक्षा कम पद्य हैं। पद्योंकी यह कमोबेश संख्या बत्तीसियोंके रचना-समयमें ही होगी, या पीछेसे कमीबेशी हुई होगी, या फिर मुद्रणकी आधारभूत प्रतियोंकी अपूर्णताके कारण मुद्रित आवृत्तिमें आयी होगी, यह इस समय कहना कठिन है; फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि कमी-बेशीकी यह गोलमाल पीछेसे ही किसी कारणवश हुई होगी।

ये सभी बत्तीसियाँ सिद्धसेनके जैन दीक्षा अंगीकार करनेके पश्चात् ही लिखी गयी हों, ऐसा नहीं कहा जा सकता। सम्भव है कि उन्होंने इनमेंसे कुछ बत्तीसियाँ पूर्वाश्रममें भी रची हों और बादमें उन्होंने अथवा उनके अनुगामी शिष्योंने उनकी इन सभी कृतियोंका संग्रह किया हो और वह सुरक्षित भी रहा हो।

दार्शनिक विभागमें जैमिनीय जैसे प्रसिद्ध दर्शनकी बत्तीसी नहीं दिखायी पड़ती। इससे ऐसा सूचित होता है कि शायद लुप्त बत्तीसियोंमें वह भी रही हो।

मुद्रित बत्तीसियाँ अत्यन्त अशुद्ध और सन्दिग्ध हैं। कई स्थानोंमें तो सैंकड़ों बार प्रयत्न करनेपर भी अर्थ समझमें नहीं आता और अनेक स्थानोंपर वह सन्दिग्ध रहा है। अनेक पुरानी और लिखित प्रतियोंका संग्रह करके और पाठान्तरोंको मिलाकर यदि वे पढ़ी जायँ, तो बहुत अंशमें भ्रम और सन्देह दूर हो सकता है। इस समय तो बत्तीसियोंके बारेमें हमारा सारा कथन इस शुद्ध, अशुद्ध

लिए तर्क और खास करके वादशास्त्रका गहरा अभ्यास करके उसके द्वारा अपने मन्तव्यका समर्थन और परमन्तव्यका खण्डन करनेमे ही कृतकृत्यता मानते होगे, जिस समय किसी भी विरोधी सम्प्रदाय द्वारा प्रतिष्ठित भावना और विचार-सरणीके बलसे अपने सम्प्रदायकी नीव हिल उठनेकी सम्भावना उपस्थित होते ही उन भावनाओ और विचारसरणियोको अपने-अपने ढगसे अपना लेनेकी और उन्हें अपने सम्प्रदायका रूप देनेकी विद्वानोको अनिवार्य आवश्यकता मालूम हुई होगी, जिस समय वैदिक दर्शनकी प्रसिद्ध शाखाओ तथा महायान सम्प्रदायकी सभी बौद्धशाखाओंके (मात्र पुस्तके ही नही, परन्तु) अनुगामी प्रकाण्ड विद्वानोंका अस्तित्व होगा और वे अपनी-अपनी शाखाका महत्त्व प्रस्थापित करने तथा उसे सुरक्षित रखनके लिए वादमे उतरते होंगे, जिस समय वादविवादके लिए राजसभा अथवा वैसी ही प्रभावशाली दूसरी सभाओका आश्रय लिया जाता होगा और प्रभावशाली सभाध्यक्षको अपनी ओर आकर्षित करनेके लिए उसकी प्रशसामे स्तुतिग्रन्थ रचनेकी अथवा वैसी दूसरी प्रवृत्ति चलती होगी, जिस समय न्याय अर्थात् प्रमाणचर्चा और उसमे भी खास करके परार्थानुमानचर्चा तथा उससे सम्बद्ध वादविवादके नियमोकी विचारणा अधिक होती होगी और उस विषयके शास्त्रोकी रचना करनेकी ओर विशेष ध्यान दिया जाता होगा, उस परिस्थितिमे प्रस्तुत बत्तीसियोकी रचना हुई होगी, ऐसा प्रतीत होता है।

और अर्धशुद्ध पाठोंकी पूरी या अधूरी अबतककी हमारी समझके आधारपर हुआ है। इसमें फेरफार और संशोधनको काफी अवकाश है।

ऊपरका कथन सन् १९३२ तककी परिस्थितिको ध्यानमें रखकर लिखा गया है। इसके बाद अबतकमें बत्तीसियोंकी कई प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं। उनमेंसे एक तो अतिजीर्ण ताडपत्रीय प्रति भी है। कागजपर लिखी हुई चार-पाँच प्रतियाँ और भी मिली हैं। इन सबका मुद्रित प्रतिके साथ मिलान करके प्रथम दृष्टिसे पाठान्तर भी लिख रखे हैं; परन्तु उन पाठान्तरोंकी भाषा, अर्थ, सन्दर्भ आदि दृष्टिसे अभी-तक विशेष जाँच हम कर नहीं सके हैं। यद्यपि प्रथम दृष्टिसे जो जाँच की गयी है, उससे मुद्रित प्रतिकी कई अशुद्धियोंका निवारण हुआ है और कई अशुद्धियोंके स्थानमें कल्पनासे उचित पाठ भी ध्यानमें आये हैं, तथापि इस समयतक हम बत्तीसियोंकी वाचना अन्तिम स्वरूपमें स्थिर नहीं कर सके हैं। अतएव ऊपरका कथन हमने ज्योंका त्यों रखा है।

(२) बत्तीसियोके वाचनपरसे उसके प्रणेताके बारेमे जो नौ बातें स्फुट होती है, वे इस प्रकार है :

(क) **नाम**—बत्तीसियोकी रचनाके समय कर्ताका सिद्धसेन नाम प्रसिद्ध था, क्योंकि ५वी बत्तीसीके अतमें इस नामका उल्लेख है।

(ख) **जाति**—श्रुति एव उपनिषदोंका मौलिक अभ्यास तथा सस्कृत भाषापरका प्रभुत्व पूर्वाश्रममे उनके ब्राह्मणत्वकी सूचना देता है।

(ग) **सम्प्रदाय**—वह जैन सम्प्रदायके तो थे ही, परन्तु उसमे भी श्वेताम्बर थे, दिगम्बर नही, क्योंकि दिगम्बर परम्परामे अमान्य और श्वेताम्बर आगमोमे निर्विवाद रूपसे मान्य ऐसी महावीरके गृहस्थाश्रम तथा चमरेन्द्रके शरणागमनकी बातका वे उल्लेख करते है[1]।

(घ) **अभ्यास और पाण्डित्य**—तत्कालीन सभी वैदिक दर्शनोके, महायान सम्प्रदायकी सभी शाखाओके एव आजीवक दर्शनके गहरे और मौलिक अभ्यासके अतिरिक्त जैन दर्शनका उन्हे तलस्पर्शी अभ्यास था, क्योकि वे सभी दर्शनोके मन्तव्योंका सक्षेपमे किंतु स्पष्ट रूपमे प्रतिपादक पद्धतिसे छोटे-छोटे प्रकरणोंमे वर्णन करते है और ऐसा करके सभी विद्वानोके लिए सब दर्शनोका अभ्यास सुलभ करनेका लघु पथ तैयार करते है।

(ङ) **स्वभाव**—उनका स्वभाव सदा प्रसन्न और उपहासशील होगा, क्योकि वे बहुत बार एक सामान्य वस्तुका इस ढगसे वर्णन करते है कि उसे सुनते ही चाहे जैसा गम्भीर आदमी भी एक बार तो खिलखिलाकर हँसे बिना शायद ही रह सके[2]।

(च) **दृष्टि**—उनकी दृष्टि समालोचनाप्रधान थी, अत. तर्क द्वारा किसी भी वस्तुका निर्भय परीक्षण करनेपर भी वे साम्प्रदायिकतासे मुक्त नही थे, क्योकि उनकी दृष्टि पर-सम्प्रदायपर आक्रमण करते समय तर्कका तीव्र अवलम्बन लेती है, जब कि स्वसम्प्रदायकी तर्कबलसे सिद्ध न हो सकनेवाली बातोके विषयमे मात्र श्रद्धाका आधार लेकर उसपरसे तार्किक परवादियोंके सामने तर्कबलसे ही सिद्धान्त स्थापित करते है[3]। मतलब कि स्व-सम्प्रदाय और पर-सम्प्रदायकी बातोकी परीक्षा करते समय उनकी तर्कबुद्धिकी तुला एक जैसी नही रहती।

(छ) **राजा, सभा और वादगोष्ठियोका परिचय**—उन्हे किसी एक राजाका खास परिचय था, क्योकि वह किसी राजाको उद्दिष्ट करके ही ११वी गुण-

---

१. देखो बत्तीसी २.३; ५.६।
२. उदाहरणार्थ बत्तीसी ६.१, ८.१ तथा १२.१।
३. उदाहरणार्थ बत्तीसी १.१४।

वचनस्तुतिकी रचना करते हैं। राजसभाका परिचय भी उस स्तुतिपरसे तथा वादविषयक बत्तीसियोके ऊपरसे स्पष्ट होता है। ऐसा लगता है कि वादगोष्ठीमें तो स्वयं उन्हें खडा रहनेका और दूसरोंकी वैसी गोष्ठियोंको प्रत्यक्ष देखनेका प्रसंग बहुत बार मिला होगा, क्योंकि वे वादके नियमोका और जल्प-वितण्डाके दोषोका अपनी नजरसे देखा हो, वैसा तादृश वर्णन करते है।

(ज) **प्रतिभा**—उनकी प्रतिभा नवसर्जनकारिणी थी ऐसा लगता है, क्योंकि उन्होने स्तुतियोंकी रचनामे पूर्वाचार्योंका अनुकरण करनेपर भी उनमें बहुत-सी नवीनताका समावेश किया है और दूसरोंकी कही हुई वस्तुको एकदम नये ढंगसे कहा है। उनकी कृतियोमे कई मन्तव्य तो सर्वथा अपूर्व दिखायी पड़ते हैं और चालू प्रथाके विरुद्ध विचार उपस्थित करनेका प्रतिभाबल भी उनमें है।

(झ) **तत्त्वज्ञभक्ति**—उनकी भगवान् महावीरके प्रति भक्ति मात्र एक श्रद्धालुकी भक्ति नही है, परन्तु तत्त्वज्ञकी भक्ति है, क्योकि उन्होने अपनी स्तुतियोमे जो भक्तिभाव प्रदर्शित किया है, उसके पीछे प्रेरकतत्त्व मुख्यरूपसे महावीरके तत्त्वज्ञानका गहरा और मर्मग्राही भान ही है। महावीरके तत्त्वज्ञानकी जिन-जिन बातोने उनके हृदयपर गहरा असर किया और जिनके कारण वे जैनदर्शन-रसिक बने, उन बातोकी विशेषताका चमत्कारपूर्ण ढंगसे वर्णन करके महावीरके प्रति अपनी जाग्रत् एव सजीव श्रद्धा तथा भक्ति प्रकट करते है। वस्तुत: तो स्तुतिके बहाने वे महावीरके तत्त्वज्ञानकी उत्कृष्टता दिखलानेका प्रयत्न करते है।

(३) बत्तीसियोके परिचयको बहिरग और अन्तरग इन दो भागोंमे विभक्त कर आगे चले।

बहिरंग परिचय—बत्तीसियोकी भाषा संस्कृत है, परन्तु वह साधारण कक्षाकी न होकर दार्शनिक, आलकारिक और प्रतिभासम्पन्न विद्वान् कविके योग्य प्रौढ एव गम्भीर है। पद्योका बन्ध कालिदासके पद्योके जैसा सुश्लिष्ट और रीति वैदर्भीप्राय है। प्राप्त बत्तीसियोंमे प्राय. १७ छन्दोका उपयोग किया गया है। वादरहस्यका वर्णन करनेवाली सातवी बत्तीसीके सिवा सभी दार्शनिक बत्तीसियोमें केवल अनुष्टुप् छन्द है और उनमे आदि तथा अन्तमे छन्दोभेद भी नही है; जब कि स्तुति, समीक्षा और प्रशंसात्मक बत्तीसियोमे अलग-अलग छन्द है और उनमे प्रारम्भ तथा अन्तमे प्राय: छन्दोभेद भी है।

अंतरंग परीक्षा—विषयकी दृष्टिसे स्थूल वर्गीकरण करे, तो प्राप्य बत्तीसियों-के मुख्य रूपसे तीन विभाग होते है। पहली पाँच, ग्यारहवी और इक्कीसवी ये सात स्तुत्यात्मक है, छठी और आठवी समीक्षात्मक है और बाकीकी सब दार्शनिक और वर्णनात्मक है।

स्तुत्यात्मक वर्गमें जो ग्यारहवी बत्तीसी है, वह किसी राजाकी और बाकीकी सब महावीरकी स्तुतिरूप हैं। इनमेंसे जो इक्कीसवी महावीरद्वात्रिंशिका है, उसकी भाषा, रचना और वस्तुकी दूसरी बत्तीसियोंके साथ तुलना करनेपर ऐसा प्रतीत होता है कि वह किसी दूसरे ही सिद्धसेनकी कृति है और चाहे जिस कारणसे दिवाकरकी मानी जानेवाली कृतियोंमे दाखिल होकर दिवाकरके नामपर चढ गयी है।[1] समीक्षात्मक वर्गमें छठी बत्तीसी शास्त्रके प्रणेताकी समीक्षा करती है, जब कि आठवीं बत्तीसी जल्पात्मक वादकथाके गुण-दोषोंकी समीक्षा करती है। दार्शनिक और वर्णनात्मक वर्गमे सातवी बत्तीसी वादकथा-विषयक नियमोंका वर्णन करती है, जब कि दूसरी सब दार्शनिक हैं। दार्शनिकमे छ बत्तीसियाँ तो इस समय स्पष्ट रूपसे जैनेतर दर्शनकी चर्चावाली हैं, जिनमेसे वेद नामकी[2] बत्तीसी उपनिषद्मान्य सगुण-निर्गुण पुरुषतत्त्वका वर्णन करती है। बारहवी न्यायदर्शनके, तेरहवी सांख्यदर्शनके, चौदहवी वैशेषिकदर्शनके, पन्द्रहवी बौद्ध-दर्शनके और सोलहवी कदाचित् नियति (आजीवक) (?) दर्शनके स्वरूपका आलेखन करती है। बाकीकी दसवी, सत्रहवी, अठारहवी, उन्नीसवी, बीसवी तथा बाईसवी ये छ तो केवल जैन दर्शनसे सम्बद्ध प्रतीत होती हैं। इनमेसे बाईसवी न्यायावतार सिर्फ जैनसम्मत न्याय अर्थात् प्रमाणविद्याका ही निरूपण करती है।

१. स्तुत्यात्मक—मयूरका सूर्यशतक, बाणका चण्डीशतक, समन्तभद्र और जम्बूकविके जिनशतक तथा रामचन्द्र भारतीका बुद्ध-विषयक भक्तिशतक—ये सब स्तुतिरूप हैं, परन्तु उनमे प्रस्तुत बत्तीसियोंकी भाँति तत्त्वज्ञानमूलक स्तुति नहीं है। इससे प्रस्तुत बत्तीसियोंके साथ उनकी तुलना नहीं हो सकती। ऐसी तुलनाके लिए योग्य तो समन्तभद्रका स्वयम्भूस्तोत्र है। स्वयम्भूस्तोत्रमें किसी एककी नहीं, किन्तु चौबीसों तीर्थंकरोंकी स्तुति आती है, जब कि प्रस्तुत बत्तीसी-

---

१. उपलब्ध इक्कीसवीं और बाईसवीं बत्तीसीपर टीकाएँ लिखी गयी हैं और वे छपी भी हैं। इक्कीसवीं बत्तीसीपर सोलहवी शताब्दीके उदयसागरसूरि (विधिपक्षीय—आंचलिक) की टीका है, जब कि बाईसवी बत्तीसी न्यायावतारके ऊपर प्रसिद्ध आचार्य सिद्धर्षिकी टीका है। दूसरी किसी भी बत्तीसीके ऊपर किसीकी टीका अबतक न तो सुनी है और न देखी ही है।

२. इस वेदवादद्वात्रिंशिकाका अर्थदर्शन, उपनिषदोंकी तुलनाके साथ, मैंने किया है, जो भारतीय विद्या (सिंघी स्मारक अंक) में तथा अलग पुस्तकाकार भी छपा है।

पंचकमें केवल महावीरकी स्तुति है। स्वयम्भूस्तोत्रमें कुल १४३ पद्य हैं, जब कि प्रस्तुत बत्तीसियोंके कुल पद्य १६० होते हैं। इतने अन्तरके अतिरिक्त दोनोंमें अनेक प्रकारका अर्थसूचक साम्य भी है। इस साम्यमें छन्द, उपक्रम, उपसंहार, कई खास शब्द, शैली तथा वस्तुकल्पना एवं उपादान समानता मुख्य रूपसे तुलना करनेवालेका ध्यान आकृष्ट करती है।[1]

स्वयम्भूस्तोत्रमें जैसे अनेक छन्दोंकी पसंदगी है, वैसे ही बत्तीसी-पंचकमें भी है। स्वयम्भूस्तोत्रका प्रारम्भ स्वयम्भू शब्दसे होता है और समाप्ति (श्लो० १०२) श्लेषमें कर्ताके समन्तभद्र नामके साथ होती है। बत्तीसी-पंचकमें भी ऐसा ही है। उसमें भी पहला स्वयम्भू शब्द है और अन्तमें श्लेषमें (बत्तीसी ५, श्लो० ३२) कर्ताका सिद्धसेन नाम है। सिद्धसेन और समन्तभद्रसे पहले कनिष्कके समयमें होनेवाले बौद्ध स्तुतिकार मातृचेट[2] भी बुद्धको 'स्वयम्भू' पदसे

---

१. समान अर्थवाले पद्य—

स्वयम्भूस्तोत्र		बत्तीसी	
जिनो जितक्षुल्लकवादिशासनः	५	प्रपंचितक्षुल्लकतर्कशासनैः	१.९
समन्तभद्रम्	१४३	समन्तसर्वाक्षगुणम्	१.२
नैतत् समालीढपदं त्वदन्यैः	४१	परैरनालीढपथस्त्वयोदितः	१.१३
जिने त्वयि सुप्रसन्नमनस्स्थिता वयम्	१२९	त्वयि प्रसादोदयसोत्सवाः स्थिताः। त्वदाश्रयकृतादरास्तु वयमद्य वीर स्थिताः	३.२
मयापि भक्त्या परिणूयसेऽद्य	३५	न केवलं श्राद्धतयैव नूयसे	१.४
वाक्सिंहनादैः	३८	सुगर्वसिंहनादः कृतः	३.२६

सिंहनाद शब्द बौद्ध पिटकके मज्झिमनिकायके सिंहनादसुत्तमें बहुत पहलेसे प्रसिद्ध है और अश्वघोषने भी इसे लिया है—ननाद सिंहनादं (सर्ग ५, श्लो० ४८)। गीता (१.१२) में भी यह शब्द है।

पद्योंमें आये हुए समान शब्द—

स्वयम्भू	स्वयम्भूस्तोत्र	१	बत्तीसी	१.१
वसुधावधू	,,	३	,,	५.५
इति निरुपम	,,	१०२	,,	५.३२

२. अध्यर्धशतक ८। विशेषके लिए देखो 'दर्शन अने चिन्तन' (गुजराती) पृ० ६५४।

सम्बोधित करके नमस्कार करते हैं। दिगम्बराचार्य कुन्दकुन्दने भी प्रवचनसार (१. १५-६) में 'स्वयम्भू' शब्दका अर्थ जैन दृष्टिसे किया है।

इन दोनोंमे एक अथवा दूसरे रूपमे प्रयुक्त अनेक समान शब्द खास ध्यान आकर्षित करते हैं। तत्त्वज्ञानके द्वारा स्तुत्य देवकी महत्ता दिखलाते हुए अमुक प्रकारके तत्त्वका तूने ही प्रतिपादन किया है, दूसरे किसीने नही—ऐसी अन्ययोग-व्यवच्छेदकी[1] शैली दोनोमें एक-जैसी है। इसी शैलीको आगे जाकर विद्यानन्दीने आप्तपरीक्षामें तथा हेमचन्द्रने दूसरी द्वात्रिंशिकामें अपनाया है। "हे प्रभो! तेरी स्पर्द्धामे तेरी तुलना करनेके लिए निकले हुए दूसरे तपस्वी अन्तमे हारकर तेरी शरणमे आये"—यह समग्र वस्तु दोनोकी स्तुतियोमे जैसीकी तैसी है।[2] समन्तभद्र और सिद्धसेन दोनोने अपनी-अपनी स्तुतिमे[3] इन्द्रकी सहस्राक्षताकी प्रसिद्धिके ऊपर जो कल्पना की है, वह बिम्ब-प्रतिबिम्ब जैसी है। दोनो स्तुतिकारोंकी स्तुतिका अर्थोपादान मुख्यत. तत्त्वज्ञान है। दोनो ही जैन तत्त्वज्ञानके आत्मारूप अनेकान्तकी विशिष्टता अनेक प्रकारसे दिखलाकर उसके द्वारा उसके प्ररूपकके रूपमे अपने-अपने स्तुत्य देवोका महत्त्व गाते हैं। दोनोंकी स्तुतियोमे यत्र तत्र स्तुतिके बहाने जैन तत्त्वज्ञानके विविध अग और जैन आचारके विविध अशोकी ही विशिष्टता दृष्टिगोचर होती है। वस्तुत. दोनो स्तुतियोका आर्थिक उपादान एकमात्र जैन तत्त्वज्ञान और जैन आचार है[4]।

---

१. तुलना करो बत्तीसी १.२६–८ और ३.२० के साथ स्वयम्भू० १९, २५, ३३।

२. यमीश्वरं वीक्ष्य विधूतकल्मष तपोधनास्तेऽपि तथा बुभूषवः।
वनौकसः स्वश्रमवन्ध्यबुद्धयः शमोपदेशं शरणं प्रपेदिरे ॥

—स्वयम्भू० १३४

अन्येऽपि मोहविजयाय निपीड्य कक्षा-
मभ्युत्थितास्त्वयि विरूढसमानमानाः।
अप्राप्य ते तव गतिं कृपणावसाना-
स्त्वामेव वीर शरणं ययुरुद्वहन्त. ॥ बत्तीसी २.१०

३. स्वयम्भू० ८९ और बत्तीसी ५.१५।

४. उदाहरणार्थ स्वयम्भू० १४, २२–५, ३३, ४१–४, ५२, ५४, ५९, ६०, ६१–५, ८२, ९८-९, १००, १०१, ११८–२० और बत्तीसी १.२०, २४, २६, २८-९; २.२५; ३.३, ८, १०-१; ४.१९ आदि।

स्वयम्भू—ब्रह्मा, महेश्वर—शिव और पुरुषोत्तम—विष्णु इस पौराणिक त्रिमूर्तिकी देवके रूपमें जो भावना लोकमानसमे प्रतिष्ठित हो गयी थी और जिस भावनाको हम सद्धर्मपुण्डरीक[1] जैसे प्राचीन बौद्ध ग्रन्थोंमे बौद्ध विद्वानोंके द्वारा बुद्धके साथ जुडी हुई देखते हैं, उसी भावनाको उन्ही पौराणिक शब्दोंमें लेकर सिद्धसेन[2] और समन्तभद्र[3] दोनोने कमोबेश परिमाणमे अपने स्तुत्य देव तीर्थंकरमे जैन शैलीसे लागू करके लोगोको ऐसा सूचित करनेका प्रयत्न किया है कि तुम जिन ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वरको मानते हो वह त्रिमूर्ति तो वास्तवमें जैन तीर्थंकर ही है, दूसरे कोई नही। इसी प्रकार लोगोमें प्रतिष्ठाप्राप्त इन्द्र, सूर्य आदि वैदिक देवोको, आदिसाख्य अर्थात् कपिल जैसे तत्त्वज्ञ महर्षिको तथा सद्धर्मके प्रचारकके रूपमे चारो ओर ख्यातिप्राप्त तथागत सुगतको इन दोनो स्तुतिकारोने अल्पाधिक परिमाणमे अपनाकर और अपने स्तुत्य तीर्थंकरमें उनका वास्तविक अर्थ घटाकर[4] लोगोको उसीमे ही उनका साक्षात्कार करनेका सूचन किया है। यही बात भक्तामर (२३–२६) और कल्याणमन्दिर (१८) मे हम देख सकते है।

उपनिषद् और गीताके अभ्यासकी गहरी छाप प्रस्तुत स्तुतिपचकमे ही नहीं, दूसरी अनेक बत्तीसियोमे स्पष्ट परिलक्षित होती है[5], परतु स्वयम्भूस्तोत्रमे वैसी नही है।

---

१. एमेव हं लोकपिता स्वयम्भू चिकित्सकः सर्वप्रजान नाथः।

—सद्धर्मपुण्डरीक पृ० ३२६।

अमरकोशमें भी बुद्धके नामके रूपमें अद्वयवादी और विनायक शब्दका प्रयोग देखा जाता है। वस्तुतः ये दोनो शब्द वैदिक सम्प्रदायके हैं।

२. १.१; २.१; ३.१।

३. स्वयम्भू० १।

४. तुलना करो १.१; २.१, १९ और स्वयम्भू० ३.५।

५.

बत्तीसी		गीता	
अव्यक्तमव्याहतविश्वलोकमनादिमध्यान्तमपुण्यपापम्।	१.१	अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्।	अ० ११.१९
समन्तसर्वाक्षगुणं निरक्षं स्वयंप्रभं सर्वगतावभासम्।	१.२	सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।	अ० १३.१४

श्वेताश्वतर अ० १३, १६-७।

ब्राह्मणधर्ममें प्रतिष्ठित आश्रमव्यवस्थाके अनुगामी कालिदासने लग्नभावना-का औचित्य दिखलानेके लिए महादेव और अजके विवाहकालीन नगरप्रवेशका प्रसंग लेकर उस प्रसंगसे हर्षोत्सुक स्त्रियोंके अवलोकनकौतुकका जैसा मार्मिक शब्दचित्र अंकित किया है[1], वैसा चित्र अश्वघोषके काव्यमें[2] और सिद्धसेनकी स्तुतिमें[3] भी है। अन्तर है तो वह केवल इतना ही है कि अश्वघोष और सिद्धसेन दोनों श्रमणधर्ममें प्रतिष्ठित एकमात्र त्यागाश्रमके अनुगामी होनेके कारण उनका वह चित्र वैराग्य और गृहत्यागके साथ मेल खाता है और इसीलिए उसमें बुद्ध और महावीरके गृहत्यागसे खिन्न और निराश स्त्रियोंकी शोकजन्य चेष्टाओंका सूचन है।

वसन्ततिलका छन्दवाली दूसरी बत्तीसी पढते ही भक्तामर और कल्याण-मन्दिरका स्मरण हो आता है। इन दोनोंमें शब्दविन्यास, शैली, प्रसादगुण और कल्पनाका कुछ सादृश्य[4] होनेपर भी एक अंतर ध्यानमें आता है और वह यह कि

विद्यामहेश्वरम्	२.१	मायिनं तु महेश्वरम्।—श्वेता० ४.१०
ब्रह्माक्षरम्	२.१	कठ० १.२ और १५; गीता ८.१५
३.८		श्वेता० १.२; ६.१
१० २३-४		गीता ६.११–३, श्वेता० ४.१०-१
१०.२८		गीता २.४०
१३.३२		कठ० २.५

१. कुमारसंभव सर्ग ७, श्लो० ५६; रघुवंश सर्ग ७, श्लो० ५।

२ बुद्धचरित सर्ग ८, श्लो० २०।

३. बत्तीसी ५.१०-१। इनमेंसे दसवाँ श्लोक सौन्दरनन्दके ६.४ की छाया है। जैसे कि—

> अपूर्वशोकोपनतक्लमानि नेत्रोदकक्लिन्नविशेषकाणि।
> विविक्तशोभान्यबलाननानि विलापदाक्षिण्यपरायणानि॥ ५.१०
> सा खेदसंस्विन्नललाटकेन निःश्वासनिष्पीतविशेषकेण।
> चिन्ताचलाक्षेण मुखेन तस्थौ भर्तारमन्यत्र विशंकमाना॥
>
> —सौन्दरनन्द सर्ग ४, श्लो० ६

४. तुलना करो बत्तीसी 'चित्रं किमत्र' २.८, भक्तामर० १५, कल्याण० २० तथा बत्तीसी क्षणेन २.२३, कल्याण० श्लोक ११, १५।

शैलीके लिए : बत्तीसी २.१५, भक्तामर० २९, कल्याण० ७।

कल्पनाके लिए : बत्तीसी २७–९, भक्तामर० १७–९।

उस बत्तीसीमें सिद्धसेनके तत्त्वज्ञानकी ऊर्मियाँ दृष्टिगोचर होती हैं[1], तो भक्तामर और कल्याणमन्दिरमें कहींपर तत्त्वज्ञानका उन्मेषतक नहीं है। कल्याणमन्दिर यदि सिद्धसेनकी कृति होती, तो उसमें उनका सहज तत्त्वज्ञान एकाध बार भी आये बिना न रहता, ऐसी भी कल्पना आती है।

तीसरी बत्तीसीके प्रारम्भमें पुरुषोत्तमत्वकी जो भावना महावीरमें आरोपित की गयी है, वह गीता (अ० १५) में आये हुए पुरुषोत्तमके और योगसूत्र (१.२४) में उल्लिखित पुरुषविशेषके वर्णनसे प्रभावित है, ऐसी कल्पना होती है।

वैतालीय छन्दमें चौथी स्तुति जब हम पढ़ते हैं, तब विषयभेद होनेपर भी शब्दबन्ध और नादकी समानताके कारण कालिदासके रतिविलाप (कुमारसंभव सर्ग ४) और अजविलाप (रघुवंश सर्ग ८) का तथा अश्वघोषवर्णित नन्दके स्त्री-विघात (सौन्दरनन्द सर्ग ८) का स्मरण हुए बिना नहीं रहता।

यद्यपि पाँचों स्तुतियाँ एकके बाद एक इस तरह क्रमसे छपी हैं, इसलिए इस समय हमें अखण्ड एक स्तुतिके रूपमें ही प्राप्त होती हैं, फिर भी उनमेंसे प्रत्येकका आदि-अन्त देखनेपर ऐसा मालूम होता है कि वे सब अलग-अलग स्वतन्त्र रूपसे ही रची गयी होंगी और बादमें ही एक साथ रख दी गयी होंगी। पाँचवीं स्तुति यद्यपि बत्तीस श्लोक जितनी एक छोटी-सी कृति है, तथापि उसमें गृहस्थाश्रम, गृहत्याग, कठोर साधनाके लिए वनविहार, भयंकर परीषह और उनपर विजय, प्राप्त दिव्य ज्ञान और उसके द्वारा लोगोंमें किया गया धर्मप्रचार—इस प्रकार महावीरके जीवनकी बातोंका अत्यन्त संक्षेपमें क्रमिक वर्णन होनेसे उसे पढ़नेपर ऐसा प्रतीत होता है कि मानो महावीरके जीवनका संक्षेपमें चित्रालेखन करनेवाला यह छोटा-सा काव्य ही न हो ? इस जगह आचारांग प्रथम श्रुतस्कन्धके महावीर-जीवन-विषयक अंतिम नवम अध्ययनका स्मरण हो आता है।

स्तुतिपंचकमें मुख्य वस्तु स्तुति है, और स्तुति यानी असाधारण गुणका कथन। इससे हमें यह देखना चाहिए कि सिद्धसेनने अपने स्तुत्य महावीरकी असाधारणताका किस-किस रूपमें वर्णन किया है। इस दृष्टिसे स्तुतिपंचकको देखनेपर उसमें वर्णित असाधारणताको मुख्य रूपसे चार भागमें बाँट सकते हैं : (१) सम्प्रदायस्वीकृत शरीरके अतिशयोंके वर्णन द्वारा[2], (२) जीवनमें घटित

---

१. बत्तीसी २.१९, २२, २५, ३१।

२. बत्तीसी १.१४।

घटनाके रूपमे शास्त्रमे उल्लिखित प्रसंगोंके वर्णन द्वारा,[1] (३) अन्य सम्प्रदायों तथा उनके मान्य आचार्योका अधिक्षेप करके स्वसम्प्रदाय और उसके प्रणेता महावीरकी उत्कृष्टताके वर्णन द्वारा[2], और (४) आचार, विचार, भाषा, दृष्टि और तात्त्विक सिद्धान्तके बारेमें अन्य प्रवादियोकी अपेक्षा महावीरकी विशिष्टताके वर्णन द्वारा[3]।

सिद्धसेनकी इन स्तुतियोके साथ समन्तभद्रकृत युक्त्यनुशासन और आप्तमीमासा तथा हेमचन्द्रका वीतरागस्तोत्र तथा अयोग एव अन्ययोगव्यवच्छेद द्वात्रिंशिकाएँ भी विषयकी दृष्टिसे सन्तुलनीय है।

ग्यारहवी बत्तीसीके अन्तमे 'गुणवचनद्वात्रिंशिका' नाम मुद्रित है। उसमे किसी राजाकी स्तुति है। इस स्तुतिको पढ़नेपर ऐसा मालूम होता है कि मानो स्तुतिकार उस राजाके सम्मुख रहकर[4] ही उसके तेज, पराक्रम आदि गुणोका कविसुलभ विविध कल्पनाओ और अलकारोके द्वारा भिन्न-भिन्न अनेक छन्दोमे वर्णन कर रहे हो।

२ **समीक्षात्मक**—छठी बत्तीसीमे आप्तकी समीक्षा है, जो समन्तभद्रकी आप्तमीमासा और विद्यानन्दीकी आप्तपरीक्षाकी याद दिलाती है। इन तीनोमे आप्तका निर्धारण और आप्तकी अन्तिम पसन्दगी समान होनेपर भी तीनोके मार्गमे थोडा-थोडा अन्तर है। समन्तभद्र सामान्य जनवर्गमे आप्तत्वके साधन माने जानेवाले सभी बाह्य लक्षणोका निराकरण करके आप्तत्वके सच्चे साधकहेतुके रूपमे एकमात्र वीतरागत्वको निश्चित करते है, और वैसा वीतरागत्व दूसरे किसीमे नही, किंतु जैन तीर्थकरमे है, ऐसा प्रस्थापित करते है[5] और ऐसी प्रस्थापनाके लिए उनके अनेकान्तस्पर्शी शासनका मार्मिक वर्णन करते समय अपना जैन तत्त्वज्ञान उसमे नियोजित करते है। विद्यानन्दी जैन अरिहन्तका आप्तके रूपमें निर्धार करनेके लिए वस्तु तो समन्तभद्रकी लेते है, परन्तु नैयायिक आदिके द्वारा मान्य ईश्वर, साख्यसम्मत कपिल और बौद्धसम्मत सुगतके आप्तत्वका उनके मन्तव्योमे विरोध दिखलाकर खण्डन करते है और मीमासकसम्मत

१. चमरेन्द्रका प्रसग २.३; संगमका परीषह ५.१८।
२. बत्तीसी १.५, ६, ७, १२।
३. उदाहरणार्थ १.१८, २४ आदि।
४. देखो श्लोक २२।
५. देखो आप्तमीमांसा श्लो० १–७।

वेदके अपौरुषेयत्व तथा असर्वज्ञवादको भी प्रमाणविरुद्ध बताते हैं। इस प्रकार वे अपनी आप्तपरीक्षामे विरोधी दर्शनोंकी सविस्तर खण्डनात्मक समीक्षा नामनिर्देशपूर्वक करते है, तो सिद्धसेन अपनी छठी बत्तीसीमें यही वस्तु दूसरी तरह रखते हैं। वे देखते है कि महावीरको आप्तके रूपमें मान्य रखनेमें सबसे बड़ा व्यवधान पुरानेसे चिपके रहनेकी और पुरानेमे सत्य देखनेकी परीक्षाशून्य श्रद्धा है। इससे वे पहले पुरातनता क्या है और पुरातनके साथ सत्यका क्या सम्बन्ध है, इसकी कठोर एव तलस्पर्शी समालोचना करते हैं[1]। ऐसा करनेपर वे शत्रुओंके बढ़ जानेकी, निन्दा होनेकी या अन्य किसी प्रकारकी परवाह किये बिना अपना तर्कप्रवाह बहाते जाते हैं; और सभी वस्तुका तर्कसे परीक्षापूर्वक स्वीकार या परिहार करना चाहिए, ऐसा सूचित करके अन्तमे तर्ककी कसौटीसे स्वय महावीरको ही आप्तके रूपमे स्वीकार करते है। कालिदासने पुरानेमे गुण देखनेकी और नयेमे दोष देखनेकी अन्धश्रद्धाका तर्कपूर्वक निषेध किया है, परन्तु वह तो काव्यको उद्दिष्ट करके और वह भी अत्यन्त सक्षेपमे ही, जब कि सिद्धसेनने पुरातनता और नवीनताकी जो समीक्षा की है, वह अत्यन्त वैविध्यपूर्ण तथा सब विषयोमे लागू हो सके ऐसी है। इसीसे हम पहले भी कह चुके हैं कि 'पुराणमित्येव न साधु सर्वम्' इत्यादि कालिदासका पद्य छठी बत्तीसीमे भाष्यायमाण हुआ है। कालिदासके इसी पद्यका अन्तिम पाद उसी भावमे थोडे शाब्दिक परिवर्तनके साथ पहली बत्तीसीमे दृष्टि-गोचर होता है।[2]

आठवी बत्तीसीमें मात्र परपराजय और स्वविजयकी इच्छासे होनेवाली जल्प-कथाकी समीक्षा है। जल्पकथा करनेवाले सहोदर वादियोमे भी कैसी शत्रुता जमती है, जल्पकथा करनेवालोंमे सत्य और आवेशका तथा त्याग और कुटिलताका कैसा विरोध आता है, इस कथाको करनेवाला वादी वादका निर्णय देनेवाले सभा-पतिका कैसा खिलौना बनकर शास्त्रोंको किस प्रकार उपहासास्पद बनाता है, कल्याण और वादके मार्ग किस प्रकार एक नही है, थूक उडानेवाली करोडो कलह-कथाकी अपेक्षा एक शान्तिकथा किस प्रकार उत्तम है, वादीकी नीद किस तरह हराम हो जाती है और वह हार-जीत दोनोमे किस तरह मर्यादा खो बैठता है,

---

१. उदाहरणार्थं छठी बत्तीसी श्लो० १, ५, ८, १६।

२. 'परप्रणेयाल्पमतिर्भवान्सनः' (ब० १.९) और 'मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः' (मालविका० अंक १, प्रस्तावना)।

कथाकलहको धूर्त विद्वानोने किस तरह मीमांसा जैसे सुन्दर नाममें रूपान्तरित कर दिया है इत्यादि अनेक प्रकारके जल्पकथाके दोषोका, उसकी समीक्षामें, मार्मिक और मनोरजक उद्घाटन किया है[1]।

३. दार्शनिक और वर्णनात्मक—सातवी बत्तीसीके अन्तमें[2] 'वादोपनिषद्' ऐसा नाम है, जो बिलकुल सार्थक है, क्योकि उसमे वादकलाके रहस्यका ही सक्षिप्त किन्तु मार्मिक वर्णन है। सुकरातके जमानेमें और उससे पहले भी प्राचीन यूनानमें वादकलाका विकास हुआ था। उस कलाके विद्वान् सोफिस्ट (Sophists) कहलाते थे और वे युवकोको लोगोके समक्ष बोलनेकी तथा चर्चा करनेकी कला सिखलाते थे। इसी प्रकार आर्यावर्तमे भी ब्राह्मणकालके यज्ञवाटकोमे और उपनिषदोकी ब्रह्मपरिषदोमे भी मीमांसा होती थी। इस मीमासासे चर्चा—कथाका रूप निर्मित हुआ और उसके वाद, जल्प, वितण्डा जैसे प्रकार और उनके नियम बनाये गये। इसका विकास यहाँतक हुआ कि इस विषयके खास शास्त्र और खास प्रकरण रचे गये, जो ब्राह्मण एव श्रमणोके सम्प्रदायप्रचार तथा विजयकी भावनाके

---

१. बत्तीसी ८.१, २, ४, ७, ९, १२, १६, २४।

२. सातवीं बत्तीसीके पहले पद्यमें 'धर्मार्थकीर्त्यधिकृतानि' पद है। इसी प्रकार ग्यारहवीं राजप्रशंसा बत्तीसीमें 'महीपालोऽसीति' ऐसा २२वाँ पद्य है। प्रो० जेकोबीकी धर्मकीर्तिके बाद ही सिद्धसेनके होनेकी कल्पना जिसे ज्ञात हो, उसे ऊपरके पद्यको देखकर ऐसी कल्पना हो सकती है कि सिद्धसेनने अपने प्रतिपक्षी धर्मकीर्तिका सूचन तो इन पदोंसे नहीं किया होगा? कालिदासके समयका विचार करनेवाले कई विद्वान् उनके काव्यमेंसे स्कन्द—कुमार, दिङ्नाग आदि शब्दोको लेकर उनके आधारपर समयके विषयमें अनेक कल्पनाएँ करते है। किसी ग्रन्थकारके समयके विषयमें अनुमान करनेमें ऐसी खास शब्द-विषयक पद्धति बहुत बार अनुपयोगी ही होती है, ऐसा तो नहीं कहा जा सकता।

परन्तु यहाँ तो इतना ही हमें कहना है कि दूसरे बलवत्तर प्रमाणोंके आधारपर समयका निर्धारण हुआ हो, तभी ऐसी शब्दप्रयोगकी दलीलको उसके पोषकके रूपमें रखा जा सकता है; बाकी, ऐसी दलीलसे सर्वथा स्वतत्र रूपसे समय-निर्णय कभी नहीं किया जा सकता। हमने दूसरे सबल प्रमाणोसे यह बताया है कि सिद्धसेन धर्मकीर्तिसे पहले ही हुए है। इससे उक्त पद समय-विषयक कल्पनामें सहायक नहीं हो सकते।

द्योतक हैं।[1] प्रस्तुत बत्तीसीमें ऐसे ही साहित्य एवं भावनाकी प्रेरणा है। इसमें कर्ताने स्पष्ट कहा है कि यदि शोभास्पद फरमान प्राप्त करने हो, तो सभाओंमें वादविवाद करके ही प्राप्त करने चाहिए। वादी सभामें जाकर पहले क्या जाँचे, उसके बाद क्या करे, किस तरह बोले, कौनसे गुण धारण करे और किस बातको जाने दे इत्यादि वादकथाके अनेक रहस्य इस बत्तीसीमें काव्यत्वके साथ उपलब्ध होते हैं।

नवी वेदवाद नामकी बत्तीसीमें[2] उपनिषद्का ब्रह्मतत्त्व प्राचीन पद्यबद्ध उपनिषदोंके ढंगपर और प्रायः उन्हींके शब्दोंमें वर्णित है। इसमें खास करके श्वेताश्वतर उपनिषद्का आधार है और कहीं-कहीं ब्रह्मका वर्णन करनेवाली ऋग्वेदकी प्रसिद्ध ऋचाओंका भी संकलन किया गया है। यह सारा वर्णन इतना अधिक और ऐसा तो विरोधगर्भित है कि वह किसी विपक्षीके द्वारा खण्डन दृष्टिसे लिखा गया हो, तो वैसा भी सम्भव है और यदि वह किसी श्रद्धालु वेदान्तीके द्वारा लिखा गया हो, तो वह उसके गहरे तत्त्वज्ञानकी प्रतीति करा सके ऐसा है।

बारहवींमें न्यायदर्शनका, तेरहवींमें सांख्यदर्शनका, चौदहवींमें वैशेषिकदर्शनका और पन्द्रहवींमें बौद्धदर्शनकी शून्यवाद आदि शाखाओंका वर्णन है। अशुद्धियोंके आधिक्यके कारण इनका वक्तव्य एकदम स्पष्ट रूपसे समझमें नहीं आता, फिर भी इतना तो लगता ही है कि ये बत्तीसियाँ उस-उस दर्शनका प्रतिपादकसरणीसे वर्णनमात्र करती हैं। न्यायबत्तीसी और वैशेषिकबत्तीसी अनुक्रमसे गौतम और कणादके सूत्रोंके अभ्यासकी साक्षी भरती हैं। सांख्यबत्तीसीको देखनेपर स्पष्ट प्रतीत होता है कि उसमें पीछे ईश्वरकृष्णकी कारिकासे भिन्न अन्य किसी सांख्य ग्रन्थका अभ्यास है, क्योंकि ईश्वरकृष्णकी कारिकामें प्रमाणोंकी जो संख्या और प्रत्यक्ष प्रमाणका जो लक्षण दिया गया है, वह उक्त

---

१. न्यायदर्शन २.१.१–३ तथा नागार्जुनकी विग्रहव्यावर्तनी, योगाचारभूमिशास्त्र और प्रकरणार्यवाचा। (देखो 'Buddhist Logic before Dinnaga' ज० रो० ए० सो०, जुलाई १९२९, पृ० ४५७।)

२. यह सम्पूर्ण वेदवादद्वात्रिंशिका शुद्ध करके 'भारतीय विद्या' वर्ष ३, अंक १ में छपी है और इसी नामसे अलग पुस्तिकाके रूपमें गुजराती अनुवाद तथा वेद एवं उपनिषदोंके साथ तुलना करके विवेचनके साथ भारतीय विद्याभवन द्वारा प्रकाशित भी की गयी है।

बत्तीसीमें नही है।[1] बौद्धदर्शनका वर्णन देखनेपर ऐसा मालूम होता है कि उसके पीछे नागार्जुनकी मध्यमककारिका जैसे शून्यवादी ग्रन्थोके अतिरिक्त दूसरे विज्ञानवादी ग्रन्थोका भी मार्मिक अभ्यास है।

दसवी बत्तीसीमे जिनोपदेशका वर्णन है। इसमे ससारके कारणभूत आर्त और रौद्र ध्यानका तथा मोक्षके कारणभूत धर्म और शुक्ल ध्यानका वर्णन है, परतु उस वर्णनमे श्वेताश्वतर[2] और गीतामे[3] प्रसिद्ध सर्वयोगिसाधारण योगकी स्थान, आसन, जप, प्राणायाम इत्यादि प्रक्रियाका दिग्दर्शन है और योगसूत्रप्रसिद्ध[4] अपर और पर वैराग्यका स्पष्ट पृथक्करण है। यह वर्णन है तो सक्षिप्त, पर उसमे बहुत गहराई भासित होती है।

सोलहवी बत्तीसी, उसमे छपे हुए नामके अनुसार, नियतिवादके विषयमे है, परन्तु उसमे क्या वस्तु है, यह अशुद्धिके कारण समझमे नही आती। इसके अतिरिक्त उसमें नियति शब्द भी नही दिखायी पडता, जब कि तीसरी बत्तीसीमें नियति शब्दका प्रयोग हुआ है, फिर भी दो बातें तो निश्चित प्रतीत होती है कि उसमें किसी दार्शनिक विषयकी चर्चा है और वह बहुत गूढ तथा तार्किक विश्लेषणवाली है।

सत्रहवीसे लेकर बीसवीतककी चार बत्तीसियोको, अत्यन्त अशुद्ध होनेसे, पूर्ण और यथार्थ रूपसे समझना कठिन कार्य है, फिर भी ये चारों जैन दर्शनके विषयमे हैं, इस बारेमे तो कोई शका नही रहती। सत्रहवी और अठारहवीके अन्तमे कोई नाम छपा नही है, जब कि उन्नीसवीके अन्तमे दृष्टिप्रबोध और बीसवीके अन्तमे निश्चयद्वात्रिंशिका नाम छपा है। बार-बार और बहुत परिश्रमपूर्वक देखनेसे इन बत्तीसियोके विषयोमे जो कुछ ख्याल आ सका है, उसका सक्षिप्त सार इस प्रकार है--

सत्रहवी बत्तीसीमे आस्रव और सवर ये जैन पारिभाषिक शब्द आते हैं। मानो उसमे व्यवहार और निश्चयसे आस्रव एव सवर तत्त्वका निरूपण किया जा रहा हो, ऐसा प्रतीत होता है। ससारके कारणका तथा मोक्षके उपायका निरूपण ही इस बत्तीसीका विषय ज्ञात होता है।

---

१. तुलना करो : ईश्वरकृष्णकारिका ३ और बत्तीसी १३.५।

२. बत्तीसी १०.२३-४।

३. योगदर्शन १.१५-६ यशोविजयजीकी वृत्तिके साथ बत्तीसी १.२१।

४. बत्तीसी ३.८।

आर्य अर्थात् श्रेष्ठमति पुरुष दोषोंको छोड़ते हैं, जब कि पृथग्जन अर्थात् साधारण मनुष्य घर आदि (स्वजन परिवार) का त्याग करके निकल जाते हैं, परन्तु परोपकारमग्न पुरुष तो इन दोनोका अनुसरण करते है (१६)— इस उक्तिमें कर्ताने व्यवहार और निश्चय दोनों प्रकारकी प्रव्रज्याका समन्वय किया है, ऐसा प्रतीत होता है। इसमे प्रयुक्त 'पृथग्जन' शब्द बौद्ध ग्रन्थोंमें अधिक प्रसिद्ध है; साथ ही इसमे परोपकारी सन्तका विशिष्ट लक्षण भी सूचित किया गया है।

कर्मका समान या असमान फल जिस निमित्तके सम्बन्धपर अवलम्बित है, उस निमित्तका ज्ञान प्राप्त करना ही चाहिए, क्योकि वस्तुको जाननेवाला बादमें सन्ताप प्राप्त नही करता। जीव मनसे ही विषयोंको भोगता है और मनसे ही छोडता है। ऐसा होनेसे कर्मका निमित्त शरीरमे है या बाहर है, बहुत है या थोडा है—यह किस तरह जाना जाय ? (१७-८) ऐसा कहकर ग्रन्थ-कर्ता 'मन एव मनुष्याणा कारण बन्धमोक्षयो' इस सिद्धान्तका स्पष्टीकरण करते प्रतीत होते है।

ममत्वसे अहकार नही, परन्तु अहकारसे ममत्व माना जाता है, क्योंकि सकल्प अर्थात् अहकारके बिना ममता सम्भव ही नहीं है। अत अहकारमे ही अशिव यानी दु खका मूल है। (१९) ऐसा कहकर सिद्धसेन अहकारको ही सभी दोषोका मूल सूचित करते है और उसके उपायके रूपमे 'नाहमस्मीति'— मै नही हूँ, ऐसी बौद्ध भावनाको लेकर और उसे जैन दृष्टिसे अपनाते हुए कहते है कि यह भावना अभावात्मक और भावात्मक उभय रूप है। ऐसा कहकर कर्ता सुख-दु खके स्वरूपका वर्णन करते है। वे ज्ञान और क्रिया दोनोंकी सम्मिलित भावसे सार्थकता बताते हुए कहते है कि जैसे रोगका मात्र ज्ञान रोगकी शान्ति नही कर सकता, वैसे ही आचरणशून्य ज्ञानके बारेमे भी समझना चाहिए। ·····(२७)

अठारहवी बत्तीसीमे अनुशासन (शिक्षा) करते समय कित-कितनी बातों-पर ध्यान रखना चाहिए, यह बतलानेके लिए सिद्धसेनने देश, काल, परम्परा, आचार, वय और प्रकृतिकी ओर ध्यान आकर्षित किया है। (१)

शासन करनेवालेमें कितने गुण होने चाहिए, यह बतलाते हुए उन्होंने कहा है कि जिसमें अन्दरकी और बाहरकी शुद्धि हो, जिसमें सौम्यता हो, जिसमें तेज और करुणा दोनों हो, जो अपने और दूसरोंके प्रयोजनको जाननेके साथ-ही-साथ वाक्पटु भी हो तथा जिसने आत्माके ऊपर काबू प्राप्त किया हो, वही शासक हो सकता है। (२)

उन्होंने शैक्ष अर्थात् अध्येताके प्रकार बताते हुए कहा है कि कोई स्वतः उत्पन्न सन्देहसे युक्त होता है, तो कोई दूसरेके प्रयत्नसे सन्देहवाला होता है। किसीमें ग्रन्थ—शब्द धारण करनेकी शक्ति होती है, तो किसीमे अर्थधारणकी शक्ति होती है, जब कि दूसरे किसीमें ग्रन्थ और अर्थ दोनो धारण करनेकी शक्ति होती है। (५)

आचारका वर्णन करते हुए वे कहते है कि शिष्योका आचार उनके प्रयोजनके अनुसार अनेक प्रकारका होता है··· ·। (६) इसके बाद आनेवाले गीतार्थ और आसेवनपरिहार ये दो शब्द (१४-५) खास जैन परम्पराके ही बोधक है।

उन्नीसवी बत्तीसीके प्रारम्भमें जैनदर्शनप्रसिद्ध ज्ञान-दर्शन-चारित्रका मोक्ष-मार्गके रूपमे निर्देश है। (१) इसके पश्चात् सूक्ष्म ज्ञानमीमासा है। द्रव्यमीमासा भी इसमे यथाप्रसग आयी है, जिसमे जैनशास्त्रप्रसिद्ध छ द्रव्योमेसे अन्तमे जीव और पुद्गल इन दो ही द्रव्योके अस्तित्वके ऊपर भार दिया गया हो, ऐसा आपातत भान होता है। (२४–६) इसमे द्रव्यपर्याय, व्यजनपर्याय, सकलादेश, विकलादेश (३१) ये जैन पारिभाषिक शब्द है ही।

बीसवी बत्तीसीमे महावीरका शासन कैसा है, यह बतलाते हुए सिद्धसेन कहते हैं कि जिसमे द्रव्य और पर्याय तथा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यका निरूपण हो वह सब वर्धमानका ही शासन है। (१)

इसमे उन्होने विवाद करते हुए वादियोको लक्ष्यमे रखकर कहा है कि सभी वादियोके वक्तव्य-विषयमे प्रमाण तो होते ही हैं, फिर भी वे बेचारे नाम और आशय-भेदसे विवाद किया करते है। (४)

उन्होने दोषोकी शान्तिके उपाय सूचित करते हुए कहा है कि जिन ज्ञान अथवा आचारसे दोष दूर हो, वे उनकी शान्तिके उपाय है। ··· (६)

बँधनेके और छूटनेके प्रकार बताते हुए वे कहते हैं कि ससारके और मोक्षकी प्राप्तिके उपाय समान ही है, न कम न अधिक। सातवे श्लोकमे सन्मतिके तीसरे काण्डकी गा० ४८-९ के जैसा ही बौद्ध, साख्य और कणाद मतका निर्देश है। बारहवेमे सकलादेश और विकलादेश शब्द भी आते हैं।

बाईसवी द्वात्रिंशिकामें प्रमाणकी चर्चा शुरू करके अन्तमे उसमे परार्थानुमानकी ही विस्तारसे चर्चा आती है। उसमे जैन दृष्टिसे पक्ष, साध्य, हेतु, दृष्टान्त, हेत्वाभास इत्यादिके लक्षण है और अन्तमे उसमे नयवाद और अनेकान्तवादके बीचका अन्तर बहुत ही स्पष्ट रूपमे बताया गया है। ऐसा मालूम होता है कि

इस ग्रन्थकी रचना जैन न्यायका अभ्यास करनेके लिए की गयी होगी। यह न्यायावतार ग्रन्थ गुजराती विवेचन और प्रस्तावनाके साथ अलग भी प्रकाशित हो चुका है।[1]

उपलब्ध बत्तीसियोमे अनेक स्थानोपर ऐसे विचार है, जो सन्मतिके साथ बराबर मिलते-जुलते है[2]।

—सुखलाल और बेचरदास

---

१. जैन साहित्य संशोधक खण्ड ३ अंक १।

२. उदाहरणार्थ—

बत्तीसी	सन्मति
१.२०	३.५०
३.८	३.५३
६.२८	३.६५
१.२७ और २९	३.६८

संपूर्ति

'अनेकान्त' पत्रके 'सन्मति-सिद्धसेनाक' (नवम्बर-दिसम्बर, १९४९, किरण ११-१२) मे हमारे उन कतिपय मन्तव्योकी समालोचना है, जो मन्तव्य हमने सिद्धसेन दिवाकर, उनके सन्मति-तर्क, सन्मतिके व्याख्याकार मल्लवादी तथा सिद्धसेनकी द्वात्रिंशिकाएँ इत्यादि मुद्दोपर सन्मति-तर्कके गुजराती विवेचनवाले सस्करणकी प्रस्तावनामे प्रकट किये थे। अब उसी गुजराती विवेचन तथा प्रस्तावनाका आवश्यक सशोधनके साथ हिन्दी रूपान्तर प्रकट किया जा रहा है। अतएव उक्त 'सन्मति-सिद्धसेनाक' के खास लेखमे वयोवृद्ध मुख्तार श्री जुगलकिशोरजीने हमारे मन्तव्योके ऊपर जो-जो आपत्ति उठायी है अथवा जो-जो सन्देह प्रकट किया है, उन सबका, यथासम्भव सक्षेपमे, यहाँ जवाब देना प्रस्तुत एव आवश्यक है।

सिद्धसेनका समय और उनका सन्मतितर्क

पहले हम सिद्धसेनके समय तथा उनकी कृति सन्मति-तर्कके बारेमे आजतकके अध्ययन-चिन्तनके फलस्वरूप जिस परिपक्व निश्चयपर पहुँचे है, उसे सप्रमाण सक्षेपमे लिखते है।

सिद्धसेनके सन्मति-तर्कके व्याख्याकार तार्किक मल्लवादी हुए है। मल्लवादीका समय, जो परम्पराप्राप्त है वह, है वि० स० ४१४ वाला उल्लेख। इस उल्लेखके साथ किसी भी प्रमाणका विरोध नही आता, प्रत्युत मल्लवादीके विक्रमीय पचम शताब्दी पूर्वार्धके समयके साथ पूरी तरहसे मेल खानेवाले अनेक सवादी प्रमाण उपलब्ध है। जैसे कि, मल्लवादीकी स्वोपज्ञ नयचक्र-वृत्तिमे दिङ्नागतकके ही बौद्ध विद्वानो तथा उनकी कृतियोके निर्देश है, इतना ही नही, बल्कि बौद्धेतर दर्शनोकी अनेक परम्पराओके जिन ग्रन्थो और ग्रन्थकारोका मल्लवादीने सूचन या निर्देश किया है, उनमेसे एक भी विक्रमीय पचम शताब्दीसे बादका नही है। मल्लवादीकी स्वोपज्ञवृत्तिके विस्तृत टीकाकार एव मल्लवादीके ही वृत्तिगत सक्षिप्त निर्देशोको विस्तारसे अवतरणपूर्वक दरसानेवाले सिंहगणिक्षमाश्रमणकी न्यायागमानुसारिणी टीकामे भी दिङ्नागके समयतकमे होनेवाले ग्रन्थ और ग्रन्थकारोका सूचन है। जिस बौद्ध परम्पराके साथ मल्लवादीका खास सघर्ष हुआ था, उसके प्रखर तार्किक धर्मकीर्तिके किसी ग्रन्थका या उनके नामका उल्लेख नही और धर्मकीर्तिके पूर्ववर्ती दिङ्नागका ही 'विद्वन्मन्य अद्यतन' विशेषणसे उल्लेख है। यह असन्दिग्ध रूपसे

सूचित करता है कि मल्लवादी और उनके टीकाकार सिंहगणिक्षमाश्रमणके सम्मुख दिङ्नागसे उत्तरवर्ती किसी धर्मकीर्ति जैसे प्रखर तार्किकका साहित्य न था। सिंहगणिक्षमाश्रमणने कुमारिलका सूचन भी कही नही किया है, जब कि वैदिक पूर्वमीमासाके मन्तव्योंके वर्णन-प्रसगमे कुमारिल जैसे धुरन्धर पूर्वपक्षीका उल्लेख आना क्रमप्राप्त है।

इस विचारसरणीसे मुनि श्री जम्बूविजयजीने[1] तथा प० श्री दलसुख मालवणियाने[2] अपने-अपने लेखोमे मल्लवादीका अस्तित्व-समय विक्रमीय पचम शताब्दीका पूर्वार्ध स्थिर किया है, जैसा कि हमने बहुत वर्षोंके पहले ही सन्मतिकी गुजराती प्रस्तावनामे लिखा था।

मल्लवादी सन्मतिके वृत्तिकार है और उन्होने अपनी नयचक्रपरकी स्वोपज्ञ वृत्तिमे सन्मतिकी गाथा भी उद्धृत की है।[3] सन्मति सिद्धसेन दिवाकरकी कृति है। इसलिए सिद्धसेन दिवाकरका समय विक्रमकी चौथी शताब्दीका उत्तरार्ध और पाँचवी शताब्दीका पूर्वार्ध, जो हमने पहले सन्मतिकी गुजराती प्रस्तावनामे सूचित किया था वह, निर्बाध है।

प० श्री दलसुख मालवणियाने अपने 'न्यायावतारवार्तिकवृत्ति' के सस्करण (सिंघी सिरीज) मे 'न्यायावतारकी तुलना' शीर्षक प्रथम परिशिष्टमे जो न्याया-

---

१. देखो 'आत्मानन्द प्रकाश'में प्रकाशित लेख—(१)'श्री द्वादशारनयचक्र : महाशास्त्र' के अन्तर्गत 'आ० श्री मल्लवादी क्षमाश्रमणनो समय' (पृ० १८८ से, पु० ४५, अ० १०, जून १९४८); (२) 'नयचक्र ग्रन्थ अने बौद्ध साहित्य' (पृ० ९ से, पु० ४९, अं० १, १५ अगस्त, १९५१ तथा अं० २, पृ० १८, १५ सितम्बर, १९५१)।

२. देखो 'राजेन्द्रसूरि स्मारक ग्रन्थ' में 'आचार्य मल्लवादीका नयचक्र' नामक लेख, पृ० २१०; तथा प० श्री दलसुख मालवणिया द्वारा सम्पादित 'धर्मोत्तर-प्रदीप' (प्रकाशक : काशीप्रसाद जायसवाल अनुशीलन-संस्था) की प्रस्तावनामें पृ० ५४ पर 'मल्लवादीकृत धर्मोत्तरटिप्पण।'

३. देखो मुनि श्री जम्बूविजयजी द्वारा सम्पादित सवृत्तिक नयचक्र, पृ० ३५। वह गाथा इस प्रकार है—

णिययवयणिज्जसच्चा सव्वणया परवियालणे मोहा।
ते पुण अदिट्ठसमओ विभजइ सच्चे व अलिए वा॥ १.२८॥

वतारकी अनेक बौद्ध ग्रन्थोके साथ विस्तृत एव मार्मिक तुलना की है, उस तुलनापर अगर कोई भी गम्भीर दार्शनिक विचार करेगा, तो उसे न्यायावतारका दिङ्नागके प्रमाण-ग्रन्थोंके साथ आन्तरिक सम्बन्ध विदित हुए बिना न रहेगा।

एक बात और भी महत्त्वकी है। नयचक्रशास्त्र रचनेका क्या प्रयोजन है, इसको स्पष्ट करते हुए स्वोपज्ञ नयचक्रवृत्तिके व्याख्याकार सिंहगणिक्षमाश्रमणने कहा है कि 'सन्मति', 'नयावतार' जैसे ग्रन्थ तथा 'सप्तशतारनयचक्र' जैसा आर्ष अध्ययन ग्रन्थ पूर्वाचार्यविरचित रहे, फिर 'द्वादशारनयचक्र' रचनेका प्रयोजन क्या है? जवाबमे मल्लवादीके अभिप्रायको सिंहगणिक्षमाश्रमणने इस प्रकार प्रकट किया है कि वे पूर्वाचार्यप्रणीत ग्रन्थ विस्तृत है, अतएव विस्तररुचि नही रखनेवाले जिज्ञासुओको सक्षेपमे नय-विषयक ज्ञान करानेके लिए मल्लवादीने द्वादशारनयचक्र रचा है।[1] सिंहगणिक्षमाश्रमणके इस कथनमे ऐतिहासिक महत्त्वकी बात यह है कि मल्लवादीने द्वादशारनयचक्र रचा, तब सन्मति और नयावतार ही नही, बल्कि सप्तशतारनयचक्र जैसा आर्ष अध्ययन भी मौजूद था।

सिंहगणिक्षमाश्रमण कुमारिल और धर्मकीर्तिके पूर्ववर्ती तो है ही, पर श्री जिनभद्रगणिक्षमाश्रमणके पूर्ववर्ती भी सम्भवत. जान पडते है। अतएव मल्लवादीका समय विक्रमीय पाँचवी शताब्दी माननेमे न तो कोई बाधक है और न कोई असगति। श्रीयुत मुख्तारजीको मल्लवादीके समयके बारेमे जो भ्रम हुआ है, उसका कारण दो मल्लवादियोका एकीकरण है। न्यायबिन्दुकी धर्मोत्तरीय वृत्तिके टिप्पणकार मल्लवादी नयचक्रके रचयिता मल्लवादीसे भिन्न और बहुत पीछेके है। इस तथ्यको प० श्री दलसुख मालवणियाने काशीप्रसाद जायसवाल रिसर्च इन्स्टिटयूट, पटनासे प्रकाशित 'धर्मोत्तरप्रदीप' की प्रस्तावनाके पृ० ५५ पर स्पष्ट रूपमे दरसाया है।

---

१. नयचक्रवृत्तिके अन्तमें: "अधुना तु शास्त्रप्रयोजनमुच्यते—सत्स्वपि पूर्वाचार्यविरचितेषु सन्मतिनयावतारादिषु नयशास्त्रेषु अर्हत्प्रणीतनैगमादिप्रत्येकशतसंख्यप्रभेदात्मकसप्तशतारनयचक्राध्ययनानुसारिषु तस्मिश्च आर्षे सप्तशतारनयचक्राध्ययने च सत्यपि द्वादशारनयचक्रोद्धरणं विस्तरग्रन्थभीरून् संक्षेपाभिकाङ्क्षिणः शिक्षकजनाननुग्रहीतु 'कथ नामाल्पीयसा कालेन नयचक्रमधीयेरन् इमे सम्यग्दृष्टयः' इत्यनयानुकम्पया संक्षिप्तग्रन्थं बह्वर्थमिदं नयचक्रशास्त्रं श्रीमच्छ्वेतपटमल्लवादिक्षमाश्रमणेन विहितं . . . ।"

सन्मति-तर्ककी रचनाका आधार

सिद्धसेनने सन्मति-तर्ककी रचना श्वेताम्बरीय परम्परामें आजतक सर्वसम्मत आगम-ग्रन्थोंके आधारपर एव आगमिक परिभाषाका अवलम्बन लेकर की है। यह बात सन्मतिके तीनो काण्डोंमे चर्चित विषयक्रम एव प्रयुक्त परिभाषासे निःसन्देह जानी जा सकती है। उदाहरणार्थ—पहले काण्डमे जहाँ भगोंका वर्णन है, वहाँ 'भगवतीसूत्र' गत आगमिक परिभाषा एव आगमिक क्रमका उपयोग किया है, जैसा कि वाचक उमास्वातिने 'अर्पितानर्पितसिद्धे' (तत्त्वार्थ ५ ३१) सूत्रके भाष्यमें किया है।[1] वाचक उमास्वाति अपने दीक्षागुरुको 'एकादशांगवित्' कहते है।[2] इसी तरह सिद्धसेन नयकाण्डके अन्तमे 'एगे आया' इत्यादि स्थानागसूत्रगत[3] पाठको अवलम्बित कर अपना विधान करते है। दूसरे काण्डमे सिद्धसेनने अपना उपयोगा-भेदवाद स्थापित करनेके लिए जिस-जिस आगमिक सूत्रको लेकर आलोचना की है, वे सब सूत्र 'पन्नवणा' और 'भगवती' के है।[4] तीसरे काण्डमे सिद्धसेनने गुण-

---

१. देखो—सिंघी जैन ग्रन्थमालामें प्रकाशित 'न्यायावतारवार्तिकवृत्ति' की प्रस्तावनामें 'स्याद्वादके भंगोंका प्राचीन रूप' (पृ० ४४)।

तुलना करो—'सन्मतितर्क' का० १, गा० ३४—४१ तथा तत्त्वार्थाधिगम-सूत्रके अ० ५ सू० ३१ (अर्पितानर्पितसिद्धेः) का स्वोपज्ञ भाष्य।

२. भाष्यके अन्तकी प्रशस्तिमें—

शिष्येण घोषनन्दिक्षमणस्यैकादशांगविदः ॥ १ ॥

३. एव 'एगे आया एगे दडे य होइ किरिया य।'—सन्मतितर्क, १.४९ इसके साथ तुलनाके लिए देखो—'एगे आया। एगे दडे। एगा किरिया। स्थाना० सू० २-३-४।

४. सन्मतिकी गाथा इस प्रकार है—

केई भणंति 'जइया जाणइ तइया ण पासइ जिणो' त्ति।
सुत्तमवलम्बमाणा तित्थयरासायणाभीरू ॥ २.४ ॥

पन्नवणाका पाठ इस प्रकार है—

"से केणट्ठेण भंते! एवं वुच्चति—केवली णं इमं रयणप्पभं पुढवि आगारेहि जं समय जाणति नो तं समयं पासति, जं समयं पासति नो तं समयं जाणति ?"

"गोयमा! सागारे से नाणे भवति, अणागारे से दंसणे भवति, से तेणट्ठेणं जाव णो तं समयं जाणति···।"

—प्रज्ञापना ३०, ३१९, पृ० ५३१

पर्यायका विचार करते समय एकगुणकालक, दशगुणकालक इत्यादिका जो निर्देश किया है, वह 'भगवतीसूत्र'गत पाठ है।[1] और भी ऐसे आगमावलम्बी निर्देश सन्मतिमे सुलभ है।

जब सन्मतिकी रचना उपलब्ध सर्व श्वेताम्बरसम्मत आगमोंके आधारपर निश्चित रूपसे हुई जान पडती है, तब हमने सिद्धसेनका श्वेताम्बरीय रूपसे जो निर्देश किया है, उसका भाव स्पष्ट हो जाता है। मूलाचार, धवला आदि दिगम्बर ग्रन्थोमे सिद्धसेन और उनकी कृतियोंमेसे उल्लेख आते हैं। उसका कारण यही है कि सन्मतितर्क और बत्तीसी जैसी सिद्धसेनकी कृतियाँ बहुत प्रभावक मानी जाती रही। दोनों परंपराके ग्रन्थोमे प्रभावक आचार्योंका परस्पर निर्देश आदरसह देखा जाता है, जैसे कि समन्तभद्र, अकलंक जैसोका निर्देश श्वेताम्बरीय ग्रन्थोंमे है ही। सिद्धसेन उन आगमोकी व्याख्यामे मतभेद रखते हैं और कभी-कभी आगमिक पाठोमे जो सीधा अर्थ निकलता है, उससे विपरीत मान्यता भी रखते हैं, किन्तु उन पाठोका स्वसम्मत अर्थ करके भी अपने मतके साथ आगमोकी संगति दिखाते हैं, पर आगमके उन पाठोका निराकरण नही करते या उन्हे अमान्य नहीं करते। यह इस बातका प्रमाण है कि सिद्धसेनके लिए वे आगम प्रमाणभूत थे।

निर्युक्तिकार और क्रमवाद

श्रीयुत मुख्तारजीने मुनिश्री पुण्यविजयजीके लेखके आधारपर मान लिया है कि निर्युक्तिकार भद्रबाहु विक्रमकी छठी शताब्दीके हैं, परन्तु मुनिश्री पुण्यविजयजीके उसी लेखके इतर अंशपर उनका ध्यान नही गया। मुनिश्री पुण्यविजयजीने उसी लेखमें स्पष्ट कहा है कि विक्रमीय पाँचवी सदीमे गोविन्द भिक्षु नामक

इस प्रकारके अनेक सूत्र भगवतीसूत्रके १४वें शतकके दसवें उद्देशमें तथा १८वें शतकके आठवें उद्देशमें भी आते हैं।

१ देखो सन्मतितर्कके तीसरे काण्डकी गाथाएँ--

जं च पुण अरिहया तेसु तेसु सुत्तेसु गोयमाईण।
पज्जवसण्णा णियमा वागरिया तेण पज्जाया ॥ ११ ॥
जम्हा अत्थि समये एगगुणो दसगुणो अणंतगुणो।
रूवाई परिणामो भण्णइ तम्हा गुणविसेसो ॥ १३ ॥

एकगुणकालक, दशगुणकालक आदिका सूचक भगवतीसूत्रका पाठ इस प्रकार है--'एगगुणकालए दुगुणकालए' (शत० ५, उ० ७, सु० २१७) इत्यादि।

दूसरे एक निर्युक्तिकार हुए हैं। स्वयं श्रीपुण्यविजयजीने अपने मतका विशेष स्पष्टीकरण करते हुए बृहत्कल्पके छठे भागकी प्रस्तावनामें निर्युक्तियोंकी परम्परा छठी शताब्दी पहलेसे चली आ रही थी, ऐसा स्पष्ट विधान किया है। इसीसे विक्रमकी दूसरी शताब्दीमें होनेवाले अनुयोगद्वारके कर्ता श्री आर्यरक्षितसूरिने सूत्रस्पर्शिक निर्युक्तिका (अनु० सू० १५५) उल्लेख किया है। इतना ही नहीं, उन्होंने अपने अनुयोगद्वारमें कुछ गाथाएँ (अनु० सू० १५६) भी उद्धृत की हैं, जो आगे जाकर छठी शताब्दीवाले भद्रबाहुकी निर्युक्तियोंमें शामिल हुई हैं। इसके सिवा अभी जो अगस्त्यसिंहरचित दशवैकालिकचूर्णि प्राप्त हुई है, उसमें व्याख्यात अनेक निर्युक्तिगाथाएँ पाँचवीं सदीके आसपासकी हैं, क्योंकि अगस्त्यसिंह द्वारा स्वीकृत दशवैकालिकसूत्रकी वाचना उपलब्ध सर्वविदित दशवैकालिकसूत्रकी वाचनासे भिन्न है। वस्तुतः जैसे चूर्णि नामक व्याख्यास्वरूप मात्र जिनदासगणीसे ही शुरू नहीं हुआ है, उनके पहले ही से चूर्णिव्याख्याकी परम्परा प्रचलित रही, इसी तरह निर्युक्ति नामक व्याख्यास्वरूप भी बहुत पुराना है, जो सम्भवतः चतुर्दशपूर्वधर भद्रबाहुतक जाता है। इसीसे आर्यरक्षितसूरिके अनुयोगद्वारमें 'सुत्तफासियनिज्जुत्ति' जैसे पद आते हैं। इसीसे गोविन्दभिक्षुकी निर्युक्तिका सम्भव हुआ है। छठी शताब्दीवाले भद्रबाहु अन्तिम निर्युक्तिकार हैं। उन्होंने पूर्वकालीन परम्पराप्राप्त निर्युक्ति गाथाओंको अपनी नयी रचनामें सम्मिलित कर लिया है—इतना ही छठी शताब्दीकी निर्युक्ति रचनाका अर्थ समझना चाहिए।

अगर हम दुर्जनतुष्टि-न्यायसे सब निर्युक्तियोंको पूर्णरूपेण छठी शताब्दीकी रचना मानें, तो अनुयोगद्वारगत 'निज्जुत्ति' पदका तथा अनुयोगद्वारमें आयी हुई निर्युक्तिगत गाथाओंका एवं गोविन्दभिक्षुकृत निर्युक्तिके प्राचीनतर विश्वस्त उल्लेखका खुलासा किसी तरह हो ही नहीं सकता। दूसरी बात यह भी सोचनेकी है कि कुन्दकुन्दके ग्रन्थोंमें प्राप्य निर्युक्तिगत गाथाएँ, शिवार्यकृत भगवती-आराधनामें प्राप्य बीसियों निर्युक्तिगत गाथाएँ एवं वट्टकेरके मूलाचारमें प्राप्य शताधिक निर्युक्तिगत गाथाएँ आयी कहाँसे ? क्योंकि कुन्दकुन्द आदि आचार्योंको निर्युक्तिकार भद्रबाहुसे पहले माना जाता है। सच बात इतनी ही है कि निर्युक्तिकी रचना बहुत पुरानी है। उस रचना पद्धतिका सिलसिला अन्तिम भद्रबाहुके पहलेहीसे चला आ रहा था। जब एक परम्पराने माथुरी-वाचनाके समयसे उपलब्ध आगमोंको बिलकुल मानना छोड दिया, तब भी पूर्व परम्परासे प्राप्त निर्युक्तिके अमुक भागको समान विरासतके रूपसे जरूरतके अनुसार उसने सँभाल रखा और उसका उपयोग कुन्दकुन्द आदि आचार्योंने अपने ग्रन्थोंमें किया।

जब निर्युक्ति केवल छठी शताब्दीके भद्रबाहुकी पूर्ण रचना नहीं है, तब निर्युक्तिके समयको लेकर उपयोगके क्रमवादको छठी शताब्दीके साथ जोडना एकांगिता है।

अगर हम भगवती, पन्नवणा आदि मूल आगमोंको देखे, तो स्पष्ट जान पडेगा कि उक्त आगमोंमें ही उपयोगके क्रमवादका स्पष्ट शाब्दिक वर्णन है। आचार्य कुन्दकुन्दके ग्रन्थोंमें निस्सन्देह युगपद् उपयोगद्वयका स्पष्ट वर्णन है; परन्तु यह विचार कितना ही पुराना क्यों न माना जाय, फिर भी यह आगमगत क्रमिक उपयोगद्वयके विचारके बाद कभी जैन परम्परामें अस्तित्वमें आया है। सिद्धसेन दिवाकरने सन्मतिमें उपयोगाभेदवादका जो सबल स्थापन किया है और जो आगमिक क्रमवादी सूत्रोंको अपने पक्षमें घटाया है, वह सूचित करता है कि सिद्धसेन उपलब्ध आगमोंको प्रमाणरूपसे मानते रहे। इसीसे उन्होंने तर्कबलसे सूत्रोंका अर्थान्तर सूचित किया, न कि सूत्रोंका अस्वीकार या अप्रामाण्य।

सिद्धसेन और उनकी परिस्थिति

अनेकान्तदृष्टिमूलक सत्यके चाहक एवं शास्त्रोंके सतत व्यासंगी श्रीयुत मुख्तारजीके द्वारा बत्तीसियोंके कुछ पद्योंका अर्थ करनेमें जाने-अनजाने जो विपर्यास हुआ है, उसे भी यहाँ संक्षेपमें दरसा देना क्रम एवं न्यायप्राप्त है।

पंचम द्वात्रिंशिकाके छठे पद्यमें स्तुतिकारने भगवान् महावीरको 'यशोदाप्रिय' विशेषणसे सम्बोधित किया है। इसपर श्री मुख्तारजी कहते हैं कि श्वेताम्बरी परम्परामें भी महावीरका विवाह मान्य नहीं है, फिर स्तुतिकार सिद्धसेन श्वेताम्बर परम्पराके अनुसार महावीरको 'यशोदाप्रिय' कैसे कह सकते हैं। अच्छा, तो फिर इस स्तुतिकारने 'यशोदाप्रिय' कैसे कहा, क्योंकि आपके मतसे दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परामें महावीर कुमार अर्थात् अविवाहित ही हैं। क्या आप यह कहना चाहते हैं कि स्तुतिकार महावीरको खामख्वाह झूठे ही 'यशोदाप्रिय' विशेषणसे सम्बोधित करते हैं? अगर मुख्तारजी श्वेताम्बर परम्परामें प्रचलित महावीरके विवाहकी मान्यतावाले उल्लेखोंपर भी ध्यान देते, जो ऐतिहासिक विद्वान् पं० कल्याणविजयजीकी 'श्रमण भगवान् महावीर' नामक पुस्तक (पृ० १२) में तथा पं० श्री दलसुख मालवणियाद्वारा सम्पादित स्थानांग-समवायांगके टिप्पणों (पृ० ३२९-३० और ७३५-८) में निर्दिष्ट है, तो उस पद्यके अर्थमें उन्हें कोई विरोध नहीं दिखाई देता।

दूसरी द्वात्रिंशिकाके तीसरे पद्यके अर्थमें विरोध बतलानेके लिए उन्होंने

आगमिक परम्पराको शायद जान-बूझकर ही टाल दिया है। भगवतीसूत्रमें चमरेन्द्रके द्वारा भगवान् महावीरकी शरण लिये जानेका वर्णन है। उसे परवक्तव्य कहना परम्परागत अर्थका विपर्यास नही तो क्या है? कवि जब स्तुति करता है, तब वह स्तुत्य व्यक्तिका उत्कर्ष बतलानेके लिए परम्परागत चमत्कारो और मान्यताओको भी कवित्वमय शैलीसे प्रतिपादित करता है।

दूसरी द्वात्रिंशिकाके ५२वे पद्यका जो अर्थविपर्यास किया है, उसे पढ़ करके तो शायद ही कोई विचारक मुख्तारसाहबके विचारको मान ले। वे कहते है कि 'स्त्रीचेतस' अर्थात् स्त्री-जैसा चित्त रखनेवाले पुरुष भी महावीरके मार्गको पाकर मोहको जीत सकते है। यहाँ कोई भी प्रश्न कर सकता है कि जब स्त्री-जैसे चित्त-वाले पुरुष भी महावीरके मार्गपर चलकर मोक्ष पा सकते हैं, तो फिर पुरुष-जैसा पराक्रमी चित्त रखनेवाली स्त्रियाँ मोक्ष क्यो नही पा सकती? दरअसलमे मुख्तारजीके मतमे दिगम्बरीय परम्परानुसारी स्त्रीजातिका मोक्षविरोधी मन्तव्य दृढमूल है। इसीके वशीभूत होकर उन्होने 'स्त्रीचेतस' पदका असम्बद्ध एव दुराकृष्ट अर्थ किया है और कहा है कि स्तुतिकारका यह पद्य दिगम्बरीय पराम्पराके अनुकूल है। कोई भी व्यग्यविशारद काव्यज्ञ उस काल्पनिक अर्थको एक क्षणभरके लिए भी मान नही सकता। उसका सीधा, तात्त्विक एव सर्व-स्वीकार्य अर्थ तो इतना ही है कि—हे भगवन्! तुम्हारे मार्गपर स्थिर पुरुष स्त्री-परिवारमे रत अर्थात् कामुक हो, तब भी शीघ्र मोहविजयी होते है। स्तुति-कारका तात्पर्य पुरुषकी तरह स्त्रीके लिए भी मोहजय सूचित करनेमे है। जैसे स्त्री-आसक्त पुरुष, वैसे पुरुष-आसक्त स्त्री भी वीतरागमार्गके आलम्बनसे मोहजित हो सकती है।

प्रथम द्वात्रिंशिकाके ३२वे पद्यमे, द्वितीयके ३०वे पद्यमे और पचमके २१-२२वे पद्यमे 'युगपत्' पद आता है। इसे देखकर मुख्तारजी यहाँतक कल्पना करते है कि 'युगपत्' पद एक समयमें उपयोगद्वयके अर्थका सूचक है। श्रीमान् मुख्तारजीको ध्यानमे रखना चाहिए था कि उक्त तीनो स्थलोमे 'युगपत्' पद केवल एक समयमे त्रैकालिक अनन्त नाना भावोका प्रकाशन सूचित करनेके लिए प्रयुक्त हुआ है। उन स्थलोमे न तो उपयोगक्रमकी बात है, न उपयोगद्वययौगपद्यकी बात है और न उपयोगाभेदका कोई सकेत है। सर्वज्ञत्व माननेवाले स्तुतिकारको जुदे-जुदे शब्दोमे जुदी-जुदी भगीसे कवित्वमय शैलीमे इतना ही कहना है कि सारा सूक्ष्म-स्थूल त्रैकालिक जगत् एक ही समयमे सर्वज्ञको अवगत हो जाता है।

उन्नीसवी द्वात्रिंशिकाके प्रथम पद्यमे दर्शन, ज्ञान और चारित्र तीन उपाय

मोक्षके हेतुरूपसे निर्दिष्ट हैं[1]। इस कथनमे विरोध बतलानेके लिए श्री मुख्तारजीने जो युक्ति लडायी है, वह अनोखी है। वे कहते हैं कि तीन उपायोको उमास्वातिके तत्त्वार्थगत मोक्षमार्गसूत्रकी तरह एकवचनसे निर्दिष्ट क्यो नही किया ? तीन उपायोको 'शिवहेतव' ऐसे बहुवचनसे निर्दिष्ट करना शास्त्रविरुद्ध है, क्योकि तत्त्वार्थमे 'मोक्षमार्ग' इस एकवचनसे निर्दिष्ट है एव अन्य द्वात्रिंशिकाओमे क्रिया और ज्ञान दोनोको मोक्षका हेतु कहा है, तब इस जगह एक ही स्तुतिकार तीन उपायोका कथन क्यो करे ? यह नही कि श्री मुख्तारजी उक्त बहुवचनान्त प्रयोगका एव क्रिया-ज्ञान-युग्मके स्थानमे दर्शन-ज्ञान-चारित्र त्रिकके प्रयोगका मर्म समझ न सके हों, पर उन्हे येन केन प्रकारेण विरोध दिखलाना है। इसीसे वे वैयाकरणीय नियम तथा अपेक्षाभेदकी ओर बिना ध्यान दिये लिख गये, ऐसा लगता है। वैयाकरणोकी परिपाटी है कि वे एक वस्तुमे कभी बहुवचन और कभी बहु वस्तुओमे एकवचन तथा बहुवचनके प्रयोगको भिन्न-भिन्न तात्पर्यसे अविरुद्ध मानते आये हैं। जैन परम्परामे जिसे अपेक्षाविशेष कहते हैं उसी आशयको आलकारिक, दार्शनिक आदि सभी ग्रन्थकार अपने-अपने ग्रन्थोमे समर्थित करते रहे हैं। सामग्रीपर्याप्तिफलोपधायककारणता विवक्षित हो तब एकवचनका प्रयोग सम्मत है और सामग्री घटक प्रत्येक कारणकी स्वरूपयोग्यकारणता विवक्षित हो तब अनेकवचन विवक्षित है।

इसी पद्यके उत्तरार्धमे 'अन्योन्यप्रतिपक्षत्वात्' पाठ छपा है। छपे पाठका सीधा अर्थ करके मुख्तारजीने विरोध दरसाया है, पर वे यदि सोचते कि दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनोको मोक्षका कारण कहनेवाले स्तुतिकार तीनोको परस्पर प्रतिपक्षी कैसे कह सकते हैं ? क्या स्तुतिकारको इतना भी भान न रहा कि दर्शन-ज्ञान-चारित्र ये तीन उपाय परस्पर प्रतिपक्षी होकर भी एक ही मोक्षके साधक कैसे हो सकते हैं, तो उन्हे शुद्ध पाठ अवश्य सूझ जाता। वस्तुत यहाँ 'अन्योन्याऽप्रतिपक्षत्वात्' ऐसा पाठ चाहिए।

१९वी द्वात्रिंशिकामे 'सर्वोपयोगद्वैविध्यमनेनोक्तमनक्षरम्' ऐसा नवम पद्यका उत्तरार्ध है। यद्यपि उस द्वात्रिंशिकाके सब पद्योका ग्रन्थकार-विवक्षित अर्थ पूरी तरहसे अद्यापि स्पष्ट नही होता, उक्त नवम पद्यकी भी करीब यही स्थिति है, तथापि इसे कहनेमे कोई सकोच नही होता कि मुख्तारजीने जो अर्थ निकाला है

---

१. ज्ञानदर्शनचारित्राण्युपायाः शिवहेतवः ।
अन्योन्यप्र(न्याऽप्र)तिपक्षत्वाच्छुद्धावगमशक्तयः ॥ १९.१ ॥

वह नितान्त मिथ्या है। उस स्थानमें सब उपयोगोंके द्वैविध्यको अनक्षर अर्थात् अस्थिर या अशब्दत (शब्दके बिना सूचित) यही हो सकता है, न कि जैसा मुख्तारजीने अनक्षरका अर्थ अविनश्वर अर्थात् नित्य किया है, वह। शायद उस पद्यमें ग्रन्थकारने प्रतिभानके अर्थावग्रह एव व्यजनावग्रह जैसे उपयोग द्वैविधको अस्थिर बतलाया है।[1] जो कुछ हो, पर 'अनक्षर' पदका अविनश्वर अर्थ करना यह तो निरी भ्रान्ति है। श्री मुख्तारजीने मति-श्रुत तथा अवधि-मन पर्याय ज्ञानकी अभिन्नताका विरोध सन्मति और न्यायावतारके भेद-वर्णनके साथ बतलाया है, परन्तु यह समझना चाहिए कि गम्भीर चिन्तक तार्किक शास्त्रकार जुदे-जदे ग्रन्थोमें भिन्न-भिन्न दृष्टिसे एक ही वस्तुका विविध रूपसे प्रतिपादन करता है।

समन्तभद्र

तपागच्छकी पट्टावली पंन्यास श्री कल्याणविजयजीकी सम्पादित है, जिसमें 'समन्तभद्र' का उल्लेख है और जिसका समय विक्रमीय दूसरी शताब्दी उसमे आया है। पट्टावलीके इस निर्देशको देखकर मुख्तारजीने लिख दिया है कि इतिहासके विद्वान् पन्यास कल्याणविजयजी भी समन्तभद्रको दूसरी सदीका बतलाते हैं। परन्तु मुख्तारजीको उस पट्टावलीके सम्पादक कौन हैं, वे इतिहासज्ञ हैं, या मात्र परम्पराप्राप्त ग्रन्थके सम्पादक हैं, इसमे भ्रान्ति हुई है। असलमे उक्त तपागच्छपट्टावलीके अनुवादक-सम्पादक पन्यास कल्याणविजयजी हैं, पर वे इतिहासकोविद पन्यास कल्याणविजयजीसे भिन्न हैं। श्रीमान् मुख्तारजीको इतिहासकोविद पन्यास कल्याणविजयजीका कथन शिरोधार्य है, ऐसा तो उनके नामके आधारसे अपने मन्तव्यका समर्थन करनेसे सूचित होता है। अगर ऐसी दृष्टि हो, तब तो मुख्तारजीको इतिहासज्ञ पन्यास कल्याणविजयजीका 'श्रमण भगवान् महावीर' गत 'जिनकल्प-स्थविरकल्प'[2] नामक परिशिष्ट आदरके साथ पढना चाहिए, जिसमे उन्होंने स्वामी समन्तभद्रको सातवी सदीका मानकर आचार्योंकी ऐतिहासिक शृंखला बतलायी है।

---

१. समग्र पद्य इस प्रकार है—

अर्थव्यंजनयोरेवमर्थस्तु स्मृतिचक्षुषोः।
सर्वोपयोगद्वैविध्यमनेनोक्तमनक्षरम् ॥ १९.९ ॥

२. देखो—'श्रमण भगवान् महावीर' में 'जिनकल्प और स्थविरकल्प' लेख, पृ० ३३१ से।

मैं तो अनेक वर्षोंसे निश्चिततया मानता तथा कहता आया हूँ कि स्वामी समन्तभद्र धर्मकीर्ति और अकलकके बीच कभी भी हुए हैं। शायद वह समय ईसवी ७वींका उत्तरार्ध और ८वीं का प्रारम्भतक हो सकता है। मेरे इस मन्तव्यके अनेक अकाट्य प्रमाण और भी उपलब्ध हुए हैं। जैसे-जैसे बौद्ध-दर्शनके नये-नये ग्रन्थ प्रकट होने लगे हैं और जैन ग्रन्थोंके साथ उनकी तुलना की जाती है, वैसे-वैसे सिद्धसेन और समन्तभद्रके समयका प्रश्न अधिकाधिक सुलझता जाता है। परन्तु यहाँ इसका विस्तार अनावश्यक है।

स्वामी समन्तभद्र पहली शताब्दीके हों या सातवी शताब्दीके, इससे उनकी असाधारण योग्यतामे कोई अन्तर नही पडता। इसी तरह सिद्धसेन दिवाकर विक्रमीय पचम शताब्दीके हो या उत्तरवर्ती, तो भी उनकी योग्यता घटने-बढने-वाली नही। हम तो समयका विचार केवल ऐतिहासिक शृखलाको ठीकसे समझनेके लिए करते हैं, न कि योग्यता एव महत्ताकी कसौटीके तौरपर। बुद्ध और महावीरके समयमे भी उनके अनेक शिष्य सामान्य कोटिके और कभी-कभी अयोग्य भी हुए ऐसा हम जानते हैं, और १९वी-२०वी सदीके कई स्त्री-पुरुष असाधारण बौद्धिक एव चारित्रीय योग्यतावाले हुए या हो सकते हैं, यह भी हम जानते हैं। फिर समयके पौर्वापर्यके साथ महत्ता एव साम्प्रदायिक श्रेष्ठताका आभिमानिक सम्बन्ध जोडकर हम जान-बूझकर सत्यकी उपेक्षा क्यो करे ? आज जो मैं मान रहा हूँ, उसे भी बलवत्तर प्रमाणसामग्री मिलनेपर छोड देनेमे मुझे सकोचके बजाय और भी प्रसन्नता होगी।

सरित्कुंज, अहमदाबाद ९
१५-१२-'६१

सुखलाल

सन्मति-प्रकरण

प्रथम काण्ड

असाधारण गुणोके कथन द्वारा शासनका स्तुतिमगल—

सिद्धं सिद्धत्थाणं ठाणमणोवमसुहं उवगयाणं ।
कुसमयविसासणं सासणं जिणाणं भवजिणाणं ॥ १ ॥

अर्थ—भवको अर्थात् राग-द्वेषको जीतनेवाले जिनोका—अरिहन्तोका शासन यानी द्वादशाग शास्त्रसिद्ध अर्थात् अपने गुणसे ही प्रतिष्ठित है, क्योकि वह अबाधित अर्थोंका स्थान अर्थात् प्रतिपादक है, पासमे आनेवालोके लिए अर्थात् शरणार्थियोके लिए वह सर्वोत्तम सुखकारक है और एकान्तवादरूप मिथ्या मतोका निराकरण करनेवाला है।

विवेचन—यहा शासनके चार असाधारण गुणोका निर्देश किया गया है १ गणसिद्धता, २ यथार्थवस्तु-प्रतिपादकता, ३ शरणार्थीको सुखप्रदान और ४ मिथ्या मतोकी निवारकता।

उद्देश्य बतानेके साथ-साथ प्रकरण रचनेकी प्रतिज्ञा—

समयपरमत्थवित्थरविहाडजणपज्जुवासणसयण्णो ।
आगममलारहियओ जह होइ तमत्थमुण्णेसुं ॥ २ ॥

अर्थ—आगमको समझनेमे गलिये बैलकी भाँति सुस्त मनवाला भी जिस अर्थका प्रतिपादन करनेसे शास्त्रके वास्तविक पदार्थोंको विस्तारसे प्रकाशित करनेवाले शास्त्रज्ञ लोगोकी उपासना करनेके लिए तत्पर हो, उस अर्थका मै प्रतिपादन करूँगा।

विवेचन—ग्रन्थकार अपनी रचनाका उद्देश्य सूचित करते हुए कहते है कि कई लोगोको आगमोका अभ्यास करनेमे रस नही आता और इसीलिए वे उस ओर आकर्षित नही होते। ऐसे लोग भी शास्त्रीय रहस्यको प्रकाशित करनेवाले श्रुतधरोकी उपासना करने और वैसा करके उनके वक्तव्योको समझनेके लिए लालायित हो, इस दृष्टिसे प्रस्तुत प्रकरणकी रचना की जाती है।

प्रकरणके प्रतिपाद्य मुख्य विषयका निर्देश—

तित्थयरवयणसगह-विसेसपत्थारमूलवागरणी ।

दव्वट्ठिओ य पज्जवणओ य सेसा वियप्पा सिं ॥ ३ ॥

अर्थ—तीर्थकरोके वचनोकी सामान्य एव विशेषरूप राशियोंके मूल प्रतिपादक द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय है। बाकीके सब इन दोनोके ही भेद है।

विवेचन—यहाँ तीन बाते कही गयी है १ ग्रन्थका मुख्य विषय, २ अन्य नयोका मुख्य नयोमे समावेश, और ३ मुख्यनयो का स्वरूप।

समग्र ग्रन्थमे भिन्न-भिन्न अनेक विषयोकी चर्चा आती है, परतु वह तो प्रसग-शात्। मुख्य प्रतिपादन तो अनेकान्तदृष्टिका ही है।

अनेकान्तका स्पष्टीकरण नयोके निरूपणसे ही हो सकता है। नय अनेक है, परन्तु उन सबका समावेश सक्षेपमे दो नयोमे हो जाता है। वे मुख्य दो नय है १ द्रव्यास्तिक, और २ पर्यायास्तिक।

द्रव्यार्थिक नय यानी अभेदगामी दृष्टि और पर्यायास्तिक नय यानी भेदगामी दृष्टि। मनुष्य जब कुछ भी सोचता या कहता है, तब या तो अभेदकी ओर झुककर या फिर भेदकी आर झुककर। अभेदकी ओर झुककर किये गये विचार और उसके द्वारा प्रतिपादित वस्तुको 'सग्रह' या 'सामान्य' कहते है। भेदकी ओर झुककर किये गये विचार और उसके द्वारा प्रतिपादित वस्तुको 'विशेष' कहते है। अवान्तर दृष्टिसे सामान्य और विशेषके चढते-उतरते क्रमसे चाहे जितने भेद किये जायँ, पर वे सभी भेद सक्षेपमे दो राशियोमे समाविष्ट होते है। वे ही दो राशियाँ अनुक्रमसे सग्रहप्रस्तार और विशेषप्रस्तार है। शास्त्रके वचन मुख्य रूपसे इन दो ही राशियोमे आ जाते है, क्योकि उनमेसे कुछ सामान्यबोधक होते है, तो कुछ विशेषबोधक। इन दो राशियोमे समाविष्ट होनेवाले सभी शास्त्रीय वचनोकी प्रेरक दृष्टि भी मुख्य रूपसे दो है १ सामान्य वचनराशिकी प्रेरक अभेदगामी दृष्टि द्रव्यास्तिक नय है, और २ विशेष वचनराशिकी प्रेरक भेदगामी दृष्टि पर्यायास्तिक नय है। ये दोनो नय ही समग्र विचार अथवा विचारजनित समग्र शास्त्र-वाक्यके आधारभूत होनेसे इन्हे शास्त्रके मूल वक्ता कहा गया है। इन दो नयोके निरूपण और इनके समन्वय मे ही अनेकान्तवादका पर्यवसान होता है, अत अनेकान्तवादके निरूपणके आधाररूप इन दो नयोकी ही चर्चा सर्वप्रथम यहाँ उठायी गयी है।

द्रव्यार्थिक नयके भेद—

दव्वट्ठियनयपयडी सुद्धा संगहपरूवणाविसओ ।
पडिरूवे पुण वयणत्थनिच्छओ तस्स ववहारो ॥ ४ ॥

अर्थ—[1]द्रव्यास्तिक नयकी शुद्ध प्रकृति संग्रहकी प्ररूपणाका विषय है और प्रत्येक वस्तुके बारेमे होनेवाला शब्दार्थ-निश्चय तो सग्रहका व्यवहार है ।

विवेचन—यहाँ दो बाते कही गयी है · १ द्रव्यास्तिकके भेद, और २. उनका परस्पर सम्बन्ध । नैगमके अतिरिक्त बाकीके छ मेसे सग्रह और व्यवहार ये प्रथम दो नय द्रव्यास्तिक नयके भेद है ।

जगत् किसी भी प्रकारके ऐक्यसे रहित केवल, अलग-अलग कडियोकी भाँति, भेदरूप भी नही है और तनिक भी भेदके स्पर्शसे रहित अखण्ड अभेदरूप भी नही है, परन्तु उसमे भेद और अभेद दोनोका अनुभव होता है । जब दृष्टि वस्तुओके पारस्परिक भेदका परित्याग कर केवल उनके अभेदका अवलम्बन लेकर प्रवृत्त होती है, तब उसे सब कुछ सिर्फ सत्रूप भासित होता है । सत्-ग्राहक दृष्टि चाहे जितनी विशाल हो, परन्तु लेना-देना आदि लोक-व्यवहार तो भेदके कारण ही होता है । इससे जब कोई भी व्यवहार करना होता है, तब दृष्टि कुछ भेदकी तरफ झुकती है, और पहले ग्रहण किये हुए सत्रूप अखण्ड तत्त्वके, प्रयोजनके अनुसार, जीव, अजीव आदि भेदोका अवलम्बन लेती है । यहाँ सत्तारूप तत्त्वको अखण्ड-रूपसे ग्रहण करनेवाली प्रथम दृष्टि सग्रह नय है । यही शुद्ध द्रव्यास्तिक नय है । और सत्ताको जीव, अजीव आदि रूपसे खण्डित करके उसके द्वारा व्यवहार चलानेका प्रयत्न करनेवाली परिमित अभेदस्पर्शी दूसरी दृष्टि व्यवहार नय है । व्यवहार परिमित होनेसे अपरिमित सग्रहका ही अश है । इसलिए यद्यपि वह शुद्ध द्रव्यास्तिकका एक परिमित खण्ड है, फिर भी सग्रह और व्यवहार इन दोनोको द्रव्यास्तिक नयके अनुक्रमसे शुद्ध-अपरिमित और अशुद्ध-परिमित अश कह सकते है ।

ऋजुसत्रके भेद—

मूलणिमेणं पज्जवणयस्स उज्जुसुयवयणविच्छेदो ।
तस्स उ सद्दाईआ साहपसाहा सुहुमभेया ॥ ५ ॥

---

१. प्रस्तुत ४,५ और ६ गाथाके साथ विशेषावश्यकभाष्यकी ७५वीं गाथाकी तुलना करो ।

अर्थ––ऋजुसूत्र नयका अर्थात् तदनुसारी जो वचन-विभाग वह पर्यायनयका मूल आधार है, और शब्द आदि नय तो उस ऋजुसूत्रकी ही उत्तरोत्तर सूक्ष्म भेदवाली शाखा–प्रशाखाएँ हैं।

विवेचन––यहाँ दो बाते कही गयी है १ पर्यायास्तिकके भेद और २. उनका परस्पर सम्बन्ध। सग्रह और व्यवहारके बादके ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ तथा एवम्भूत इन चार नयोको पर्यायास्तिकके भेद कहा है।

किसी भी सामान्य तत्त्वका अवान्तर जाति या गुण आदिकी विशेषताओको लेकर विभाग किया जा सकता है, परतु जबतक उस विभागमे कालकृत भेदका तत्त्व नही आता तबतक वे सब विभाग व्यवहार नयकी कोटिमे रखे जाते है। कालकृत भेदका अवलम्बन लेकर वस्तुविभागका आरम्भ होते ही ऋजुसूत्र नय माना जाता है और वहीसे पर्यायास्तिकका प्रारम्भ समझा जाता है। इसीसे यहाँ पर ऋजुसूत्र नयको पर्यायास्तिक नयका मूल आधार कहा है। बादके शब्द आदि जो तीन नय है वे यद्यपि ऋजुसूत्र नयका अवलम्बन लेकर प्रवृत्त होनेसे उसीके भेद है, तथापि ऋजुसूत्र आदि चारो नय पर्यायास्तिकके प्रकार माने जा सकते है।

जो दृष्टि तत्त्वको केवल वर्तमान काल तक ही मर्यादित मानती है और भूत एव भविष्यकालको कार्यके असाधक मानकर उनका स्वीकार नही करती––ऐसी क्षणिक दृष्टि ऋजुसूत्र नय कहलाती है। इस दृष्टि द्वारा मान्य वर्तमानकालीन तत्त्वमे भी जो दृष्टि लिग और पुरुष आदिके भेदसे भेदकी कल्पना करती है वह शब्द नय है। शब्द नय द्वारा मान्य समान लिंग, वचन आदिवाले अनेक शब्दोके एक अर्थमे व्युत्पत्तिके भेदसे––पर्यायके भेदसे जो दृष्टि अर्थभेदकी परिकल्पना करती है वह समभिरूढ नय है। समभिरूढ नय द्वारा स्वीकृत एक पर्याय शब्दके एक अर्थमे भी जो दृष्टि क्रियाकाल तक ही अर्थतत्त्व मानती है और क्रियाशून्य कालमे नही, उसे एवम्भूत नय कहते है। इस प्रकारका चारो नयोका स्वरूप है। इससे यह स्पष्ट होता है कि शब्द आदि तीन नय मात्र वर्तमानकालस्पर्शी ऋजुसूत्र नयके आधार पर उत्तरोत्तर सूक्ष्म विशेषताओको लेकर प्रवृत्त होते है, और इसीलिए वे सब उसीके विस्तार है। ऋजुसूत्र नय एक वृक्ष जैसा है, तो शब्द नय उसकी शाखा––डाल है, समभिरूढ उसकी प्रशाखा––टहनी है और एवभूत उस टहनीकी भी प्रतिशाखा––सबसे छोटी और पतली शाखा है।

निक्षपोमे नययोजना––

नामं ठवणा दविए त्ति एस दव्वट्ठियस्स निक्खेवो।
भावो उ पज्जवट्ठिअस्स परूवणा एस परमत्थो॥ ६॥

अर्थ—नाम, स्थापना और द्रव्य—ये द्रव्यास्तिकके निक्षेप है और भाव तो पर्यायास्तिक नयकी प्ररूपणा है। यही परमार्थ है।

विवेचन—यहाँ निक्षेपके अवश्य होनेवाले प्रकार और उनमे नयका विभाग ये दो बाते कही गयी है। निक्षेपके जो कमसे कम चार प्रकार सर्वत्र सम्भवित है और किये जाते है वे ही यहाँ गिनाये गये है। किसी भी सार्थक शब्दका अर्थ विचारना हो तब वह कमसे कम चार प्रकारका ही हो सकता है। वे प्रकार शब्द-वाच्य अर्थसामान्यके निक्षेप[1]—विभाग कहलाते है। जो नाममात्रसे राजा हो वह नाम-राजा, राजाका जो चित्र या दूसरी कोई प्रतिकृति हो वह स्थापना-राजा, जो आगे जाकर राजा होनेवाला हो अथवा जो इस समय राजा न हो, किन्तु पहले कभी राजा रहा हो वह द्रव्य-राजा, और जो इस समय राजपदका अनुभव करता हो वह भाव-राजा। राजा शब्दके ये चार निक्षेप हुए।

इनमेसे प्रथमके तीन निक्षेपोमे किसी-न-किसी प्रकारका अभेद अर्थात् द्रव्य होनेसे वे तीनो द्रव्यास्तिक नयके विषय माने गये है, और भावनिक्षेपमे भेद अर्थात् पर्याय होनेसे वह पर्यायास्तिक नयका विषय माना गया है। जिस व्यक्तिका नाम राजा हो उस व्यक्तिको देखकर और उसके नामके साथ उसका अभेद करके लोग कहते है कि 'यह राजा है।' इसी प्रकार चित्रको देखकर और उसके साथ असली राजाका अभेद करके लोग चित्रको उद्दिष्ट करके कहते है कि 'यह राजा

---

१ शब्दका अर्थ करनेमें गालमाल न हो और वक्ताका अभिप्राय ठीक-ठीक समझमें आ जाय, इस भावनासे निर्युक्तिकारोके समयमें निक्षेपका विचार स्पष्टरूपसे शास्त्रमें गूँथ लिया गया है। किसी भी शब्द या वाक्यका अर्थ करते समय उस शब्दके जितने अर्थविभाग शक्य हों, उन्हे सूचित करके उनमेंसे प्रस्तुतमें वक्ताको कौन-सा अर्थ विवक्षित है और कौनसा अर्थ सगत है, यह निश्चित करनेमें ही निक्षेपविषयक विचारसरणीकी उपयोगिता है। उदाहरणार्थ 'जीवके गुण ज्ञान आदि हैं' ऐसा एक वाक्य है। इसमें सन्देह हो सकता है कि 'जीव' शब्दसे यहाँ क्या विवक्षित है? उस समय विचारक हमें यह बतलाता है कि यहाँ जीव नामका कोई व्यक्ति, जीवकी स्थापना या द्रव्यजीव विवक्षित नही है, परन्तु चैतन्य धारण करनेवाला तत्त्व अर्थात् भावजीव ही विवक्षित है और वही प्रस्तुत वाक्यमें सगत है। इस तरह प्रत्येक शब्दके अर्थके बारेमें गडबड उपस्थित होनेपर निक्षेपवादी स्पष्टरूपसे विवक्षित अर्थ सूचित करके अर्थभ्रान्ति दूर कर सकता है, और यही निक्षेपके विचारकी उपयोगिता है। अनेकार्थक शब्द आने पर विवक्षित अर्थका निर्णय करनेके लिए बहुतसे उपाय अलकारशास्त्र में बताये गये हैं, किंतु जैन निर्युक्तिग्रन्थोंके अतिरिक्त किसी भी वैदिक या बौद्ध-ग्रन्थमें निक्षेप जैसी विचारसरणी देखनेमें नहीं आती।

है।' इसी तरह वर्तमान में राजा न होने पर भी भूत और भावीका वर्तमानके साथ अभेद करके और भूत एव भावी राजाको देखकर लोग कहते है कि 'यह राजा है।' इन तीनो स्थानो पर अभेदका विचार प्रधान है, परन्तु भाव-निक्षेपमे ऐसा नही है। उसमे तो वर्तमान में राजपदका अनुभव करनेकी विशेषताके कारण भेद ही मुख्य है। इसीसे चार निक्षेपोमे नयका उपर्युक्त विभाग किया गया है।

दोनों नयोंका विषय एक-दूसरेसे भिन्न नही है ऐसी चर्चाका उपक्रम। वचन-प्रकारोंमें नययोजना—

पज्जवणिस्सामण्णं वयणं दव्वट्ठियस्स 'अत्थि' त्ति ।
अवसेसो वयणविही पज्जवभयणा सपडिवक्खो ॥ ७ ॥

अर्थ—पर्याय अर्थात् विशेषसे सर्वथा मुक्त सामान्यका प्रतिपादक जो अस्ति—'है' ऐसा वचन है वह द्रव्यास्तिक नयका है, अर्थात् उस नय पर वह आश्रित है। बाकी के सब वचन-प्रकार पर्यायका स्पर्श करनेसे प्रतिपक्षसहित अर्थात् द्रव्यास्तिक एव पर्यायास्तिक उभय नय पर आश्रित हैं।

विवेचन—सग्रह एव विशेषरूप दो प्रस्तारोमे विभक्त शास्त्रीय एवं लौकिक वाक्योमे नयकी अवतारणा करके ऐसा बताया गया है कि किस प्रकारका वाक्य किस नयका विषय हो सकता है। जिसमे किसी भी प्रकारका विशेष, परिमितता, खण्ड या विभाग नही है ऐसा सत्तासामान्य ही महासामान्य है। ऐसे सामान्य अथवा उसके विचारके प्रतिपादक जो 'अस्ति' अथवा तत्सदृश 'सत्' इत्यादि वचन है उन सबको द्रव्यास्तिक नयके वचन समझना चाहिए। इनके अलावा जीव, अजीव, मुक्त, ससारी, परमाणु, स्कन्ध, गुण आदि जैसे दूसरे जो वचन है वे सब किसी-न-किसी प्रकारके मर्यादित सामान्यके ही बोधक होनेसे उनके अर्थमे विशेषका, विभागका, खण्डका या भेदका स्पर्श आ ही जाता है। अत वे केवल द्रव्यास्तिक नयावलम्बी नही, बल्कि द्रव्यास्तिक-पर्यायास्तिक उभयनयावलम्बी है, क्योकि उनके प्रतिपाद्य जीवत्व आदि अर्थ अमुक रूपमे सामान्य होने पर भी अपनी अपेक्षा विस्तृत सामान्यके एक विभाग ही है।

यहाँ एक बात ध्यानमे रखनी चाहिए कि 'अस्ति' आदि महाव्यापक सामान्य-वाची वचन मात्र द्रव्यास्तिक नयावलम्बी है, तो किसीका भी सामान्य न बन सके ऐसे अन्तिम अविभाज्य विशेषके वाचक वचन भी मात्र पर्यायास्तिक नयावलम्बी है। बीचके सभी वचन सामान्यरूप विशेषके प्रतिपादक होनेसे उभयनयाश्रित हैं।

एक नयके विषयमें दूसरे नयके प्रवेशका स्वरूप—

पज्जवणयवोक्कंतं वत्थुं दव्वट्ठियस्स वयणिज्जं ।
जाव दविओवओगो अपच्छिमवियप्पनिव्वयणो ।। ८ ।।

अर्थ—जिसके पश्चात् विकल्पज्ञान और वचनव्यवहार नहीं है अर्थात् सबसे अन्तका द्रव्योपयोग—सामान्य बोध जहाँतक प्रवृत्त होता है वहाँतक की वस्तु द्रव्यास्तिक नयकी वाच्य है, और वह पर्यायास्तिक नयके द्वारा आक्रान्त है ।

विवेचन—जिसमें पर्यायास्तिक नयका प्रवेश सम्भव है ऐसी द्रव्यास्तिक नयके विषयकी मर्यादा यहाँ बतलायी है । जहाँ-जहाँ सामान्य बुद्धि होती है, वे सब द्रव्यास्तिकके विषय हैं । उपान्त्य विशेषसे लेकर क्रमश चढते-चढते सर्वव्यापक सत्ता—सामान्य तक सामान्य-उपयोग होता है । अत वह सारा विषय द्रव्यास्तिकका वक्तव्य है और वही सारा विषय पर्यायाक्रान्त होनेसे पर्यायास्तिक नयका भी ग्राह्य बनता है । अर्थात् अन्तिम विशेषके अतिरिक्त सभी वस्तुएँ द्रव्यास्तिकका वक्तव्य हैं, क्योकि उन सबमे सामान्य उपयोगकी प्रवृत्ति होती है ।ऐसाहोने पर भी उन सब वस्तुओके विषयमे पर्यायास्तिक नयकी भी गति है, क्योकि द्रव्यास्तिक नयने जिस-जिस वस्तुको सामान्यरूपसे जाना होता है उसी वस्तुको पर्यायास्तिक नय विशेषरूपसे जानता है, अत द्रव्यास्तिकका सारा विषय पर्यायास्तिकका विषय बनता ही है । परन्तु पर्यायास्तिक नयके बारेमे ऐसा नही है, क्योकि दूसरे सब विषयोमे उभय नयकी प्रवृत्ति होने पर भी एक विषय ऐसा है कि जहाँ केवल पर्याय नयकी ही प्रवृत्ति होती है । वह विषय यानी अतिम विशेष । अन्तिम विशेषमे सामान्य-उपयोग सम्भव नही है, जबकि पर्यायबुद्धि तो होती ही है । इससे निष्कर्ष यही निकलता है कि अन्तिम विशेषके अतिरिक्त सभी विषय उभय-नयसाधारण हैं ।

दोनो नयोंके विषयोंकी मिश्रितताकी चर्चाका उपसहार—

दव्वट्ठिओ त्ति तम्हा नत्थि णओ नियम सुद्धजाईओ ।
ण य पज्जवट्ठिओ णाम कोइ भयणाय उ विसेसो ।। ९ ।।

अर्थ—अतः द्रव्यास्तिक नय नियमतः विशुद्धजातीय अर्थात् विरोधी नयके विषयस्पर्शसे मुक्त नही है । इसी तरह कोई पर्यायास्तिक

नय भी विशुद्ध जातीय नही है। विवक्षाको लेकर ही दोनोका भेद है।

विवेचन—द्रव्यास्तिक एव पर्यायास्तिकके रूपमे नयके दो भेद करनेसे तथा उनका सामान्य एव विशेषके रूपमे विषय-विवेक करनेसे सम्भवत ऐसा प्रतीत हो सकता है कि इन दोनो नयोका तथा इनके विषयोका तनिक भी सम्बन्ध नही है। इस भ्रान्तिको दूर करके वस्तुस्थिति यहाँ स्पष्ट की गयी है। वस्तुत कोई सामान्य विशेषरहित और कोई विशेष सामान्यरहित होना ही नही। एक ही वस्तु अमुक अपेक्षासे सामान्यरूप, तो दूसरी अपेक्षासे विशेषरूप होती है। इसीसे द्रव्यास्तिक नयका विषय पर्यायास्तिक नयके विषयस्पर्शसे और पर्यायास्तिक नयका विषय द्रव्यास्तिक नयके विषयस्पर्शसे मुक्त नही हो सकता। ऐसी वस्तुस्थिति होने पर भी दो नयोका जो भेद किया जाता है उसका तात्पर्य विषयके गौण-प्रधान भावमे ही है। जब विशेष रूपको गौण रखकर और मुख्य रूपसे सामान्य रूपका अवलम्बन लेकर दृष्टि प्रवृत्त होती है तब वह द्रव्यास्तिक है, और जब सामान्य रूपको गौण बनाकर तथा विशेष रूपको प्रधान भावसे ग्रहण कर दृष्टि प्रवृत्त होती है तब वह पर्यायास्तिक है ऐसा समझना चाहिए।

दोनो नय एक-दूसरेके विषयको कैसे देखते है इसका कथन—

दव्वट्ठियवत्तव्वं अवत्थु णियमेण पज्जवणयस्स।
तह पज्जववत्थु अवत्थुमेव दव्वट्ठियनयस्स॥ १०॥

अर्थ—द्रव्यास्तिकका वक्तव्य पर्यायास्तिककी दृष्टिमे नियमसे अवस्तु है। इसी तरह पर्यायास्तिककी वक्तव्य-वस्तु द्रव्यास्तिककी दृष्टिमे अवस्तु ही है।

विवेचन—विवक्षासे दोनो नयोके विषयका जो भेद कहा गया है उसीका स्पष्टीकरण यहाँ किया है। द्रव्यास्तिक नय वस्तुको मात्र सामान्यरूप ही देखता है, जब कि पर्यायास्तिक नय उसी वस्तुको मात्र विशेष रूपसे देखता है। फलत एक नयका वक्तव्य-स्वरूप दूसरे नयकी दृष्टिमे अवस्तु है। यही एक विषयमे प्रवर्तमान दोनो नयोका तथा उनके प्रतिपाद्य अशोका भेद है।

दोनो नय एक ही वस्तुके किन-किन भिन्न रूपोका स्पर्श करते है इसका कथन—

उप (प्प) ज्जंति वियंति य भावा नियमेण पज्जवणयस्स।
दव्वट्ठियस्स सव्वं सया अणुप्पन्नमविणट्ठं ॥ ११ ॥

अर्थ---पर्यायास्तिककी दृष्टिमे सभी पदार्थ नियमसे उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते है। द्रव्यास्तिककी दृष्टिमे सभी वस्तुएँ सर्वदाके लिए उत्पत्ति एव विनाशरहित ही है।

विवेचन---एक नय वस्तुके स्थिर रूपका ग्राहक है, जबकि दूसरा उसके अस्थिर रूपका है।

सत् अर्थात् सम्पूर्ण वस्तुका लक्षण---

दव्वं पज्जवविउयं दव्वविउत्ता य पज्जवा णत्थि ।
उप्पाय-ट्ठिइ-भंगा हंदि दवियलक्खणं एयं ॥ १२ ॥

अर्थ---उत्पाद एव नाशरूप पर्यायोसे रहित द्रव्य नही होता और द्रव्य अर्थात् ध्रुवांशसे रहित पर्याय नही होते, क्योंकि उत्पाद, नाश ए स्थिति ये तीनो द्रव्य---सत्का लक्षण है।[1]

विवेचन---लक्षण द्वारा वस्तुका यथार्थ एव पूर्ण रूप यहाँ बतलाया है। कोई भी वस्तु उत्पाद-विनाशरहित और मात्र स्थिर नही है। इसी तरह कोई भी वस्तु स्थिरतारहित और मात्र उत्पाद-विनाशवाली नही है, क्योंकि वस्तुका स्वभाव ही कुछ ऐसा है कि वह मूल रूपमे स्थिर रहने पर भी निमित्तके अनुसार भिन्न-भिन्न रूपोमे बदलती रहती है। इसीलिए एक ही वस्तुमे स्थिरत्व एव अस्थिरत्व विरुद्ध नही हैं, किन्तु वास्तविक हैं। इन दोनो रूपोके होनेपर ही वस्तु पूर्ण बनती है।

दोनो नय अलग-अलग मिथ्यादृष्टि कैसे बनते हैं इसका स्पष्टीकरण–

एए पुण संगहओ पाडिक्कमलक्खणं दुवेण्हं पि ।
तम्हा मिच्छद्दिट्ठी पत्तेयं दो वि मूलणया ॥ १३ ॥

---

१ तुलना करो पचास्तिकाय १ १२ तथा तत्त्वार्थसूत्र ५.२९।

जैन-ग्रन्थों में उत्पाद-स्थिति-भगका जो समर्थनात्मक विचार देखा जाता है उसके सामने नागार्जुन जैसोंकी विरुद्ध विचार-परम्परा थी। नागार्जुनकी मध्यमककारिकामें 'सस्कृतपरीक्षा' नामका एक प्रकरण (पृ ४५-५७) आता है। उसमें वस्तुके लक्षणके रूपमें माने जानेवाले उत्पाद-स्थिति-भगका निरास किया गया है। ऐसा निरास उसके पीछेके दूसरे बौद्ध-ग्रन्थोंमें भी आता है। ऐसी विरुद्ध परम्पराके सामने अपने पक्षका बचाव करनेके लिए जैनतार्किक विद्वानोंने उत्पादादि त्रिपदी के समर्थनका सर्वत्र प्रयत्न किया है।

अर्थ—ये उत्पाद, व्यय एव स्थिति तीनों एक-दूसरेके साथ मिल करके ही रहते है, अत दोनों नयोका भी अलग-अलग विषय सत्का लक्षण नही होता। इसीलिए ये दोनो मूल नय अलग-अलग मिथ्या-दृष्टि है।

विवेचन—दोनो नय अलग-अलग मिथ्यादृष्टि इसलिए है कि दोनोमेंसे किसी भी एक नयका विषय सत्का लक्षण नही बनता। द्रव्यार्थिकका विषय सामान्य ले या पर्यायार्थिकका विषय विशेष ले, परन्तु इनमेसे एक भी सत्का लक्षण नही है। सत्का लक्षण तो सामान्य एव विशेष दोनो मिलकर ही बनता है। अतएव यदि कोई एक नय अलग होकर वस्तुके सम्पूर्ण स्वरूपके प्रतिपादनका दावा करे तो वह मिथ्यादृष्टि है।

दोनों नयोमे यथार्थता कैसे आती है इसका स्पष्टीकरण—

ण य तइग्रो ग्रत्थि णग्रो ण य सम्मत्तं ण तेसु पडिपुण्ण ।
जेण दुवे एगन्ता विभज्जमाणा ग्रणेगन्तो ॥ १४ ॥

अर्थ—तीसरा नय नही है। उन दो नयोमें यथार्थताका समावेश नही होता ऐसा भी नही है; क्योकि दोनो एकान्त विशेष रूपसे गृहीत होते ही अनेकान्त बनते है।

विवेचन—सत् सामान्य-विशेष उभयात्मक है। इसका ग्राहक यदि कोई नय हो तो सम्पूर्ण वस्तुग्राही होनेसे उसे सम्यग्नय कह सकते है, परन्तु ऐसा नय तो सम्भवित ही नही है, क्योकि सम्पूर्ण सत्को ग्रहण करनेवाला ज्ञान नय नही, किन्तु प्रमाण हो सकता है। इस पर प्रश्न हो सकता है कि यदि तीसरा नय नही है और दोनो नयोको मिथ्यादृष्टि कहते हो, तो क्या नयज्ञान सम्यग्रूप नही हो सकता ? इसका उत्तर यह है कि हो सकता है, परन्तु 'वह किस तरह ?' यही समझना चाहिए। जिन दो नयोको मिथ्यादृष्टि कहा गया है, उन्ही दोनोमे सम्यक्पना भी है ही। मिथ्यापना और सम्यक्पना ये दोनो विरुद्ध धर्म एक आश्रयमे कैसे सम्भव है ? इसका उत्तर यह है कि जब ये दोनो नय एक-दूसरेसे निरपेक्ष होकर केवल स्वविषयको ही सद्-रूपसे समझनेका आग्रह करते है, तब अपने-अपने ग्राह्य एक-एक अशमे सम्पूर्णता मान लेते है और इसीलिए ये मिथ्यारूप है, परन्तु जब ये ही दोनो नय परस्पर सापेक्ष रूपसे प्रवृत्त होते है अर्थात् दूसरे प्रतिपक्षी नयका निरसन किये बिना उसके विषयमे मात्र तटस्थ रहकर जब

नय अपने वक्तव्यका प्रतिपादन करते है, तब दोनोमें सम्यक्पना आता है, क्योंकि ये दोनो नय एक-एक अशग्राही होने पर भी एक-दूसरेकी अवगणना किये बिना अपने-अपने प्रदेशमे प्रवर्तित होनेसे सापेक्ष है और इसीलिए ये दोनो यथार्थ हैं।

मूल नयोंके साथ उत्तर नयोकी समानताका कथन—

जह एए तह अण्णे पत्तेयं दुण्णया णया सव्वे ।
हंदि हु मूलणयाणं पण्णवणे वावडा ते वि ॥ १५ ॥

अर्थ—जिस तरह ये दोनों नय उसी तरह दूसरे सब नय भी अलग-अलग दुर्नय है, क्योकि वे भी मूल नयोके ज्ञेय विषयके प्रतिपादनमें संलग्न हैं।

विवेचन—निरपेक्षभावसे प्रवृत्ति ही नयोके दुर्नयत्वका बीज है। यह बीज यदि उत्तर नयोमे हो तो उन सबको भी दुर्नय अर्थात् मिथ्या समझना चाहिए, क्योकि सग्रह आदि उत्तर नयोकी प्रतिपाद्य वस्तु भिन्न नही होती, वे भी मूल नयोके प्रतिपाद्य विषयकी ही प्ररूपणा करनेमे प्रवृत्त होते है। अतएव यदि वे भी विरोधी नयके विषयकी अवगणना करके अपने विषयमे ही पूर्णता मान ले तो मिथ्यारूप बने, यह स्वाभाविक है।

उत्तर नयोंमे सम्पूर्ण सद्ग्राही कोई एक नय नहीं है ऐसा पुनः कथन—

सव्वणयसमूहम्मि वि णत्थि णओ उभयवायपण्णवओ ।
मूलनयाण उ आणं पत्तेय विसेसियं बिंति ॥ १६ ॥

अर्थ—सब नयोके समूहमे भी उभयवाद—सामान्य-विशेष उभय रूपको जतानेवाला नय नही है, क्योकि वह प्रत्येक नय मूल नयके द्वारा गृहीत विषयको ही विविध रूपसे कहता है।

विवेचन—मूल दो नयोके अलावा तीसरा कोई मूल नय तो उभयग्राही सम्भव ही नही है, किन्तु दो नयोके उत्तर भेदरूप जो सग्रह आदि छः नय है उनमे भी कोई ऐसा नही है जो वस्तुके सामान्य-विशेष उभयात्मक स्वरूपका प्रतिपादन करे। इसका कारण यह है कि प्रत्येक उत्तर नय, स्वय जिस-जिस मूल नयका भेद है उस-उस मूल नयके ग्राह्य विषयका ही भिन्न-भिन्न रूपमें वर्णन करता है। उत्तर नयोका कार्य मूल नयोके प्रदेशसे बाहर नही है। वे तो केवल अपने-अपने मूलनयगृहीत

अंशकी ही कुछ अधिक बारीकीसे चर्चा करते है। अत उनमे उभयवादकी ज्ञापकता हो ही नही सकती।

किसी भी एक नयके पक्षमे ससार, सुख-दु ख सम्बन्ध एव मोक्ष नही घट सकते ऐसा कथन—

ण य दव्वट्ठियपक्खे संसारो णेव पज्जवणयस्स ।
सासयवियत्तिवायी जम्हा उच्छेअवाईआ ॥ १७ ॥
सुख-दुक्खसम्पओगो ण जुज्जए णिच्चवायपक्खम्मि ।
एगंतुच्छेयम्मि य सुह-दुक्खवियप्पणमजुत्तं ॥ १८ ॥
कम्मं जोगनिमित्त बज्झइ बन्ध-ट्ठिई कसायवसा ।
अपरिणउच्छिण्णेसु य बंध-ट्ठिइकारणं णत्थि ॥ १९ ॥
बंधम्मि अपूरन्ते संसारभओघदंसणं मोज्झं ।
बन्धं व विणा मोक्खसुहपत्थणा णत्थि मोक्खो य ॥ २० ॥
तम्हा सव्वे वि णया मिच्छादिट्ठी सपक्खपडिबद्धा ।
अण्णोण्णणिस्सिया उण हवंति सम्मत्तसब्भावा ॥ २१ ॥

अर्थ—द्रव्यास्तिक पक्षमे ससार नही घट सकता और पर्यायास्तिक पक्षमे भी नही घट सकता, क्योकि एक शाश्वत या नित्यव्यक्तिवादी है तो दूसरा उच्छेद या नाशवादी है।

नित्यवाद पक्षमे सुख-दु खका सम्भव नही घटता, एकान्त उच्छेद-वादमे भी सुख-दु खकी विकल्पना नही है।

योग—(मानसिक, वाचिक एव कायिक प्रवृत्ति) के कारण कर्मका बन्ध होता है और कषायके कारण बद्ध कर्म मे स्थिति निर्मित होती है, परन्तु मात्र अपरिणामी और मात्र क्षणनष्टमे बन्ध और स्थितिका कारण नही है।

बन्ध न होता हो तो ससारमे भयप्राचुर्यका दर्शन मूढतामात्र है और बन्धके बिना मोक्षसुखकी अभिलाषा तथा मोक्ष नही है।

अतएव मात्र अपने-अपने पक्षमे सलग्न सभी नय मिथ्यादृष्टि है, परन्तु ये ही नय यदि परस्पर सापेक्ष हों तो सम्यग्रूप बनते है।

विवेचन—निरपेक्ष रहने पर दोनो नयोके पक्षमे अनुभवसिद्ध एव शास्त्रीय प्रवृत्तिमे कैसे बाध आता है, यह यहाँ आत्माको लेकर बताया गया है । यदि केवल द्रव्यास्तिक पक्ष ले, तो उसके मतमे आत्मतत्त्व एकान्त नित्य होनेसे अपरिवर्तनशील है, और यदि केवल पर्यायास्तिक पक्ष ले, तो उसके मतमे वह मात्र क्षणभगुर है । इन दोनो पक्षोमे ससार, सुख-दु खका सम्बन्ध, सुखकी प्राप्ति और दु खके त्यागके लिए प्रयत्न, कर्मका बध, उसकी स्थिति, मोक्षकी इच्छा और मोक्ष—इनमेसे कुछ भी घट नही सकता, क्योकि एकान्तनित्य पक्षमे कूटस्थताके कारण आत्मामे कषायविकार या लेपका सम्भव ही नही है और अनित्यपक्षमे क्षणभगुरताके कारण आत्मा प्रत्येक क्षणमे नष्ट होकर नया-नया पैदा होता रहता है, इसलिए ध्रुवत्वके साथ मेल खाये ऐसे अनुसन्धान, इच्छा, प्रयत्न आदि कोई भाव घट ही नही सकते । इसीलिए यदि ये दोनो नय निरपेक्ष रूपसे अपने-अपने विषयमे प्रवृत्त हो तो वे मिथ्यादृष्टि है और यदि परस्पर सापेक्ष रूपसे प्रवृत्त हो तो सम्यग्दृष्टि है ।

ये ही नय कभी सम्यग्दृष्टि नही होते और कभी होते है, इसके कारणका दृष्टान्तके द्वारा समर्थन—

जहऽणेयलक्खणगुणा वेरुलियाई मणी विसंजुत्ता ।
रयणावलिववएसं न लहंति महग्घमुल्ला वि ॥ २२ ॥

तह णिययवायसुविणिच्छिया वि अण्णोण्णपक्खणिरवेक्खा ।
सम्मद्दंसणसद्दं सव्वे वि णया ण पावेंति ॥ २३ ॥

जह पुण ते चेव मणी जहागुणविसेसभागपडिबद्धा ।
'रयणावलि' त्ति भण्णइ जहंति पाडिक्कसण्णाउ ॥ २४ ॥

तह स वे णयवाया जहाणुरूवविणिउत्तवत्तव्वा ।
सम्मद्दंसणसद्दं लहन्ति ण विसेससण्णाओ ॥ २५ ॥

अर्थ—जिस तरह[1] अनेक लक्षण और गुणवाले वैडूर्य आदि रत्न बहुत मूल्यवान् होने पर भी बिखरे हुए हो तो रत्नावली या हारका नाम नही पाते,

---

१ तुलना करो विशेषावश्यकभाष्य गा २२७१ ।

उसी तरह सभी नय अपने-अपने पक्षमे अधिक निश्चित होनेपर भी आपसमे एक-दूसरेके साथ निरपेक्ष होनेसे 'सम्यग्दर्शन' व्यवहार नहीं पा सकते।

और, जैसे वे ही मणि डोरेमे खास-खास भाग करके उसके अनुसार पिरोये जायँ तो 'रत्नावली' कहलाते हैं और अपना भिन्न-भिन्न नाम छोड देते है,

वैसे ही सभी नयवाद यथोचित रूपसे सुसकलित होकर व्यवस्थित अर्थवाले हो तो 'सम्यग्दर्शन' व्यवहार पाते है, विशेष सज्ञा नही पाते।

विवेचन--रत्न चाहे जितने पानीदार और कीमती हो, पर जबतक अलग-अलग और बिखरे हुए होते है तबतक वे हार नही कहलाते और हारका मूल्य भी नही पा सकते। वे ही रत्न जब योग्य रूपसे पिरोकर सुचारु रूपसे बिठाये जाते है, तब वे अपना खास नाम छोडकर 'हार' नाम धारण करते है और योग्य मूल्य भी पाते है। यही प्रकार नयोका है। प्रत्येक नयवाद अपने-अपने पक्षमे चाहे जितने मजबूत हो, पर जबतक वे दूसरे पक्ष की परवाह नही करते, तबतक परस्पर निरपेक्ष होनेसे वे सब वाद सम्यग्दर्शन नहीं कहलाते, परन्तु जब उन सबका विषय आपसमे एक-दूसरेके साथ योग्य रूपसे सकलित हो जाता है और भिन्न-भिन्न विषयके प्रतिपादक होने पर भी जब वे सब सापेक्ष रूपसे मुख्यतया एक ही वस्तुका प्रतिपादन करनेके लिए प्रवृत्त होते है, तब प्रत्येक नय अपना खास नाम छोडकर 'सम्यग्दर्शन' नाम धारण करता है।

रत्नोका हारपना जैसे सूत्रमे पिरोये जाने पर और विशिष्ट प्रकारकी सयोजना पर अवलम्बित है, वैसे ही नयवादोका सम्यग्दृष्टिपना उनकी परस्पर अपेक्षा पर अवलम्बित है।

दृष्टान्त देनेकी सार्थकता सिद्ध करनेके लिए उसके गुणोका कथन—

लोइयपरिच्छयसुहो निच्छयवयणपडिवत्तिमग्गो य।
अह पण्णवणाविसउ त्ति तेण वीसत्थमुवणोओ॥ २६॥

अर्थ--दृष्टान्त[1] लौकिक अर्थात् व्यवहारज्ञ और परीक्षक अर्थात् शास्त्रज्ञको सरलतासे समझमे आ सके ऐसे निश्चयकारी वचनके बोधका

१ तुलना करो . न्यायसूत्र १ १ २५।

उपाय और स्थापनाका विषय है; अत. नि.शंकभावसे उसकी यहाँ योजना की है।

विवेचन—दृष्टान्तमें व्यवहार और शास्त्र दोनोमें कुशल जनोको सरलतासे समझानेका गुण है। उसमें साध्यका निश्चय करनेमें उपयोगी होनेका अर्थात् व्याप्तिज्ञान प्रकट करनेका सामर्थ्य है और उसके बिना पक्षकी स्थापना नही हो सकती। इसीलिए यहाँ ग्रन्थकारने नि सकोच रूपसे रत्नावलीका दृष्टान्त दिया है।

सापेक्षता न हो तो मिथ्यादृष्टि ही है, इस बातका कतिपय प्रसिद्ध वादों द्वारा स्पष्टीकरण—

इहरा समूहसिद्धो परिणामकओ व्व जो जहिं अत्थो।
ते तं च ण तं तं चेव व त्ति नियमेण मिच्छत्तं॥ २७॥

अर्थ—पहले[1] कहा उससे उल्टा माने, अर्थात् अवयवीरूप अथवा परिणामरूप जो कार्य जिस कारणमे होता है वह कार्य उस कारणरूप ही है, अथवा वह कार्य कारणरूप ही नही है, अथवा कार्य-कारण अभिन्न ही है, ऐसा एकान्तसे मानना मिथ्यात्व है।

विवेचन—भिन्न-भिन्न नयवाद यदि सापेक्ष प्रतिपादन करे, तभी वे सम्यग्दृष्टि बनते है, ऐसा रत्नावलीके दृष्टान्तके द्वारा कहा गया है। इसी कथनको दृढ करनेके लिए कतिपय प्रचलित वादोको लेकर यहाँ विचार किया गया है।

कार्यकारणभावका जो दार्शनिक सिद्धान्त है उसमे सांख्य आदि कई वादी कार्यको सत् मानते है, क्योकि वे परिणामवादी होनेसे कहते है कि 'स्वय कारण ही कार्यरूपमे परिणत होता है।' वैशेषिक आदि कई वादी कार्यको असत् कहते है, क्योंकि वे आरम्भवादी होनेसे ऐसा मानते है कि अवयवो द्वारा अवयवीरूप कार्यका आरम्भ होता है। इनके अतिरिक्त अद्वैतवादी जैसे कई वादी मात्र एक द्रव्य स्वीकार करते है, इससे उनका मानना है कि कार्य और कारण जैसा कुछ है ही नही। परिणामवादके अनुसार दही दूधका परिणाम मात्र है और इसीलिए इन दोनोमे भेद ही नही है। अवयवी-कार्यवादके अनुसार कपडा सूत्रसमूह परसे बना एक कार्य है और इसलिए वह कारणसे भिन्न ही है। अद्वैतवादके अनुसार

---

१ तुलना करो सिद्धसेनीय बत्तीसी १, श्लोक २०।

कार्य या कारणकी कल्पना ही झूठी है, सब-कुछ मात्र द्रव्यरूप ही है। इन तीनो वादोको लेकर ग्रन्थकार कहते हैं कि ये वाद यदि अपने-अपने पक्षका एकान्त रूपसे समर्थन करे और दूसरा पक्ष मिथ्या है ऐसा कहे, तो सापेक्ष प्रतिपादन न करनेसे मिथ्या ही हैं।

सापेक्ष प्रतिपादन अर्थात् अपने पक्षका इस तरह प्रतिपादन करना जिससे दूसरे पक्षकी मर्यादाका भग न हो और अपने पक्षकी मर्यादा भी सुरक्षित रहे।

अनेकान्तज्ञ मर्यादा और उसकी व्यवस्था कैसे करे इसका कथन—

णिययवयणिज्जसच्चा सव्वनया परवियालणे मोहा।
ते उण ण दिट्ठसमग्रो विभयइ सच्चे व अलिए वा॥ २८॥

अर्थ—सभी नय[1] अपने-अपने वक्तव्यमे सच्चे है और दूसरेके वक्तव्यका निराकरण करनेमे झूठे है, अनेकान्तशास्त्रका ज्ञाता उन नयोका 'ये सच्चे है' और 'ये झूठे है' ऐसा विभाग नही करता।

विवेचन—प्रत्येक नयकी मर्यादा अपने-अपने विषयका प्रतिपादन करने तक ही परिसीमित है। इस मर्यादामे जबतक वे रहते है तबतक सभी सच्चे है, किन्तु इस मर्यादाका उल्लघन करके जब वे दूसरे प्रतिपक्ष नयके वक्तव्यका निराकरण करने लगते है, तभी मिथ्या हो जाते हैं। इसलिए प्रत्येक नयकी मर्यादा समझनेवाला और उनका समन्वय करनेवाला अनेकान्तज्ञ सभी नयोके वक्तव्यको जानने पर भी 'यह एक नय सत्य ही है और दूसरा असत्य ही है' ऐसा विभाग नही करता। उल्टा, वह तो किसी एक नयके विषयको दूसरे विरोधी नयके विषयके साथ सकलित करके ही 'यह सत्य है' ऐसा निर्धारण करता है। इस तरह अनेकान्तज्ञ वादी कार्यको कथचित् ही सत् या असत् कहे तथा द्रव्यको अद्वैत या द्वैत भी कथचित् ही कहे।

दोनो मूल नयोकी विषयमर्यादा—

दव्वट्ठियवत्तव्व सव्वं सव्वेण णिच्चमवियप्पं।
आरद्धो य विभागो पज्जववत्तव्वमग्गो य॥ २९॥

अर्थ—सब, सब प्रकार से, सर्वदा जो भेदरहित हो वह द्रव्यास्तिकका वक्तव्य है, और विभाग या भेद का प्रारम्भ होते ही वह पर्यायास्तिकके वक्तव्यका मार्ग बनता है।

---

१ तुलना करो विशेषावश्यकभाष्य गाथा २२७२।

विवेचन—जगत् तो भेदाभेद उभयरूप है, परन्तु उसमें जब किसी भी प्रकारके भेदके बिना सब-कुछ मात्र सद्रूप दिखाई पडता है, तब वह द्रव्यास्तिकका विषय है; अर्थात् अभेद तक ही द्रव्यास्तिक की मर्यादा है। और जब सत्के द्रव्य, गुण आदि अथवा भूत, वर्तमान आदि भेद किये जाते हैं, तभी पर्यायास्तिकके विषयका मार्ग शुरू होता है, अर्थात् भेदसे ही पर्यायास्तिकके विषयकी मर्यादा शुरू होती है।

भेदका विशेष वर्णन—

जो उण समासओ च्चिय वंजणणिअओ य अत्थणिअओ य ।
अत्थगओ य अभिण्णो भइयव्वो वंजणवियप्पो ॥ ३० ॥

अर्थ—और, वह विभाग सक्षेपमे व्यजन-नियत अर्थात् शब्द-सापेक्ष और अर्थ-नियत अर्थात् शब्द-निरपेक्ष है । अर्थगत विभाग अभिन्न है और शब्दगत भेद भाज्य अर्थात् भिन्न तथा अभिन्न है ।

विवेचन—प्रत्येक पदार्थ भेदाभेद उभयात्मक है । उसमे जब अभेदके ऊपर सूक्ष्म विचारणासे काल, देश आदिके कारण भेदोकी कल्पना की जाती है, तब वे भेद विचारकी सूक्ष्मताके अनुसार उत्तरोत्तर बढ़ते ही जाते हैं । अभिन्न अर्थात् सामान्य स्वरूपके ऊपर कल्पित अनन्त भेदोकी इस परम्परामे जितना सदृश परिणाम-प्रवाह किसी भी एक शब्दका वाच्य बनकर व्यवहार्य होता है, उतना वह प्रवाह व्यजनपर्याय कहलाता है, और उक्त भेदोकी परम्परामे जो भेद अनभिलाप्य हो वह अर्थपर्याय कहलाता है । उदाहरणार्थ, चेतन पदार्थका 'जीवत्व' यह सामान्य रूप है, उसकी काल, कर्म आदि उपाधिकृत ससारित्व, मनुष्यत्व, पुरुषत्व, बालत्व आदि अनन्त भेदवाली छोटी-बडी अनेक परम्पराएँ है । उनमे 'पुरुष, पुरुष' जैसी समान प्रतीतिका विषय और एक 'पुरुष' शब्दका प्रतिपाद्य जो सदृश पर्यायप्रवाह है वह व्यजनपर्याय है और जो पुरुषरूप सदृशप्रवाहमे दूसरे बाल्य, यौवन आदि अथवा उनसे भी अधिक सूक्ष्मतम भेद रहे हुए हैं वे सब अर्थपर्याय हैं।

व्यजन पर्यायको अभिन्न-भिन्न कहा है। इसका भाव यह है कि पुरुषरूप पर्याय शब्दवाच्य सदृशप्रवाहकी दृष्टिसे यद्यपि एक है, फिर भी उसमे बाल्य आदि अनेक छोटे-बडे भेद भासित होनेसे वह भेद्य भी है। इसी तरह बालपर्याय शब्दवाच्य सदृशप्रवाहके रूपमे एक होनेसे अभिन्न होने पर भी उसमे तत्कालजन्म, स्तनन्धयत्व आदि दूसरे भेदोके कारण वह भेद्य होनेसे भिन्न भी है। इसी तरह

प्रत्येक व्यजनपर्याय अर्थात् शब्दप्रतिपाद्य--अभिलाप्य पर्यायके बारेमे घटाना चाहिए। अर्थपर्यायको जो अभिन्न कहा है, उसका भाव यह है कि भेदोंकी परम्परामें जो भेद अन्तिम होनेसे अभेद्य होता है, वह स्वय तो यद्यपि दूसरेका अश और दूसरे भेदोसे भिन्न होता है, फिर भी उसमे कोई अन्य भेदक अश नही होता और इसीलिए वह अभिन्न कहलाता है।

एक ही द्रव्य अनेक कैसे बनता है इसका स्पष्टीकरण--

एगदवियम्मि जे अत्थपज्जया वयणपज्जया वा वि ।
तीयाणागयभूया तावइयं तं हवइ दव्वं ॥ ३१ ॥

अर्थ--एक द्रव्यके भीतर जो अतीत, वर्तमान और अनागत अर्थ-पर्याय तथा शब्द अर्थात् व्यजनपर्याय होते है, वह द्रव्य उतना होता है।

विवेचन--कोई भी परमाणु, जीव आदि मूल द्रव्य वस्तुत अखण्ड होनेसे व्यक्तिके रूपमे भले एक ही हो, परन्तु उसमे तीनो कालोके शब्दपर्याय और अर्थ-पर्याय अनन्त होते है। इसलिए वह एक द्रव्य भी प्रतिपर्याय अर्थात् पर्यायभेदसे भिन्न-भिन्न भासमान होनेसे और भिन्न-भिन्न माना जानेसे पर्यायोकी सख्याके अनुसार अनन्त बनता है। अर्थात् अमुक एक पर्यायसहित उस द्रव्यकी अपेक्षा दूसरे विवक्षित पर्यायसहित वह द्रव्य और उसकी अपेक्षा तीसरे विवक्षित पर्याय-सहित वह द्रव्य भिन्न है। इस तरह विशेष्यभूत द्रव्यके एक होने पर भी विशेषण-भूत पर्यायोंके भेदके कारण उसे भिन्न-भिन्न मानने पर वह जितने पर्याय होते है उतनी सख्यावाला बनता है।

व्यजनपर्यायका उदाहरण--

पुरिसम्मि पुरिससद्दो जम्माई मरणकालपज्जन्तो ।
तस्स उ बालाईया पज्जवजोया बहुवियप्पा ॥ ३२ ॥

अर्थ--जन्मसे लेकर मरणकाल पर्यन्त पुरुषमे 'पुरुष' ऐसे शब्दका प्रयोग होता है, और उसीके बाल आदि अनेक प्रकार के पर्याय अर्थात् अश है।

विवेचन--पुरुषके रूपमे जन्म लिया तबसे लेकर मरणपर्यन्त वह जीव 'पुरुष पुरुष' ऐसे समान शब्दसे व्यवहृत होता है और 'पुरुष पुरुष' ऐसी समान प्रतीतिका विषय बनता है। अत जीवका यह पुरुषरूप सदृशपर्यायप्रवाह व्यजनपर्याय है।

उसमें जो दूसरे बाल्य, यौवन, वृद्धत्व आदि अनेक प्रकारके स्थूल पर्याय या उनसे भी दूसरे सूक्ष्म पर्याय भासित होते हैं वे सब पुरुषरूप व्यजनपर्यायके अवान्तर पर्याय हैं। अर्थात कोई भी एक व्यजनपर्याय ले, तो उसके दूसरे भेद शक्य होनेसे उसके अनेक पर्याय सम्भव ही है।

व्यंजनपर्यायमे एकान्त अभिन्नता मानने पर क्या दोष आता है इसका कथन—

अत्थि त्ति णिव्वियप्पं पुरिसं जो भणइ पुरिसकालम्मि ।
सो बालाइवियप्पं न लहइ तुल्लं व पावेज्जा ।। ३३ ।।

अर्थ—जो वक्ता पुरुषको उसकी पुरुषदशामे विधिरूपसे मात्र अभिन्न कहता है वह बाल आदि भेद नही जान पाता। इससे वह तुल्य ही प्राप्त करता है।

विवेचन—यदि पुरुषरूप व्यजनपर्यायको एकान्त रूपसे अभिन्न माना जाय, तो इसका अर्थ यही होगा कि उसके अवान्तर पर्याय नही हैं; और ऐसा माने तो परिणाम यह होगा कि वह पुरुषरूप पर्याय भी सिद्ध नही होगा, क्योंकि पुरुषत्वका अर्थ ही यह है कि अनेक अवान्तर पर्यायोका समुदाय। अब यदि अवान्तर पर्याय ही न हो, तो उनका समुदायरूप पुरुषपर्याय भी नही हो सकता। अत एकान्त अभिन्न मानने पर अवान्तर पर्यायोका लोप हो जानेसे व्यजनपर्याय भी अन्ततोगत्वा अवान्तर पर्यायकी तुल्य कोटिमे अर्थात् लोप दशामे रखा जायगा।

प्रस्तुत उदाहरणमे व्यजनपर्याय और अर्थपर्यायका स्पष्ट रूपसे पृथक्करण—

वंजणपज्जायस्स उ 'पुरिसो' 'पुरिसो' त्ति णिच्चमवियप्पो ।
बालाइवियप्पं पुण पासई से अत्थपज्जाओ ।। ३४ ।।

अर्थ—व्यजनपर्यायकी अपेक्षासे देखनेवालेको सर्वदा 'पुरुष, पुरुष' ऐसा निर्विकल्प अर्थात् अभिन्न भास होता है; और वह जिन बाल आदि विकल्पोंको देखता है वे तो उसके अर्थपर्याय हैं।

विवेचन—एक ही पुरुष-व्यक्तिमे निर्विकल्प अर्थात् अभिन्न और सविकल्प अर्थात् भिन्न बुद्धि होती है। जब 'पुरुष' इस प्रकारकी निर्विकल्प बुद्धि होती है,

तब उसका विषय पुरुषपर्याय एक अभिन्न व्यंजनपर्याय है, और उसी पुरुष व्यक्तिमें पुरुष प्रतीतिके समय जो बाल आदि अनेक विकल्प या भेद दिखाई पड़ते हैं वे सब पुरुषरूप व्यंजनपर्यायके अर्थपर्याय हैं, अर्थात् एकाकार बुद्धिसे गृहीत व्यंजनपर्यायमे भासित होनेवाले भेद उस व्यंजनपर्यायके अर्थपर्याय है।

एकान्त मान्यतावालेमे अशास्त्रज्ञत्व के दोषका कथन—

सवियप्प-णिव्वियप्पं इय पुरिसं जो भणेज्ज अवियप्पं।
सवियप्पमेव वा णिच्छएण ण स निच्छिओ समए ॥ ३५ ॥

अर्थ—इस प्रकार सविकल्प और निर्विकल्प उभयरूप पुरुषको जो मात्र निर्विकल्प कहता है, अथवा सविकल्प ही कहता है, वह शास्त्रमे अवश्य निश्चितबुद्धि—स्थिरबुद्धि नही है।

विवेचन—पुरुष तो केवल एक दृष्टान्तरूप है। वस्तुत सभी व्यंजनपर्याय, पुरुषकी भाँति, अभिन्न और भिन्न उभयरूप हैं। ऐसा होने पर भी जो उसे एकान्त अभिन्नरूप ही अथवा भिन्नरूप ही मानता है उसके बारेमे ऐसा निश्चयमे कहा जा सकता है कि वैसा एकान्तदृष्टिवाला अनेकान्तशास्त्रका मर्म नही जानता।

सात भंगोंका स्वरूप—

अत्थंतरभूएहि य णियएहि य दोहि समयमाईहिं।
वयणविसेसाईयं दव्वमवत्तव्वयं पडइ ॥ ३६ ॥
अह देसो सब्भावे देसोऽसब्भावपज्जवे णियओ।
तं दवियमत्थि णत्थि य आएसविसेसियं जम्हा ॥ ३७ ॥
सब्भावे आइट्ठो देसो देसो य उभयहा जस्स।
तं अत्थि अवत्तव्वं च होइ दविअं वियप्पवसा ॥ ३८ ॥
आइट्ठोऽसब्भावे देसो देसो य उभयहा जस्स।
तं णत्थि अवत्तव्वं च होइ दवियं वियप्पवसा ॥ ३९ ॥
सब्भावाऽसब्भावे देसो देसो य उभयहा जस्स।
तं अत्थि णत्थि अवत्तव्वयं च दवियं वियप्पवसा ॥ ४० ॥

अर्थ—अर्थान्तरभूत अर्थात् परपर्याय और निज अर्थात् स्वपर्याय इन दोनोंके द्वारा (अलग-अलग विवक्षित द्रव्य असत् और सत् है तथा)

एक ही साथ विवक्षित द्रव्य वचनविशेषसे अतीत होकर अवक्तव्य बनता है ।

जिसका एक देश अर्थात् भाग सद्भावपर्यायमें नियत हो और एक देश असद्भावपर्यायमें नियत हो, वह द्रव्य अस्ति और नास्तिरूप है, क्योंकि वह विवक्षासे विशिष्ट बनता है ।

जिसका एक भाग अस्तिरूपसे और दूसरा भाग उभयरूपसे विवक्षित हो, वह द्रव्य विकल्पके कारण अस्ति-अवक्तव्य बनता है ।

जिसका एक भाग नास्तिरूपसे और एक भाग उभयरूपसे विवक्षित है वह द्रव्य विकल्पके कारण नास्ति-अवक्तव्य बनता है ।

जिस[1] द्रव्यका एक भाग अस्ति-नास्तिरूपसे विवक्षित हो और एक भाग उभयरूपसे विवक्षित हो वह द्रव्य विकल्पके कारण अस्ति-नास्ति और अवक्तव्यरूप बनता है ।

विवेचन—किसी भी वस्तुका उसके एक धर्मको लेकर भाव या अभावरूपसे जो वास्तविक कथन किया जाता है उसे भग कहते है। ऐसे भग मूलमे दो और ज्यादा हुआ तो तीन है, परतु इन भगरूप वाक्योके एक-दूसरेके साथके मिश्रणसे और सचारणसे अधिकसे अधिक सात वाक्य बनते है। यही सात प्रकारकी वाक्य-रचना सप्तभगी कहलाती है।

जैसे कि—आत्मा नित्य है, अनित्य है, अवक्तव्य है, नित्य तथा अनित्य है, नित्य तथा अवक्तव्य है, अनित्य तथा अवक्तव्य है और नित्य-अनित्य तथा अवक्तव्य है। (१) आत्मा चाहे जितनी भिन्न-भिन्न दशाओ का अनुभव करे, परन्तु तत्त्वरूपसे वह न तो कभी नया ही उत्पन्न होता है और न सर्वथा नष्ट ही होता है, अतएव द्रव्यार्थिक दृष्टि से वह नित्य ही है। (२) इसी प्रकार तत्त्वरूपसे वह अनादि-अनन्त होने पर भी निमित्तानुसार भिन्न-भिन्न दशाओका अनुभव करता है, अत पर्यायार्थिक दृष्टिसे वह अनित्य ही है। (३) एक-एक दृष्टि लेकर उसका विचार करने पर उसे नित्य भी कह सकते है और अनित्य भी कह सकते है, परन्तु इन दोनो दृष्टियोसे एक ही साथ अक्रमसे उसका निरूपण करना हो तो शब्दके द्वारा ऐसा कहना शक्य ही नही है, अत इस अपेक्षासे उसे अवक्तव्य ही कह सकते है।

---

१ तुलना करो विशेषावश्यकभाष्य गा. २२३२ और सन्मति सटीक पृ ४४१ ।

(४) दोनो दृष्टि साथ मे लागू करके क्रमसे निरूपण करना हो तो उसे इस अपेक्षासे नित्य तथा अनित्य ही है ऐसा कह सकते है । (५) एक द्रव्यार्थिक दृष्टिको अलग लेकर और दोनो दृष्टियोंको अक्रमसे एक साथ लेकर निरूपण करना हो तो नित्य तथा अवक्तव्य ही कह सकते हैं ।(६) इसी प्रकार पर्यायार्थिक दृष्टिको अलग लेकर और दोनो दृष्टियोको अक्रमसे एक साथ लेकर विचार करने पर अनित्य तथा अवक्तव्य ही कह सकते है। (७) दोनो दृष्टियोको क्रमसे साथमे लेकर तथा अक्रमसे साथमें लेकर विचार करने पर नित्य-अनित्य तथा अवक्तव्य ही कह सकते है।

ऊपरके भगोमे यह देखा जा सकता है कि नित्य, अनित्य और अवक्तव्य ये ही तीन मुख्य भग हैं, बाकीके वाक्य तो इनके परस्पर उल्टे-मुल्टे मिश्रणसे बने है। अत मूलभूत तीन भगोका स्वरूप समझ लेने पर बाकीके सभी भगोका स्वरूप समझमें आ सकता है। पहला भग आत्माके नित्यरूप होनेका विधान करता है और दूसरा इससे उल्टा अर्थात् उस रूपसे न होनेका भी विधान करता है। ये दोनो विधान वास्तविक तभी कहे जा सकते है, जब वे बाधित न हो। तत्त्वरूपसे आत्माकी शाश्वतता पूर्वापरके अनुसन्धानसे सिद्ध है और अवस्थाभेदसे अशाश्वतता भी अनुभवसिद्ध है। अतएव यदि तत्त्वरूपसे अनित्यता और अवस्थाभेदरूपसे नित्यता मानी जाय, तभी ये भग अवास्तविक सिद्ध हो सकते है। एक ही आत्माके विषयमे नित्य होनेका और नित्य न होनेका, ये दोनो विधान परस्परविरोधी होने पर भी असदिग्ध है, क्योकि ये दृष्टिभेदसापेक्ष होनेसे वस्तुत अविरोधी ही है। इस भावका सूचन करनेके लिए ही प्रत्येक भगके साथ आरम्भमे 'अपेक्षाविशेष' और अन्तमे 'ही' शब्दोका प्रयोग होता है। इसीलिए पहले भगकी वाक्यरचना 'अपेक्षा-विशेषसे आत्मा नित्य ही है' ऐसी बनती है। इसी प्रकार आगेके भगोमे भी शब्द-योजना करनी चाहिए। सस्कृतमे 'कथचित्' या 'स्यात्' शब्दका प्रयोग करके 'कथचित् नित्य एव' अथवा 'स्यान्नित्य एव' कहा जाता है। भिन्न-भिन्न अपेक्षा द्वारा विचार करने पर जो-जो स्वरूप सिद्ध होता हो वह स्वरूप योग्य शब्दमे जताया जा सकता है, पर उन सब अपेक्षाओ द्वारा एक साथ और अक्रमसे विचार करके स्वरूप जताना हो तो इसके लिए उपयुक्त शब्द नही मिल सकता और इसीलिए इस दृष्टिसे 'अवक्तव्य ही है' ऐसा कहना पडेगा। यही तीसरा भग है, और अपनी दृष्टिसे यह वास्तविक ही है।

मनुष्यके बारेमे सात भग इस प्रकार बनेंगे—अपेक्षाविशेषमे (१) मनुष्य ही है, (२) अमनुष्य ही है, (३) अवक्तव्य ही है, (४) मनुष्य तथा अमनुष्य ही है, (५) मनुष्य तथा अवक्तव्य ही है, (६) अमनुष्य तथा अवक्तव्य ही है, और (७) मनुष्य-अमनुष्य तथा अवक्तव्य ही है।

मनुष्यपना अर्थात् अमुक निश्चित आकार और गुणधर्मका होना और दूसरे आकार तथा गुणधर्मका न होना। इससे ऐसा फलित होता है कि मनुष्य स्व-रूपसे मनुष्य है, पर-रूपसे नही। स्व-रूप एव पर-रूपसे उसका अक्रमसे अर्थात् एक साथ निरूपण करना हो तो उसे अवक्तव्य ही कहना पडेगा। इस तरह मनुष्य, अमनुष्य और अवक्तव्य ये तीन भग होते ही बाकी के भग भी बन जाते है।[1]

अर्थपर्याय तथा व्यजनपर्यायमे सात भगोंका विभाजन---

एवं सत्तवियप्पो वयणपहो होइ अत्थपज्जाए।
वंजणपज्जाए उण सवियप्पो णिव्वियप्पो य ॥ ४१ ॥

अर्थ---इस तरह सात प्रकारका वचनमार्ग अर्थपर्यायमें होता है और व्यजनपर्यायमे तो सविकल्प और निर्विकल्प वचनमार्ग होता है।

विवेचन---पर्याय अर्थात् भेद या विशेष। भेद होने के कारण वह (पर्याय) देश, काल और स्वरूपसे परिमित होता है और जो परिमित होता है वह अमुक स्वरूप धारण करने पर भी दूसरे स्वरूपोसे व्यावृत्त ही होता है। इस तरह भेदमे अमुक स्वरूपसे अस्तित्व और दूसरे स्वरूपसे नास्तित्व सिद्ध होता है। इसी अस्तित्व और नास्तित्वके कारण कभी वह 'अस्ति' शब्दसे, तो कभी 'नास्ति' शब्दसे व्यवहृत होता है, और उसका यह अस्तित्व एव नास्तित्व अक्रमसे अर्थात् एक साथ न कहे जा सकनेके कारण वह भेद अवक्तव्य भी है। इस तरह अस्ति, नास्ति और अवक्तव्य ---ये तीन भग पर्यायमे सिद्ध होने पर बाकीके चार भी सिद्ध हो जाते है। सात भग

---

१ तत्त्वका जैसा सम्भवित हो वैसा स्वरूप शब्दके द्वारा कभी प्रतिपादित हो ही नहीं सकता, फिर भी मानवव्यवहार तो शब्दके द्वारा ही चलता है, अतएव शब्द सकेतके द्वारा वस्तुका आंशिक व साकेतिक रूप प्रतिपादित भी कर सकता है। इस तरह तत्त्वके अनभिलाप्य (अवक्तव्य) और अभिलाप्य (वक्तव्य), ऐसे दो स्वरूप ध्यानमें आते हैं। ऐसे दो स्वरूपोंका सूचन उपनिषदों एव जैन आगमोंमें स्पष्ट है। अनभिलाप्यको अवक्तव्य शब्दसे भी सूचित किया जा सकता है, परन्तु अवक्तव्य शब्दका एक दूसरा भी अर्थ है जो सप्तभगीके तार्किक समर्थकोंने किया है और यहाँ विवेचनमें हमने उसीको लिया है।

सप्तभगीकी क्रमविकासी एव ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक चर्चा विशेषरूपसे जानने योग्य है। ऐसी चर्चा 'न्यायावतारवार्तिकवृत्ति'की प्रस्तावनामें प० श्री दलसुखभाई मालवणियाने की है। स्याद्वाद, नयवाद तथा सप्तभंगीके विशेष अभ्यासीके लिए वह अवश्य पठनीय है। सरलतासे इतना भाग सुलभ हो इस आशयसे प्रस्तुत ग्रन्थके एक परिशिष्टमें उस चर्चाको अक्षरश उद्धृत किया है।

पर्यायमें होते हैं ऐसा जो कहा है, वहाँ पर्यायसे अभिप्रेत केवल अर्थपर्याय ही है, व्यंजनपर्याय नही, क्योंकि व्यंजनपर्याय यानी शब्दसापेक्ष---शब्दप्रतिपाद्य पर्याय। जो पर्याय शब्द द्वारा प्रतिपाद्य होनेसे व्यंजनपर्याय कहलाता हो वह वक्तव्य होनेसे अवक्तव्य कैसे कहा जा सकता है? इसीलिए अवक्तव्य और अवक्तव्यमिश्रित अन्तिम तीन भंग व्यंजनपर्यायमें सम्भव नहीं है। उसमें तो सिर्फ सविकल्प अर्थात् नास्ति और निर्विकल्प अर्थात् अस्ति ये दो भंग ही हो सकते हैं और बहुत हुआ तो सविकल्प और निर्विकल्प उभयरूप तीसरा भंग भी घटाया जा सकता है। इसी कारण सम्भवतः अर्थपर्यायमें सात और व्यंजनपर्यायमें दो भंग कहे गये हैं।[1]

पुरुष शब्दका व्यंजनपर्याय पुरुषत्व और घट शब्दका घटत्व---ये दोनों सदृश-पर्यायप्रवाहके रूपमें एक-एक होनेसे निर्विकल्प अर्थात् सामान्यरूप हैं, और प्रतिक्षण नये-नये उत्पन्न होनेवाले पर्यायोंके द्वारा भिन्न होते रहनेसे सविकल्प अर्थात् विशेषरूप भी हैं। इस तरह ये दोनों पर्याय सविकल्प और निर्विकल्परूप होने पर भी अवक्तव्य नहीं हैं, क्योंकि ये पर्याय अनुक्रमसे पुरुष और घट शब्द द्वारा कहे जानेके कारण वक्तव्य हैं, परन्तु प्रतिक्षण उत्पन्न और विनष्ट होनेवाले जो शब्द-निरपेक्ष अर्थपर्याय हैं, उनमें तो अवक्तव्य आदि भंग भी घटाये जा सकते हैं।

केवल पर्यायार्थिक नयकी देशना पूर्ण नहीं है ऐसा कथन---

जह दवियमप्पियं तं तहेव अत्थि त्ति पज्जवणयस्स।
ण य ससमयपन्नवणा पज्जवणयमेत्तपडिपुण्णा॥ ४२॥

अर्थ---जो द्रव्य जिस प्रकारसे अर्पित अर्थात् उपस्थित हो वह द्रव्य वैसा ही है---ऐसी पर्यायार्थिक नयकी देशना है, परन्तु द्रव्य-निरपेक्ष अर्थात् मात्र पर्याय नयमें पूर्ण होनेवाली वह देशना स्वसमयकी प्ररूपणा नहीं है।

केवल द्रव्यार्थिक नयकी देशनाका जो वक्तव्य है उसका युक्ति द्वारा कथन---

---

१ यहाँ प्रस्तुत गाथाका जो अर्थ लिखा है वही ग्रन्थकारको विवक्षित है या नहीं, यह बहुत विचार करने पर भी निश्चित नहीं किया जा सका है। टीकाकार श्री अभयदेवसूरि तथा श्री यशोविजयजी उपाध्यायने भी इस गाथाका अर्थ निश्चित रूपसे नहीं लिखा। उन्होंने भी कल्पनाएँ दौड़ाई हैं। अतः विचारकोंको परम्परा जाननेका प्रयत्न करना चाहिए। देखो 'द्रव्यगुणपर्यायनो रास' ढाल ४, दोहा १३।

पडिपुण्णजोव्वणगुणो जह लज्जइ बालभावचरिएण ।
कुणइ य गुणपणिहाणं अणागयसुहोवहाणत्थं ॥ ४३ ॥

अर्थ—युवावस्थाको प्राप्त पुरुष जैसे बचपनकी चेष्टासे लज्जित होता है, वैसे ही भावी सुख प्राप्त करनेके लिए गुणोंकी अभिलाषा करता है ।

विवेचन[1]—पर्यायार्थिक नय इन्द्रियगोचर प्रत्यक्ष रूपको ही स्वीकार करता है। अतः उसकी दृष्टिसे तीनो कालोमे स्थायी कोई तत्त्व नही है। वह केवल वर्तमान कालमे दीख पडनेवाले स्वरूपको ही मानता है। इससे उसकी दृष्टिमे अतीत और अनागतके सम्बन्धसे रहित केवल वर्तमान वस्तु ही सत्य है, उसके मतमे प्रत्येक क्षणमे वस्तु भिन्न-भिन्न है। इससे उल्टा, द्रव्यार्थिक नय तीनो कालोमे स्थायी ऐसे एक ध्रुव तत्त्वको ही देखता है, फलत उसकी दृष्टिमे त्रैकालिक भेद जैसी कोई वस्तु ही नही है ।

द्रव्यार्थिक नय एक त्रैकालिक स्थायी तत्त्वको सिद्ध करनेके लिए युक्ति देकर कहता है कि जब कोई पुरुष युवावस्थाको प्राप्त होता है और गुण-दोषकी परीक्षा करने की बुद्धि उसमे आती है,तव उसे अपनी बाल्यावस्थाकी भूले याद आती है और उससे वह लज्जित होता है। इसी प्रकार उसका विवेक भावीमे सुख पानेकी दृष्टिसे उसे गुणकी उपलब्धिके लिए प्रेरित करता है। इस तरह युवावस्थामे भूतकालके दोषस्मरणसे होनेवाली ग्लानि और भावी सुखकी आशामेंसे उत्पन्न होनेवाली गुणरुचि ये दोनो युवावस्थामे विद्यमान पुरुषका भूत एव भविष्यके साथ सबध जोडती है, क्योकि यदि वह पहले न होता और उसने भूल न की होती, तो आज वह लज्जित क्यो होता ? इसी प्रकार, यदि वह भविष्य मे बिलकुल रहनेवाला ही न हो, तो किसके सुखके लिए वह इस समय साधन-प्राप्तिकी इच्छा करता ? अतएव पुरुष तो ध्रुव ही है।

इस तरह पहली देशना भेदस्पर्शी होनेसे मात्र ऊपर-ऊपरके बाल्य, यौवन आदि भावोको अलग-अलग सत्य मानती है, और दूसरी देशना अभेदस्पर्शी होनेसे भीतरके त्रैकालिक ध्रुव अशको सत्य मानती है। ये दोनो देशनाएँ अपने-अपने प्रदेशमे समर्थ होनेपर भी अलग-अलग रहे तो अधूरी ही है। इसीलिए यदि वे निरपेक्ष हो तो जैन प्ररूपणामे स्थान नही पा सकती ।

---

१ गाथा ४२ और ४३का भावार्थ यहाँ एक साथ दिया गया है।

वस्तुत. पुरुष कैसे स्वरूपवाला है इसका कथन और उसके द्वारा जीवके स्वरूपका निश्चय---

ण य होइ जोव्वणत्थो बालो अण्णो वि लज्जइ ण तेण ।
ण वि य अणागयवयगुणपसाहणं जुज्जइ विभत्ते ।। ४४ ।।

जाइ-कुल-रूव-लक्खण-सण्णा-संबंधओ अहिगयस्स ।
बालाइभावदिट्ठविगयस्स जह तस्स संबंधो ।। ४५ ।।

तेहिं अतीताणागयदोसगुणदुगुंछणऽब्भुवगमेहिं ।
तह बन्ध-मोक्ख-सुह-दुक्खपत्थणा होइ जीवस्स ।। ४६ ।।

अर्थ---युवावस्थामे विद्यमान पुरुष बालक नही है अर्थात् भिन्न है और वह मात्र भिन्न नही है, क्योकि यदि वह भिन्न हो तो बालचरितसे लज्जित न हो । इसी तरह युवक और वृद्ध अत्यन्त भिन्न हो तो भावी आयुष्यके लिए गुणोकी साधना भी नही घट सकती (अत. वे अभिन्न है) ।

जाति, कुल, रूप, लक्षण, नाम और सम्बन्धके द्वारा एकरूप ज्ञात होनेवाले और बाल आदि दृष्ट अवस्थाओके द्वारा विनष्ट होनेवाले उस पुरुपका जिस तरहका सबध घटित होता है ;

तथा अतीत दोषकी जुगुप्सा एव भावी गुणकी पसदगीके द्वारा उस पुरुषका जिस प्रकारका सम्बन्ध घटित होता है , अर्थात् जिस तरह पुरुषमे भेदाभेदका सम्बन्ध निष्पन्न होता है, उसी तरह जीवमे बन्ध, मोक्ष, सुख एव दु खकी भावना होती है ।

विवेचन---यहा पुरुषमे भेदाभेद दो तरहसे सिद्ध किया गया है। पहलेका ही उदाहरण ले। उसमे बालक और युवकके बीचका भेद स्पष्ट है। इस भेदके रहनेपर भी यदि भूत--बाल्य एव वर्तमान---यौवनके बीच एक तत्त्व न हो, अथवा वर्तमान और भावी---वृद्धत्वके बीच एक तत्त्व न हो, तो पूर्वके दोषके स्मरणसे युवावस्थामे जो लज्जा आती है और युवावस्थामे भावी सुखके लिए जो प्रयत्न देखा जाता है वह कभी सम्भव नही हो सकता। फलत यही सिद्ध होता है कि पुरुष भेदाभेद उभयरूप है।

जाति, कुल, रूप, तिल आदि लक्षण, नाम और दूसरे पुत्र-पिता आदिके सम्बन्ध पुरुषको अभिन्नरूप सिद्ध करते है, इसी भाँति बाल्य, यौवन आदि अवस्थाएँ, जो कि एकके बाद एक आकर चली जाती है, पुरुषको भिन्नरूप सिद्ध करती है। मात्र शरीरवर्ती जाति, कुल तथा बाल्य, यौवन आदि भाव ही पुरुषको भिन्नाभिन्नरूप सिद्ध करते है ऐसा नही है, परन्तु कतिपय आतरिक भाव भी पुरुषका वैसा स्वरूप सिद्ध करते है। भूतकालीन दोषोके प्रति घृणा और भावी गुणोकी स्पृहा—ये आन्तरिक भाव भी पुरुषका भिन्नाभिन्नरूप सिद्ध करते है।

पुरुषके भिन्नाभिन्न होने पर ही जैसे उक्त बाह्य और आन्तरिक सभी भावोकी सगति हो सकती है, वैसे ही जीवतत्त्वको भिन्नाभिन्न माननेसे ही उसमे बन्ध और मोक्ष घटाये जा सकते है तथा उसमे दिखाई देनेवाली दु खपरिहारकी एव सुख-प्राप्तिकी इच्छा और प्रवृत्ति भी घटाई जा सकती है। इसीलिए मनुष्यकी भाँति आत्मतत्त्व भी एकान्त भिन्न या एकान्त अभिन्न न होकर भिन्नाभिन्न उभयरूप है।

जीव एव पुद्गलके कथचित् भेदाभेदका समर्थन—

अण्णोण्णाणुगयाणं 'इमं व तं व' त्ति विभयणमजुत्तं ।
जह दुद्ध-पाणियाणं जावंत विसेसपज्जाया ।। ४७ ।।
रूआइ पज्जवा जे देहे जीवदवियम्मि सुद्धम्मि ।
ते अण्णोण्णाणुगया पण्णवणिज्जा भवत्थम्मि ।। ४८ ।।

अर्थ—दूध और पानीकी तरह अन्योन्यमें ओतप्रोत पदार्थमे 'यह' और 'वह' ऐसा विभाग करना योग्य नही है। जितने विशेष पर्याय हो उतना अविभाग समझना चाहिए।

शरीरमे जो रूप आदि पर्याय है और जो पर्याय विशुद्ध जीवमे है उनका वर्णन अन्योन्यमे मिलित रूपसे ही ससारी जीवमे करना चाहिए।

विवेचन—'आत्मद्रव्यमे बन्ध-मोक्षका अधिकार और सुखप्राप्ति तथा दु ख-त्यागके प्रयत्नको घटानेके लिए पुरुषके दृष्टान्तसे भेदाभेद अर्थात् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य सिद्ध किया गया है, परन्तु यह दृष्टान्त ठीक नही है, क्योकि दार्ष्टान्तिक एक ही आत्मद्रव्य मे भेदाभेद सिद्ध करनेका है। इसलिए दृष्टान्त भी भेदाभेदके निश्चय-वाला कोई एक ही तत्त्व होना चाहिए। किन्तु यहाँ तो उल्टा है। पुरुष मात्र देह या मात्र तद्गत जीव नही है, परतु वह तो जीव और देह उभयरूप है। बाल्य,

यौवन, वार्धस्य आदि भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ जिस पुरुषमे भेद दिखलाने के लिए ली गई है वे तो देहगत होनेसे देहका भेद दिखला सकती है, और भूत दोषोका स्मरण अथवा भावी गुणकी स्पृहा आदि जो भाव पुरुषमे अभेद दिखलानेके लिए लिये गये है, वे तो मात्र जीवके ही धर्म होनेसे उसीका अभेद दिखला सकते है। अतएव पुरुषके दृष्टान्तमें जो भेद कहा वह तो उसकी देहमे है और जोअ भेद कहा वह तो देहगत जीवमें है, परतु किसी पुरुष नामक एक तत्त्वमे भेदाभेद नही है। तो फिर इस दृष्टान्तको लेकर आत्मद्रव्यमे भेदाभेद किस तरह साबित किया जा सकता है ?'

ऐसी शकाका उत्तर देनेके लिए ग्रन्थकार कहते है कि जीव और देह दूध-पानीकी भाँति एक-दूसरेमे ऐसे ओतप्रोत है और एक-दूसरेके प्रभावसे ऐसे बद्ध है कि उन दोनोको 'यह देह और वह जीव' ऐसा देशकृत भाग करके अलग किया ही नही जा सकता। इतना ही नही, जिन बाल्य, यौवन आदि अवस्थाओको और वर्ण, गन्ध आदि गुणोको देहधर्म माना जाता है, वे मात्र देहके ही धर्म है और उन धर्मो पर जीवका कोई भी असर नही है, ऐसा नही कहा जा सकता। इसी तरह जिन ज्ञान, स्मरण, सुख, दु ख आदि भावोको जीवके पर्यायके रूपमे लिया जाता है वे पर्याय मात्र जीवके है और उन पर देहका कोई भी असर नही है ऐसा नही कहा जा सकता। वस्तुत ससारी जीवमे शरीरगत या आत्मगत जिन पर्यायोका अनुभव होता है वे सब कर्मपुद्गल और जीव उभयके सयोगके परिणाम है। अत उन्हे किसी एकके न मानकर उभयके ही मानना चाहिए। इसलिए तथाकथित देहगत पर्याय पुद्गलके अतिरिक्त जीवके भी है और तथाकथित जीवगत पर्याय जीवके होनेके अतिरिक्त देहके भी है। ऐसा होनेमे बाल्य, यौवन आदि भाव देहकी भाँति तद्गत जीवमे भी भेद दिखलाते है, और भूतस्मरण आदि भाव जीवके अतिरिक्त उसके आश्रय-भूत शरीरमे भी अभेद दिखलाते है। अत जीव एव देह उभयरूप पुरुषमे भेदाभेद है, ऐसा माननेमे कोई बाधा नही है।

जीव और उसके आश्रयभूत देहका देशकृत विभाग शक्य न होने पर भी तात्त्विक दृष्टिसे दोनोके लक्षण भिन्न होनेसे दोनो भिन्न तो है ही। ससार-अवस्थाके सभी जीवपर्याय कर्माधीन होनेमे और सभी कर्मपुद्गलकृत सूक्ष्म-स्थूल पर्याय जीवाधीन होनेसे जीव एव कर्मशरीरके जितने पर्याय हो सकते है, वे सब अविभक्त रूपसे ओत-प्रोत जीव और कर्म दोनोके मानने चाहिए।

इस कारण पुरुषरूप दृष्टान्त तथा आत्मद्रव्यरूप दार्ष्टान्तिकमे अपेक्षित साम्य है ही। आत्मा अमूर्त है, तो फिर मूर्त कर्मपुद्गलके साथ उसका सम्बन्ध कैसे हो सकता है ?—इस प्रश्नका उत्तर वस्तुस्वभावमे है।

जीव और पुद्गल द्रव्यकी ओतप्रोतताके कारण कैसे कैसे शास्त्रीय व्यवहार होते है इसका कथन—

एवं 'एगे आया एगे दंडे य होइ किरिया य' ।
करणविसेसेण य तिविहजोगसिद्धी वि अविरुद्धा ।। ४९ ।।

अर्थ—ऐसा होनेसे 'एक आत्मा, एक दण्ड और एक क्रिया' ऐसा व्यवहार सिद्ध होता है, तथा करणविशेषके कारण त्रिविध योगकी सिद्धि भी अविरुद्ध है ।

विवेचन—स्थानाग आदि शास्त्रोमे 'आत्मा एक है, दण्ड एक है, क्रिया एक है' ऐसा भी व्यवहार हुआ है । इसी तरह आत्मामे योग तीन प्रकार का है ऐसा भी शास्त्रकथन है । यह सब जीव और पुद्गल द्रव्यको अत्यन्त भिन्न माननेसे नही घट सकता, क्योकि दण्ड अर्थात् मन-वचन-काया और ये तीन तो पुद्गल-स्कन्धरूप होनेमे वस्तुत अनेक पुद्गल द्रव्य है । इसी भाति क्रिया भी मन, वचन एव शरीरके आश्रित होनेसे अनेक है । अत इन अनेकोको एक कैसे कह सकते है ? इसी प्रकार योग अर्थात् स्पन्दमान आत्मवीर्य, इसे त्रिविध भी कैसे कह सकते है ? यह वीर्य आत्मरूप होनेसे या तो एक कहा जा सकता है या फिर शक्तिके रूपमे अनन्त कहा जा सकता है, परन्तु उसे त्रिविध तो कैसे कह सकते है ?

परन्तु आत्मा और पुद्गल द्रव्य का परस्पर अभेद माननेसे ऊपरके प्रश्नमे सूचित विरोधके लिए अवकाश ही नही रहता । मानसिक, वाचिक एव कायिक द्रव्यके अनेक होनेपर भी तथा तदाश्रित क्रियाओके अनेक होनेपर भी एक आत्मतत्त्वके साथ सम्बद्ध होनेसे उन द्रव्यो एव क्रियाओको भी जो 'एक दण्ड, एक क्रिया' ऐसा कहा है, वह घटित होता ही है । इसी प्रकार मन, वचन एव शरीररूप त्रिविध पुद्गलात्मक करण—साधनके सम्बन्धसे आत्मवीर्यको भी त्रिविध योगरूप कहनेमे कोई बाध नही है ।

अमुक तत्त्व बाह्य है और अमुक आभ्यन्तर है ऐसे विभागके बारेमे स्पष्टीकरण—

ण य बाहिरओ भावो अब्भंतरओ य अत्थि समयम्मि ।
णोइंदियं पुण पडुच्च होइ अब्भंतरविसेसो ।। ५० ।।

अर्थ—सिद्धान्तमे बाह्य और आभ्यन्तर भाव ऐसा भेद नही है, परन्तु नोइन्द्रिय अर्थात् मनके कारण आभ्यन्तरताका विशेष है ।

विवेचन—सुख, दुःख आदिका अनुभव करनेवाला कोई तत्त्व आन्तरिक ही है और रूप आदि गुणोको धारण करनेवाला पुद्गल बाह्य ही कहलाता है। अब यदि पहले कहा, उस तरह आत्मा और पुद्गलका परस्पर प्रवेश माना जाय, तो जीवमे प्रवेशके कारण पुद्गल आभ्यन्तर कहा जाना चाहिए तथा पुद्गलमें प्रवेशके कारण जीव बाह्य कहलाना चाहिए। और यदि ऐसा हो तो बाह्य-आभ्यन्तरताकी जो व्यवस्था है वह जैन शास्त्र मे कैसे घटेगी ?—ऐसी शकाका उत्तर यहाँ दिया गया है।

जैन शास्त्रमे अमुक पदार्थ बाह्य ही है और अमुक नियत पदार्थ आभ्यन्तर ही है ऐसा कोई स्वाभाविक विभाग नही है। उसका ऐसा कहना है कि जो मात्र मनका विषय होनेसे बाह्य इन्द्रियो द्वारा गृहीत नही होता वह आभ्यन्तर और जो बाह्य इन्द्रियोसे ग्रहण किया जा सके वह बाह्य। इस व्याख्याके अनुसार पुद्गल भी आभ्यन्तर हो सकता है और जीव भी बाह्य कहा जा सकता है। जो कर्म आदि पुद्गल बाह्य इन्द्रियो के विषय नही है वे आभ्यन्तर ही है और आत्मा सूक्ष्म होने पर भी पुद्गल द्वारा उसकी चेष्टाएँ बाह्य इन्द्रियोसे जानी जा सकती है, अत देह-धारीके रूपमे वह बाह्य भी है।

प्रत्येक नयकी देशनाके अनुसार क्या-क्या फलित होता है उसका कथन—

दव्वट्ठियस्स आया बंधइ कम्मं फलं च वेएइ ।
बीयस्स भावमेत्तं ण कुणइ ण य कोइ वेएइ ॥ ५१ ॥
दव्वट्ठियस्स जो चेव कुणइ सो चेव वेयए णियमा ।
अण्णो करेइ अण्णो परिभुंजइ पज्जवणयस्स ॥ ५२ ॥

अर्थ—द्रव्यास्तिक नयकी दृष्टिसे आत्मा है, अत वह कर्म बाँधता है और फलका अनुभव करता है। दूसरे पर्यायास्तिक नयकी दृष्टिसे सिर्फ उत्पत्ति है, इससे न तो कोई बन्ध करता है और न कोई फल भोगता है।

द्रव्यास्तिक नयकी दृष्टिसे जो करता है वही अवश्य भोगता है। पर्यायास्तिक नयकी दृष्टिसे करता है अन्य और भोगता है अन्य।

विवेचन—द्रव्यास्तिक नय स्थिर तत्त्व स्वीकार करता है। अत उसकी देशनके अनुसार कर्म बाँधनेवाला और भोगनेवाला कोई एक आश्रय है ऐसा कहनेके लिए तथा जो कर्म बाधता है वही फल भोगता है ऐसा कहनेके लिये अवकाश है, परन्तु पर्यायार्थिक नयकी देशनाके अनुसार तो इतना भी कहनेके लिए अवकाश नही है, क्योकि वह क्षणिकवादी होनेसे उसके मतमे वस्तु उत्पन्न होकर दूसरे ही क्षणमे नष्ट

हो जाती है। अत करनेवाला कौन और भोगनेवाला कौन ? यदि उत्पत्तिकालमें ही कर्तृत्व या भोक्तृत्व मानें, तो भी अधिकमे अधिक इतना ही कहा जा सकता है कि करनेवाला कोई एक है और भोगनेवाला कोई दूसरा है।

पहली देशनामे आश्रय स्थिर होनेसे एकमे कर्तृत्व-भोक्तृत्वकी कल्पनाको स्थान है, फिर भी उसमे एक क्षति यह रहती है कि यदि आत्मा ऐकान्तिक कूटस्थ हो तो वह स्थिर होनेके कारण अवस्थाभेद कैसे प्राप्त कर सकता है ? और वैसा किये बिना कर्तृत्व-भोक्तृत्व कैसे घट सकता है ? इस क्षतिको दूर करनेके लिए उसे दूसरी देशनाका अवस्थाभेदवाद मानना चाहिए। दूसरी देशनामे कोई एक ऐसा स्थिर आश्रय ही नही है कि जहाँ भिन्न-भिन्न समयभावी कर्तृत्व-भोक्तृत्व घटाया जा सके। अत उसे भी स्थिर तत्त्व स्वीकार करनेके लिए पहली देशनाका आश्रय लेना चाहिए। ऐसा होनेसे जैनशास्त्रमे इन दोनो देशनाओको स्थान है।

जैन दृष्टिसे देशना कैसी है इसका कथन—

जे वयणिज्जवियप्पा संजुज्जन्तेसु होन्ति एएसु ।
सा ससमयपण्णवणा तित्थयराऽऽसायणा अण्णा ॥ ५३ ॥

अर्थ—इन दोनो नयोके सयुक्त होनेके कारण वक्तव्य वस्तुको जतानेवाले विचार एव वाक्यके जो प्रकार होते है वे स्वसमय अर्थात् जैन दृष्टिकी देशना है, दूसरी तीर्थंकरकी आशातना है।

विवेचन—द्रव्यास्तिक और पर्यायास्तिक दोनो निरपेक्ष नयोकी देशना वस्तुका सम्पूर्ण स्वरूप प्रकाशित नही करती, अत वह अधूरी और मिथ्या है। इससे उल्टा, एक-दूसरेकी मर्यादाका स्वीकार करके प्रवृत्त होनेवाले इन दोनो नयोकी सापेक्ष दृष्टि वस्तुका सम्पूर्ण स्वरूप प्रकट करती है, अत वह पूर्ण और यथार्थ है। ऐसी दृष्टिमेसे जो विचार या वाक्य फलित होते है वे ही जैन-देशना है। जैसे कि—आत्माके नित्यत्वके बारेमे वह अपेक्षाविशेषमे नित्य भी है और अनित्य भी है, मूर्तत्वके बारेमे वह कथचित् मूर्त है और कथचित् अमूर्त है, शुद्धत्वके बारेमे वह कथचित् शुद्ध और कथचित् अशुद्ध है, परिमाणके बारेमे वह कथचित् व्यापक और कथचित् अव्यापक है, सख्याके बारेमे वह कथचित् एक और कथचित् अनेक है—ऐसे अनेक मुद्दोके विषयमे वाक्य और विचार।

ऐसे समन्वयमूलक विचार और वाक्य यदि प्रमाणमूलक हो, तभी वे जैन देशनामे स्थान पाते है, मात्र भिन्न-भिन्न मतोकी सग्राहक ऐसी प्रमाणविरुद्ध उदारताके कारण नही। अत ऐकान्तिक अथवा ऊपर-ऊपरसे समन्वयसूचक दिखाई देनेवाले

वाक्य भी प्रमाणबाधित होनेसे जैन दृष्टिकी अवज्ञा ही करते हैं। जैसे कि—'आत्मा नित्य ही है' अथवा 'आत्मा अनित्य ही है' ऐसा ऐकान्तिक विचार तथा 'आत्मा स्व-भावसे मूर्त है और पर-भावसे अमूर्त है,' 'स्वाभाविक रूपसे वह अशुद्ध है, परन्तु औपाधिक रूपसे वह शुद्ध भी सम्भव है' आदि मिथ्या अपेक्षावाले समन्वयाभासी विचार।

जैन दृष्टिकी देशनामे अपवादको भी स्थान है इसका कथन—

पुरिसज्जायं तु पडुच्च जाणओ पण्णवेज्ज अण्णयरं।
परिकम्मणाणिमित्तं दाएही सो विसेसं पि ॥ ५४ ॥

अर्थ—अभिज्ञ वक्ता पुरुषसमूहको ध्यानमे रखकर दोमेसे किसी एक नयकी देशना करे, क्योकि वह वक्ता श्रोताकी बुद्धिको सस्कारी बनानेके लिए विशेष भी बताएगा।

विवेचन—जैन दृष्टिके अनुसार यह सच है कि अनेकान्तबोधक वाक्य कहने चाहिए, फिर भी बहुत बार श्रोताओका अधिकार देखकर एक नयाश्रित वाक्य भी कहनेमे कोई बाध नही है। अनेकान्तकुशल वक्ता जब ऐसा देखे कि भिन्न-भिन्न सस्कारवाले अनेक श्रोता है, अथवा ऐसा देखे कि अमुक श्रोता द्रव्यवादको तो अमुक श्रोता पर्यायवादको तो मानता ही है, तब वह अस्वीकृत अशका ही श्रोताके समक्ष प्रतिपादन करता है। इसलिए कभी वह द्रव्यवादी श्रोताके समक्ष मात्र पर्यायका और पर्यायवादी श्रोताके समक्ष मात्र द्रव्यका स्थापन करता है, क्योकि वह ऐसा समझता है कि ऐसा करनेसे श्रोताकी एक देशना तरफ झुकी हुई एकागी बुद्धि दूसरी तरफके ज्ञानसे सस्कारी होगी और इसके परिणामस्वरूप वह अनेकान्त-दृष्टिका स्पर्श करेगी। ऐसी समझसे की गई एक नयकी देशनाको भी जैनशास्त्रमे स्थान है ही।

प्रथम काण्ड समाप्त

द्वितीय काण्ड

दर्शन और ज्ञानका पृथक्करण—

जं सामण्णग्गहणं दंसणमेयं विसेसियं णाणं।
दोण्ह वि णयाण एसो पाडेक्कं अत्थपज्जाओ॥ १॥

अर्थ—सामान्यका जो ग्रहण वह दर्शन है और विशेषका ग्रहण ज्ञान है। ये दोनो इन दो नयोके अलग-अलग अर्थबोध है।

विवेचन—यहाँ जैनशास्त्रसिद्ध दो बाते कही है. १ दर्शन एव ज्ञानकी व्याख्या, और २ उनका नयोमे बँटवारा। किसी भी वस्तुका बोध करनेमे प्रवृत्त चेतना उस वस्तुको सामान्यरूपसे अथवा विशेषरूपसे ग्रहण करती है। उसका वह सामान्यग्रहण जैन परिभाषामे दर्शनके नामसे तथा विशेषग्रहण ज्ञानके नामसे प्रसिद्ध है।

सामान्यग्राही दर्शन नामका व्यापार द्रव्यास्तिक दृष्टिका प्रेरक है और विशेष-ग्राही ज्ञान नामका व्यापार पर्यायास्तिक दृष्टिका प्रेरक है। अतएव दर्शन द्रव्या-स्तिक नयमे तथा ज्ञान पर्यायास्तिक नयमे माना जाता है।

एक ही विषय के बारेमे दर्शनकालमे तथा ज्ञान कालमे क्या-क्या अन्तर होता है इसका कथन—

दव्वट्ठिओ वि होऊण दंसणे पज्जवट्ठिओ होइ।
उवसमियाईभावं पडुच्च णाणे उ विवरीयं॥ २॥

अर्थ—आत्मा दर्शनके समय द्रव्यास्तिक अर्थात् सामान्यरूपसे भासमान होने पर भी औपशमिक आदि भावोकी अपेक्षासे पर्यायास्तिक अर्थात् विशेषरूप भी होता है। ज्ञानके समय तो इससे उल्टा है, अर्थात् विशेषरूपसे भासित होने पर भी वह सामान्यरूप होता है।

विवेचन—अन्य विषय हो या आत्मा हो, पर वे सब सामान्य-विशेष उभयात्मक होते है। इससे प्रश्न होता है कि जब चेतना उस विषयको सामान्यरूपसे ग्रहण

करती है और जब उसीको विशेष रूपसे ग्रहण करती है, तब इन दो स्थितियोंके बीच कुछ अन्तर होता है या नहीं ? इसका उत्तर यहाँ दिया गया है।

दर्शन और ज्ञानकालमें ग्राह्य वस्तुमें कुछ खास फर्क नहीं पड़ता। फर्क पड़ता हो तो वह इतना ही कि जब अमुक विषय दर्शनमें सामान्यरूपसे भासित होता है तब उसका विशेष रूप कायम होनेपर भी वह उस समय भासित नहीं होता। इसी तरह ज्ञानकालमें विशेष रूप भासित होता है और सामान्य रूप कायम होनेपर भी उस समय वह भासित नहीं होता। उदाहरणार्थ आत्माको ले। वह जब सामान्य-ग्रहणमें चैतन्य आदि सामान्य स्वरूपसे भासित होता है, उस समय भी वह औप-शमिक, क्षायिक आदि भिन्न-भिन्न विशेषोंकी अपेक्षासे विशेषात्मक तो होता ही है; मात्र वे विशेष उस समय भासमान नहीं होते। इससे उल्टा, जब उक्त विशेष विशेषग्रहण कालमें भासमान होते हैं तब भी चैतन्य आदि सामान्य रूप तो होता ही है, पर उस समय वह भासमान नहीं होता। साराश यह है कि दर्शनकालमें विषयका विशेष अश अभासमान होनेसे गौण होता है, तो ज्ञानकालमें उसका सामान्य अश गौण होता है।

दर्शन और ज्ञानके समयभेदकी मर्यादाका कथन--

मणपज्जवणाणंतो णाणस्स य दरिसणस्स य विसेसो।
केवलणाणं पुण दंसणं ति णाणं ति य समाणं॥ ३॥

अर्थ--ज्ञान और दर्शनका विश्लेष अर्थात् कालभेद मनःपर्याय-ज्ञान तक है, परन्तु केवलज्ञानके विषयमें दर्शन और ज्ञान ये दोनो समान है अर्थात् ये दोनों समकाल हैं अथवा एक है।

विवेचन---दर्शन और ज्ञानकी पूर्वोक्त (प्रस्तुत काण्डकी प्रथम गाथामें आई हुई) पारिभाषिक व्याख्या देखनेपर तथा दर्शनमें विशेषका और ज्ञानमें सामान्यका भान नहीं होता ऐसा कथन देखनेपर तीन प्रश्न होते हैं (१) क्या दर्शन और ज्ञान ये दोनो एक ही चेतनाके भिन्न-भिन्न समयभावी व्यापार है ? या (२) क्या वे दोनो एकसमयभावी व्यापार है ? या (३) क्या वे एक ही चेतना-व्यापारके ग्राह्य सामान्य-विशेषरूप विषयके भेदकी अपेक्षासे दो भिन्न-भिन्न नाम है ?

इन प्रश्नोका उत्तर देनेके लिए ग्रन्थकार पहले जिसमे मतभेद नहीं है ऐसी बात रखते हैं और बादमें मतभेदवाली बातके बारेमें अपना सिद्धान्त उपस्थित करते हैं।[1]

---

१ देखो तत्त्वार्थसूत्र अ २, सू. ९।

जैन शास्त्रमें पाँच ज्ञान और चार दर्शन प्रसिद्ध हैं। इनमेंसे मनःपर्यायज्ञान तकके चार ज्ञान दर्शनोंसे भिन्न समयमें होनेवाले हैं और इसीलिए वे दर्शनकी अपेक्षा भिन्न ही हैं। इतनी बात तो निर्विवाद है। अतः इस परसे ऐसा फलित हुआ कि छाद्मस्थिक अर्थात् सावरण उपयोगोंमे ज्ञान और दर्शन दोनो उपयोग परस्पर भिन्न हैं, इतना ही नही, वे भिन्न-भिन्न समयवर्ती भी हैं। परन्तु निरावरण उपयोगके विषयमें ग्रन्थकार प्रचलित परम्परासे अपना मतभेद प्रदर्शित करते हुए कहते है कि केवलोपयोगके बारेमे ऐसा नही है। उसमे तो ज्ञान कहो या दर्शन कहो, दोनोंका अर्थ तुल्य ही है। इस कथनका फलितार्थ यह है कि निरावरण चेतनाका उपयोग छाद्मस्थिक उपयोगकी अपेक्षा भिन्न प्रकारका होता है। वह सामान्य एव विशेष दोनोका ग्रहण करता है और इसीलिए सामान्यग्रहण अंशको लेकर वह दर्शन तथा विशेषग्रहण अशको लेकर वही ज्ञान कहलाता है। इससे फलित यह हुआ कि कैवल्य अवस्थामें दर्शन और ज्ञान ये दोनो उपयोग न तो भिन्न-भिन्न समयमें होनेवाले है और न एक ही समय मे भिन्न-भिन्न होनेवाले।

समालोचनाके लिए आगमिक क्रमवादी पक्षका उल्लेख—

केइ भणंति 'जइया जाणइ तइया ण पासइ जिणो' त्ति।
सुत्तमवलम्बमाणा तित्थयरासायणाभीरू ॥ ४ ॥

अर्थ—तीर्थंकरकी आशाननासे भयभीत होनेवाले और इसीलिए सूत्रका अवलम्बन लेनेवाले कई आचार्य ऐसा कहते है कि सर्वज्ञ जब जानते है अर्थात् विशेषका ग्रहण करते हैं तब दर्शन अर्थात् सामान्यका ग्रहण नही करते।

विवेचन—ग्रन्थकार केवलोपयोगके बारेमे पूर्व-प्रचलित दो पक्षोमेसे पहले क्रमवाद पक्षको यहाँ लेते हैं और वह क्या मानता है यह कहते हैं। क्रमवादी मानता है कि वस्तुस्थिति ही ऐसी है कि चेतना सामान्य और विशेषका ग्रहण एकसाथ कर ही नही सकती। अतः वह चाहे छाद्मस्थिक हो या निरावरण, उसके दर्शन और ज्ञान दोनो व्यापार क्रमवर्ती ही होंगे। ऐसा कहनेमें क्रमवादीको खास आधार सूत्रपाठका है। सूत्रके उपदेशक तीर्थंकरोके मन्तव्य का लोप होनेसे उनकी आशातना न हो इस भयसे सूत्रका जो परम्परागत शब्दार्थ चला आता है, उसके आधार पर वे अपना पक्ष प्रस्थापित करते हैं। अपने पक्षकी पुष्टिमें वे कतिपय सूत्र उपस्थित करते है। जैसे कि—

"केवली णं भंते ! इमं रयणप्पभ पुढविं आगारेहिं हेतूहिं उवमाहिं दिट्ठतेहिं वण्णेहि संठाणेहिं पमाणेहिं पडोयारेहिं, जं समयं जाणति त समयं पासइ ? जं समय पासइ तं समय जाणइ ?"

"गोयमा ! तो तिणट्ठे समट्ठे ।"

"से केणट्ठेणं भते ! एव वुच्चति—केवली णं इमं रयणप्पभं पुढविं आगारेहिं ज समयं जाणति नो तं समयं पासति, जं समयं पासति नो त समयं जाणति ?"

"गोयमा ! सागारे से णाणे भवति, अणागारे से दसणे भवति । से तेणट्ठेण जाव णो त समय जाणति । एव जाव अहे सत्तम । एव सोहम्मकप्प जाव अच्चुय गेविज्जगविमाणा अणुत्तरविमाणा ईसीपब्भारं पुढविं परमाणुपोग्गल दुपदेसिय खध जाव अणतपदेसिय खंधं ॥"

—प्रज्ञापना पद ३०, सूत्र ३१९, पृष्ठ ५३१

प्रश्न—हे भगवन् ! केवली आकार, हेतु, उपमा, दृष्टान्त, वर्ण, सम्थान, प्रमाण और प्रत्यवतारोंके द्वारा इस रत्नप्रभा पृथ्वीको जिस समय जानता है उस समय देखता है ? और जिस समय देखता है उस समय जानता है ?

उत्तर—हे गौतम ! यह अर्थ समर्थ नही है ।

प्रश्न—हे भगवन् ! केवली आकार आदि द्वारा इस रत्नप्रभा पृथ्वीको जिस समय जानता है उस समय देखता नही है और जिस समय देखता है उस समय जानता नही है, इसका क्या कारण ?

उत्तर—हे गौतम ! उसका ज्ञान साकार है और उसका दर्शन निराकार है । अत वह जिस समय जानता है उस समय देखता नही है, और जिस समय देखता है उस समय जानता नही है । इस प्रकार अध सप्तमी पृथ्वी तक, सौधर्म कल्पसे लेकर ईषत्प्राग्भारपृथ्वी तक तथा परमाणु पुद्गलसे अनन्तप्रदेश स्कन्ध तक जाननेका और देखनेका क्रम समझना चाहिए ।

भगवतीसूत्रके १४वे शतकके १०वे उद्देशमे तथा १८वे शतकके ८वे उद्देशमे इस प्रकारके अनेक सूत्र आते है ।

समालोचनाके लिए सहवादी पक्षका उल्लेख—

केवलणाणावरणक्खयजायं केवलं जहा णाणं ।
तह दंसणं पि जुज्जइ णियआवरणक्खयस्संते ॥ ५ ॥
भण्णइ खीणावरणे जह मइणाणं जिणे ण सम्भवइ ।
तह खीणावरणिज्जे विसेसओ दंसणं नत्थि ॥ ६ ॥
सुत्तम्मि चेव साई-अपज्जवसियं ति केवलं वुत्तं ।
सुत्तासायणभीरूहि तं च दट्ठव्वयं होइ ॥ ७ ॥
संतम्मि केवले दंसणम्मि णाणस्स संभवो णत्थि ।
केवलणाणम्मि य दंसणस्स तम्हा सणिहणाइं ॥ ८ ॥

अर्थ—केवलज्ञानावरणके क्षयसे उत्पन्न होनेवाले केवलज्ञानका जिस तरह होना घटता है, उसी तरह अपने आवरणके क्षयके पश्चात् केवलदर्शनका होना भी घटता है ।

कहते है कि क्षीण-आवरणवाले केवलीमें जैसे मतिज्ञान सम्भव नही होता, वैसे ही क्षीण-आवरणवालेमे कालभेदसे दर्शन नहीं है ।

केवल सादि-अनन्त है ऐसा सूत्रमें ही कहा है। सूत्र की आशाताना से डरनेवालेको उस सूत्र पर भी विचार करना चाहिए।

केवलदर्शन होता है तब ज्ञानका सम्भव नहीं है तथा केवलज्ञानके समय दर्शनका भी सम्भव नही है। अत. ये दोनो अन्तवाले ठहरते है ।

विवेचन—मुख्यत युक्तिबलका अवलम्बन लेनेवाला एक दूसरा सहवादी पक्ष था। उसीको ग्रन्थकार यहाँ क्रमपक्षके सामने समालोचकके रूपमे रखकर उसके पाससे क्रमवादके विरुद्ध कहलाते है । यहाँ सहवादी क्रमवादीके सामने तीन दलीलें प्रस्तुत करता है। वे इस प्रकार है—

(१) जिस कारण अमुक क्षण मे केवलज्ञान है उसी कारण उसी क्षण में केवलदर्शन होना ही चाहिए। केवलज्ञान होनेका कारण यदि उसके आवरणका क्षय है, तो आवरणक्षय समान होनेसे उसी क्षणमे केवलदर्शन क्यों नहीं हो सकता? सच बात तो यह है कि जैसे वस्तुस्वभावके कारण अनावृत सूर्य एक ही साथ गरमी और प्रकाश फैलाता है, वैसे ही निरावरण चेतना एक ही साथ ज्ञान एव दर्शन क्यों न प्रकट

करे ? (२) समग्र ज्ञानावरण कर्मों का क्षय करनेपर भी जैसे केवलीमें मति, श्रुत आदि ज्ञान केवलज्ञानसे भिन्न सम्भव नही है, वैसे ही दर्शनावरण कर्मका क्षय होनेपर भी केवलीमें ज्ञानसे भिन्न समयमे दर्शन नही हो सकता। (३) आगममें केवलज्ञान और केवलदर्शन दोनोको सादि-अनन्त कहा है और क्रमवादके अनुसार तो वे सादि-सान्त सिद्ध होते हैं, क्योकि क्रमवादमें केवलदर्शनके समय केवलज्ञानका और केवलज्ञानके समय केवलदर्शनका अभाव ही होता है। अत उनके मतमे आगमविरोध स्पष्ट है। वह आगम इस प्रकार है—

"केवलणाणी णं पुच्छा।"

"गोयमा ! सातिए अपज्जवसिए"।

—प्रज्ञापना पद १८, सूत्र २४१, पृ ३८९

प्रश्न—हे भगवन् ! केवलज्ञानी केवलज्ञानी इस तरह कालकी दृष्टिसे कहाँसे कहाँ तक कहा जा सकता है ?

उत्तर—हे गौतम। केवलज्ञानी कालकी अपेक्षासे सादि और अपर्यवसित—अविनाशी है।

विरोधी पक्षको प्रश्न पूछकर सिद्धान्तका उपन्यास—

दंसणणाणावरणक्खए समाणम्मि कस्स पुव्वअरं।
होज्ज समं उप्पाओ हंदि दुए णत्थि उवओगा ॥ ९ ॥

अर्थ—दर्शन और ज्ञानके आवरणका क्षय तुल्य होने पर भी दोनोमेसे प्रथम किसकी उत्पत्ति होगी ? ऐसा कोई पूछे तो जवाब यही देना पड़ेगा कि दोनोकी साथमे उत्पत्ति होगी, तो उन्हे भी जानना चाहिए कि दो उपयोग नही है।

विवेचन—एकोपयोगवादी सिद्धान्ती सहवादीकी दलीलसे क्रमवादीको पराजित करनेके लिए प्रश्न पूछता है कि यदि केवलज्ञानावरण तथा केवलदर्शनावरण दोनोंका क्षय एक साथ ही हुआ है, तो प्रतिबन्धकका अभाव दोनोके लिए समान होने पर तुम पहले किसकी उत्पत्ति मानोगे ? पहले केवलज्ञान और पीछे केवलदर्शन होगा ऐसा कहनेका कोई कारण नही है, फिर भी यदि तुम क्रमवादी ऐसा कहोगे, तो तुम्हारा प्रतिपक्षी ऐसा क्यो नही कहेगा कि पहले केवलदर्शन और पीछे केवलज्ञान प्रकट होगा। अत तुम इस प्रश्नका स्पष्टीकरण करो कि दोनो उपयोगोंका कारण आवरणक्षय एक ही समयमें होनेपर भी उत्पत्तिमे क्रमका कारण क्या है ?

क्रमवादकी यह कठिनाई सहवादमें नही है, क्योंकि वह इन दोनों उपयोगोंकी उत्पत्ति एक ही क्षणमें तथा एक ही साथ स्वीकार करता है। फिर भी सहवाद भी युक्तिसंगत नही है, ऐसा सूचित करनेके लिए सिद्धान्ती उससे कहता है कि भले तुम्हारे पक्षमे क्रमवादकी तरह उत्पत्तिक्रमका दोष न हो, तथापि तुम जो उपयोग-भेद मानते हो वही गलत है। वस्तुत. केवलदशामें एक ही उपयोग है।

विरोधी पक्षके ऊपर सिद्धान्ती द्वारा दिये गये दोष—

जइ सव्वं सायारं जाणइ एक्कसमएण सव्वण्णू।
जुज्जइ सया वि एवं अहवा सव्वं ण याणाइ ॥ १० ॥
परिसुद्धं सायारं अवियत्तं दंसणं अणायारं।
ण य खीणावरणिज्जे जुज्जइ सुवियत्तमवियत्तं ॥ ११ ॥
अद्दिट्ठं अण्णायं च केवली एव भासइ सया वि।
एगसमयम्मि हंदी वयणवियप्पो न संभवइ ॥ १२ ॥
अण्णायं पासंतो अद्दिट्ठं च अरहा वियाणंतो।
किं जाणइ किं पासइ कह सव्वण्णु त्ति वा होइ ॥ १३ ॥
केवलणाणमणंतं जहेव तह दसणं पि पण्णत्तं।
सागारग्गहणाहि य णियमपरित्तं अणागारं ॥ १४ ॥

अर्थ—यदि सर्वज्ञ एक समयमे सर्व साकार जानता है, तो उस तरह सदा ही होना चाहिए अथवा सब नही जानता है।

साकार अर्थात् ज्ञान परिशुद्ध—व्यक्त होता है, जब कि अनाकार अर्थात् दर्शन अव्यक्त होता है। परन्तु क्षीण-आवरणवालेमे व्यक्त एव अव्यक्तका भेद नही घट सकता।

केवली ही सदा अदृष्ट और अज्ञात बोलता है ऐसा प्राप्त होनेसे केवलीमे एक समयमे ही ज्ञात एव दृष्ट वस्तुका उपदेश देनेकी मान्यता नहीं घटेगी।

अज्ञातको देखनेवाला और अदृष्टको जाननेवाला केवली क्या जाने और क्या देखे तथा वह सर्वज्ञ कैसे हो सकता है ?

जैसे केवलज्ञानको वैसे ही केवलदर्शनको भी अनन्त कहा है, परन्तु अनाकार अर्थात् दर्शन साकार ग्रहणकी अपेक्षा नियमतः अल्प विषयक ही ठहरेगा।

विवेचन--सिद्धान्ती ग्रन्थकार अपना एकोपयोगवाद सिद्ध करनेके लिए दोनो पक्षोंके ऊपर पाँच दोष एकसे देते है। वे इस प्रकार है—

१ क्रमवाद हो या सहवाद, दोनोमे उपयोगभेदकी मान्यता समान होनेसे दोनोको इतना तो मानना ही पडेगा कि केवलज्ञानका विषय मात्र विशेष और केवलदर्शनका विषय मात्र सामान्य है, अर्थात् इन दोनो वादोमें केवलज्ञान और केवलदर्शनरूप दोनो उपयोग, मति आदि ज्ञान की भाँति, सम्पूर्ण विषयमेंसे सिर्फ एक-एक भागके ग्राहक होते है। इतना मानने पर इन दोनो वादोमे कोई भी एक उपयोग सर्वग्राहक न होनेसे इनके मतमे सर्वज्ञत्व और सर्वदर्शित्व किस तरह घट सकेगा? अब यदि इसे घटानेके लिए प्रत्येक समयमे सम्पूर्ण जगत्को हरएक उपयोग सामान्य-विशेष उभयरूपसे ग्रहण करता है ऐसा माना जाय, तो सर्वदाके वास्ते सर्वज्ञत्व एव सर्वदर्शित्व घटानेके लिए इसी प्रकार एक उपयोग द्वारा सर्व वस्तुओका ग्रहण मानना ही पडेगा, और ऐसा माननेपर एकोपयोगवादका स्वीकार हो जायगा।

२ साकार ग्रहण और निराकार ग्रहणमे अतर इतना ही है कि पहला व्यक्त होता है, जबकि दूसरा अव्यक्त। अब यदि केवलीमे आवरणका सर्वथा विलय हुआ है, तो उसके उपयोगमे व्यक्तता और अव्यक्तताका भेद कैसे हो सकता है? क्योकि यह भेद तो आवरणकृत है।

३ आगममे केवलीके बारेमे कहा गया है कि वह प्रत्येक समयमे ज्ञात एव दृष्ट वस्तुका ही कथन करता है। यह आगमकथन क्रमवाद या सहवाद किसी भी एक पक्षमे सगत नही हो सकता। क्रमवादमे अमुक समयमे जो ज्ञात है वह उस समयमे दृष्ट नही है और दूसरे समयमे जो दृष्ट है वह ज्ञात नही है। अतः केवली जो जो भाषण करेगा वह अपने बोधके अनुसार ही करेगा। ऐसा होनेसे उसका भाषण अज्ञात और अदृष्टका होगा। सहवादमे दोनो उपयोग साथ ही प्रवृत्त होते है, तो भी दोनोकी विषयमर्यादा सामान्य एव विशेष रूपमे विभक्त होनेसे जो अश ज्ञात होगा वह दृष्ट नही होगा और जो दृष्ट होगा वह ज्ञात नही होगा। अत इस वादके अनुसार भी केवली सर्वदा अदृष्ट एव अज्ञातभाषी ही सिद्ध होगा।

४ उपयोगभेद होनेसे क्रमवाद या सहवादमें ऐसा मानना पडेगा कि केवली अज्ञात अशको देखता है और अदृष्ट अशको जानता है। ऐसा माननेपर यही फलित

होगा कि एक-एक भाग तो दोनों उपयोगोंका विषय हुए बिना रह ही जाता है, तो फिर सबको जाननेसे सर्वज्ञत्व और सबको देखनेसे सर्वदर्शित्व जो माना जाता है वह कैसे घटेगा ? इससे तो उल्टा केवलीमें किञ्चिज्ज्ञत्व और किञ्चिद्दर्शित्व प्राप्त होगा।

५. शास्त्रमे ज्ञान और दर्शन दोनोको अनन्त कहा है। अब यदि दोनों वादोंके अनुसार उपयोगभेद माना जाय तो उपर्युक्त शास्त्रीय कथन सगत नही हो सकेगा, क्योंकि अनाकारग्राही दर्शन साकारग्राही ज्ञानकी अपेक्षा अवश्य परिमित विषय-वाला ही होगा।

एकोपयोग पक्षमे एक ही उपयोग सम्पूर्ण जगत्को सामान्य-विशेष उभय-रूपसे प्रतिक्षण ग्रहण करता है। अतएव वही केवलज्ञान और वही केवलदर्शन कहलायेगा, जिससे उपर्युक्त एक भी दोष उसमे नही आता।

क्रमवादी पक्ष द्वारा किया गया बचाव और उसका सिद्धान्ती द्वारा दिया गया उत्तर—

भण्णइ जह चउणाणी जुज्जइ णियमा तहेव एयं पि।
भण्णइ ण पंचणाणी जहेव अरहा तहेयं पि॥ १५॥

अर्थ—क्रमवादी कहता है कि जिस तरह चतुर्ज्ञानी सिद्ध होता है उसी तरह यह भी समझना। सिद्धान्ती कहता है कि जिस तरह सर्वज्ञ पचज्ञानी नही कहलाता उसी तरह यह भी समझना।

विवेचन—क्रमवादी कहता है कि जैसे कोई चार ज्ञानवाला छद्मस्थ क्रम से उपयोगमे प्रवृत्त होने पर भी चारो ज्ञानकी शक्ति सतत होनेके कारण सादि-अपर्यव-सित ज्ञानवाला, सदा ज्ञानोपलब्धिवाला, व्यक्त बोधवाला, ज्ञातदृष्टभाषी तथा ज्ञाता एव द्रष्टा कहलाता है, वैसे ही उपयोगका क्रम होनेपर भी केवली भी शक्तिकी अपेक्षासे अपर्यवसित ज्ञान-दर्शनवान्, सदा सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, व्यक्तबोधवान्, ज्ञात-दृष्टभाषी, ज्ञाता एव द्रष्टा कहलायगा। तो फिर उक्त दोष क्रमवादमे कैसे सम्भव हो सकते है ?

क्रमवादीके इस बचावका खण्डन करता हुआ सिद्धान्ती कहता है कि शक्तिकी अपेक्षासे केवलीमे विचार करना ठीक नही है; अन्यथा शक्ति होनेपर भी केवली पचज्ञानी क्यो नहीं कहलाता ? इससे ऐसा मानना चाहिए कि सादि-अपर्यवसित

ज्ञान तथा सर्वज्ञ-सर्वदर्शित्व आदिका केवलीमें जो व्यवहार होता है वह लब्धि अर्थात् शक्तिकी अपेक्षासे नही, परन्तु उपयोगकी अपेक्षासे ही घटाना चाहिए।

पूर्वोक्त दृष्टान्तका विशदीकरण और उपसहार—

पण्णवणिज्जा भावा समत्तसुयणाणदंसणाविसम्रो।
ओहिमणपज्जवाण उ अण्णोण्णविलक्खणा विसम्रो ॥ १६ ॥
तम्हा चउव्विभागो जुज्जइ ण उ णाणदंसणजिणाणं।
सयलमणावरणमणंतमक्खयं केवलं जम्हा ॥ १७ ॥

अर्थ—समस्त श्रुतज्ञानरूप बुद्धिका विषय शब्दप्रतिपाद्य भाव हैं और अवधि तथा मनःपर्यायका विषय परस्पर विलक्षण ऐसे पदार्थ हैं।

अतएव जिनोंके ज्ञान-दर्शनमें चार ज्ञानकी भाँति विभाग नहीं घटता, क्योकि वह केवल, सर्वज्ञ, अनावरण, अनन्त और अक्षय है।

विवेचन—छठी गाथामे कहा गया है कि यदि केवलज्ञान और केवलदर्शनको मति आदिकी भाँति क्रमवर्ती माना जाय, तो वे अनुक्रमसे मात्र विशेषग्राही और मात्र सामान्यग्राही होनेसे असर्व-विषयक सिद्ध होगे, और जो उपयोग असर्व-विषयक हो वह तो क्षीण-आवरणवालेमे, मति आदि की भाँति, सम्भव ही नही हो सकता।

इस कथनमे मति आदि के दृष्टान्त द्वारा क्रमवर्ती केवलोपयोगके असर्वार्थपनेकी आपत्ति सर्वज्ञमे दी गई है। अत इस दृष्टान्तमे असर्वार्थपना किस तरह है यह बतलानेके लिए ग्रन्थकार कहते है कि मति और श्रुतका विषय सिर्फ अभिलाप्य पदार्थ है, क्योंकि वे दोनो ज्ञान परिमित पर्यायसहित ही सर्व द्रव्योको जान सकते है। इसी तरह अवधिका विषय सिर्फ पुद्गल और मन पर्यायका विषय मात्र चिन्तनोपयोगी मनोद्रव्य है, सभी द्रव्य नही। अत चारो क्रमवर्ती ज्ञानोका परिमितविषयग्राहित्व स्पष्ट है।

असर्वार्थताके कारण तथा क्षयोपशम आदि कारणभेदसे मति आदि चार ज्ञानोंमे जैसा परस्पर भेद है वैसा केवलज्ञान और केवलदर्शनमे क्रमसहित या क्रमरहित किसी भी तरहका परस्पर भेद नही हो सकता, क्योकि वह न तो है असर्वार्थ और न उसमें है क्षयोपशम आदि उक्त कारणभेद। अतएव सामान्य-विशेष उभयग्राही एक ही केवलबोध मानना चाहिए।

आगमविरोधका परिहार—

परवत्तव्वयपक्खा अविसिट्ठा तेसु तेसु सुत्तेसु ।
अत्थगईअ उ तेसिं वियंजणं जाणओ कुणइ ॥ १८ ॥

अर्थ—उन उन सूत्रोमे परवक्तव्यके पक्ष जैसे ही अभ्युपगम अर्थात् वचन भासित होते हैं, अत ज्ञाता पुरुष अर्थकी सगतिके अनुसार ही उन सूत्रोकी व्याख्या करे ।

विवेचन—पूर्वोक्त युक्तियोंसे केवलज्ञान और केवलदर्शनका अभेद तो सिद्ध होता है, पर सूत्रके पाठोंके साथ विरोध आता है उसका क्या करना ? क्योंकि केवलीमें उपयोगभेदके प्रतिपादक सूत्र स्पष्ट है'। इस शकाका निवारण करनेके लिए ग्रन्थकार कहते है कि यदि एक बार वस्तु प्रमाणसे अमुकरूप सिद्ध होती हो और पीछेसे कुछ शास्त्रविरोध दिखाई पडे, तो वैसे स्थान पर शास्त्रकी व्याख्या अन्य प्रमाणोके साथ विरोध न आये इस तरह करनी चाहिए । प्रस्तुतमे अनेक युक्ति-प्रमाणोसे अभेद सिद्ध होनेसे भेदप्रतिपादक शास्त्रीय वाक्योंकी व्याख्या कुशल पुरुष युक्ति-प्रमाणोको बाध न आये इस तरह करे । इसलिए जिन-जिन सूत्रोमे ज्ञान-दर्शनके भेदबोधक वचन है वे सब कणाद आदि अन्य दर्शनोके मन्तव्य जैसे है । वे अन्य दर्शन असर्वज्ञमे ज्ञानोका जैसा अयुगपत्पना मानते है, वैसा ही भाव जैन सूत्रोमे भी वर्णित है। इससे 'ज समय जाणइ[1]' आदि सूत्रमे केवलीपदका सर्वज्ञ अर्थ न करके श्रुतकेवली, अवधिकेवली और मन पर्यायकेवली ऐसा त्रिविध अपूर्ण-केवली अर्थ करना चाहिए। ऐसा अर्थ करनेपर उक्त सूत्रका भाव यो फलित होता है कि उक्त तीनो केवली जिस समय दर्शन करते है उस समय ज्ञान नही करते और जिस समय ज्ञान करते है उस समय दर्शन नही करते ।

अपने पक्षमें आनेवाली शकाका सिद्धान्ती द्वारा समाधान—

जेण मणोविसयगयाण दंसणं णत्थि दव्वजायाण ।
तो मणपज्जवणाणं णियमा णाणं तु णिद्दिट्ठं ॥ १९ ॥

अर्थ—चूंकि मन पर्यायज्ञानके विषयभूत द्रव्यसमूहोका दर्शन नही है, अतः मन.पर्यायज्ञानको नियमसे ज्ञान ही कहा है ।

---

१. इस सूत्रके लिए देखो इस काण्डकी गा. ४ ।

विवेचन—यदि केवलोपयोग एक ही हो और उस एकमें ही ज्ञान-दर्शन दोनों शब्दोंका व्यवहार माना जाय, तो एक ही मन पर्याय-उपयोगमे भी इन दो शब्दोंका व्यवहार स्वीकार करके, केवलज्ञान और केवलदर्शनके भेदव्यवहारकी भाँति, मन.-पर्यायज्ञान और मन.पर्यायदर्शन ऐसा भेदव्यवहार क्यो नही किया गया ? इस आशंकाका उत्तर यहाँ सिद्धान्ती देता है।

मन:पर्याय-उपयोगका विषय मनमे उपयोगी होनेवाले मनोवर्गणाके स्कन्ध है। यह उपयोग अपने ग्राह्य स्कन्धोको विशेषरूपसे ही जानता है, सामान्यरूपसे नही। मन पर्याय द्वारा उक्त द्रव्योंका सामान्यरूपसे भान नही होता। इसीलिए शास्त्रमें उसे ज्ञान कहा है, दर्शन नही। केवलोपयोगके बारेमे इससे उल्टा है। वह एक होने पर भी ज्ञेय पदार्थोंको सामान्य और विशेष उभयरूपसे ग्रहण करता है। इसलिए उसमे दर्शन और ज्ञान दोनो शब्दोका व्यवहार सगत है।

एक होने पर भी भिन्न कहनेका दूसरा कारण—

चक्खु-अचक्खु-अवहिकेवलाण समयम्मि दंसणवियप्पा ।
परिपढिया केवलणाणदंसणा तेण ते अण्णा ॥ २० ॥

अर्थ—शास्त्रमे चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवल रूपसे दर्शनके भेद कहे गये है, अत. केवलज्ञान और केवलदर्शन भिन्न हैं ।

विवेचन—युक्तिसे केवलोपयोग एक ही है ऐसा सिद्ध होनेपर भी केवलज्ञान और केवलदर्शन दोनो भिन्न हैं ऐसी मान्यताके रूढ होनेका कारण सिर्फ शास्त्र-व्यवहार ही है। जैन शास्त्रमे दर्शनके चार भेदोमे केवलदर्शन भिन्न गिनाया गया है। यदि वस्तुत. भेद न होता तो शास्त्रकारोने ही केवलज्ञान और केवलदर्शन को अलग-अलग क्यो कहा ?—ऐसा प्रश्न हो सकता है, परन्तु इसका समाधान दिया जा चुका है और वह यह कि सामान्य और विशेष इन दो ग्राह्य अशोके भेदकी अपेक्षासे एक ही ग्राहक उपयोगमे दर्शन और ज्ञान शब्दका अलग-अलग व्यवहार शास्त्रकारोने किया है, न कि ग्राहक उपयोगके भेदकी अपेक्षासे।

एकदेशीय मतका वर्णन—

दंसणमोग्गहमेत्तं 'घडो' त्ति णिव्वण्णणा हवइ णाणं ।
जह एत्थ केवलाण वि विसेसणं एत्तियं चेव ॥ २१ ॥

दंसणपुव्वं णाणं णाणणिमित्तं तु दंसणं णत्थि ।
तेण सुविणिच्छियामो दंसणणाणा ण[1] अण्णत्तं ॥ २२ ॥

अर्थ—जिस तरह अवग्रह मात्र दर्शन है और 'यह घट है' ऐसी निश्चयात्मक वर्णना अर्थात् मति ज्ञान है, उसी तरह यहाँ केवलज्ञान और केवलदर्शनके बारेमें भी उतना ही विशेष है ।

ज्ञान दर्शनपूर्वक होता है, परन्तु दर्शन ज्ञानपूर्वक नही होता । अतः हम यथार्थरूपसे निश्चय करते है कि दर्शन और ज्ञानका (केवलमे) भेद नही है ।

विवेचन—कोई दूसरा वादी केवलज्ञान और केवलदर्शनमे अभेद मानता है, परन्तु अभेदकी सिद्धिके लिए उसने जो दृष्टान्त दिया है वह सिद्धान्तीको मान्य नहीं है। अत उसका निराकरण करनेके लिए सिद्धान्ती यहाँ एकदेशीके मतका उल्लेख करता है।

एकदेशी कहता है कि जैसे मति-उपयोग एक होने पर भी उसका प्राथमिक अवग्रह अर्थात् निर्विकल्प भाग ही दर्शन है और बादका ईहा आदि सविकल्प भाग ज्ञान है, अर्थात् वस्तुत मति नामक एक ही सुदीर्घ उपयोग-व्यापारमे पूर्ववर्ती अस्पष्टाश और उत्तरवर्ती स्पष्टाशके कारण ही दर्शन और ज्ञान ऐसे दो शब्द प्रयुक्त होते हैं, वैसे ही यहाँ केवलके बारेमे समझना चाहिए। अर्थात् केवलोपयोग एक ही है, परतु भिन्न-भिन्न ग्राह्यकी अपेक्षासे वह दर्शन और ज्ञान जैसे भिन्न-भिन्न नामसे व्यवहृत होता है।

केवलीमे ज्ञान-दर्शनका अभेद वास्तविक माना जाय, तो एक शास्त्रीय नियमका बाध आता है और वह यह कि सर्वत्र ज्ञानको दर्शनके बाद ही माना है। अब यदि ज्ञान और दर्शन दोनों भिन्न हो, तो केवलीमे भी इसी क्रमके अनुसार दर्शनके पश्चात् ज्ञानकी उत्पत्ति माननी पडेगी, परतु ऐसा नही माना जा सकता, क्योकि सभी लब्धियाँ साकार-उपयाग अर्थात् ज्ञानके रूपमे ही प्रथम प्राप्त होती हैं। अत केवल-लब्धिका आरम्भ भी साकारोपयोगसे होगा, और वैसा हो तो ज्ञानपूर्वक दर्शन मानना पडेगा। यह तो अस्वाभाविक है। स्वभाव तो ऐसा है कि कोई भी ज्ञाता वस्तुको सामान्यरूपसे ग्रहण करनेके बाद ही विशेषरूपसे ग्रहण करता है।

---

१. श्री यशोविजयजीकी व्याख्याके अनुसार मूलमें पदच्छेद किया है, परन्तु सामासिक पद रखकर भी वही अर्थ फलित किया जा सकता है, जैसे—दंसणणाणाऽण्णत्तं (दर्शन-ज्ञानाऽनन्यत्वम्)।

एकदेशीके द्वारा दिये गये दृष्टान्तकी समालोचना—

जइ ओग्गहमेत्तं दंसणं ति मण्णसि विसेसियं णाणं ।
मइणाणमेव दंसणमेवं सइ होइ निप्फण्णं ॥ २३ ॥
एवं सेसिंदियदंसणम्मि नियमेण होइ ण य जुत्तं ।
अह तत्थ णाणमेत्तं घेप्पइ चक्खुम्मि वि तहेव ॥ २४ ॥

अर्थ—अवग्रह मात्र दर्शन है और विशेषग्रहण ज्ञान है—यदि ऐसा तुम मानो तो इससे फलित होता है कि मतिज्ञान ही दर्शन है।

इसी प्रकार शेष इन्द्रियोंके दर्शनमे भी नियमसे फलित होगा, परन्तु यह युक्त नही है। अब यदि उसमे अर्थात् अन्य इन्द्रियोके विषयमें ज्ञानमात्र माना जाय, तो नेत्रके विषयमे भी वैसा ही मानना पडेगा।

विवेचन—एकदेशीसम्मत अभेद तो सिद्धान्तीको भी मान्य है, परन्तु उसके द्वारा दिया गया दृष्टान्त सिद्धान्तीको ग्राह्य नही है। इससे अपनी अरुचि दिखलानेके लिए उपर्युक्त दृष्टान्तको माननेपर क्या-क्या अनिष्ट प्राप्त होगा यह समालोचना द्वारा वह व्यक्त करता है।

सिद्धान्ती एकदेशीको कहता है कि यदि तुम मतिके अवग्रहमात्र अंशको दर्शन और विशेषग्रहणको ज्ञान मानोगे, तो चक्षुरिन्द्रियके विषयमे चाक्षुष-अवग्रह-मतिज्ञान ही चक्षुर्दर्शन है ऐसा फलित होगा। इसी तरह दूसरी इन्द्रियोके विषयमे भी होगा। अर्थात् श्रोत्रज-अवग्रह-मति ही श्रोत्रदर्शन तथा घ्राणज-अवग्रह-मति ही घ्राणदर्शन इत्यादि मानना पडेगा। परतु शास्त्रमें कही भी श्रोत्रदर्शन, घ्राणदर्शन आदि व्यवहार न होनेसे तथा श्रोत्रविज्ञान, घ्राणविज्ञान आदि व्यवहार होनेसे अवग्रहमे दर्शनकी मान्यता केवल चक्षुरिन्द्रिय तक ही है ऐसा यदि तुम कहोगे, तो इसके विरुद्ध हम ऐसा कह सकते है कि इस तरहका पक्षपात क्यो? श्रोत्र आदिकी भाँति चक्षुके बारेमे भी दर्शनका व्यवहार मत मानो। अत अवग्रहको दर्शन माननेपर तुम चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन आदि कैसे घटाओगे? तुम्हे या तो चक्षुर्दर्शनकी भाँति श्रोत्रदर्शन, घ्राणदर्शन आदि दूसरी इन्द्रियोके दर्शन भी मानने पडेंगे[1], या फिर चक्षु-

---

१ सिद्धान्ती जिस एकदेशीय मतकी समालोचना करता है वह एकदेशीय मत अचक्षुर्दर्शन शब्दका अर्थ उतना ही करता है जितना कि सिद्धान्ती। सिद्धान्ती अचक्षुर्दर्शनसे मात्र मनोदर्शन लेता है, चक्षुभिन्न इन्द्रियोंका दर्शन नहीं, क्योंकि ऐसी मान्यताका उल्लेख श्वेताम्बर-दिगम्बर आगमिक या कार्मग्रन्थिक साहित्यमें देखा नहीं जाता।

दर्शनकी मान्यताका भी परित्याग करना पड़ेगा। तात्पर्य यह कि शास्त्रमें चक्षुर्दर्शन एवं अचक्षुर्दर्शन ऐसे जो दो नाम आते हैं, उनकी उपपत्ति तुम्हारे मतमें कठिन है।

सिद्धान्तीका स्पष्टीकरण—

णाणं अप्पुट्ठे अविसए य अत्थम्मि दंसणं होइ।
मोत्तूण लिंगओ जं अणागयाईयविसएसु ॥ २५ ॥

अर्थ—अनागत आदि विषयोंमें लिंग अर्थात् हेतुके बलसे जो ज्ञान होता है उसे छोडकर अस्पृष्ट एवं अविषय ऐसे पदार्थमें होनेवाला ज्ञान दर्शन है।

विवेचन—यदि ज्ञान एव दर्शन उपयोगको परस्पर भिन्न न माना जाय तथा मतिके अवग्रहमात्र अंशको भी दर्शन न कहा जाय, तो फिर शास्त्रमें जो चक्षुर्दर्शन एव अचक्षुर्दर्शन ऐसे दो नाम खास भिन्न-भिन्न उपयोगके अर्थमें प्रयुक्त देखे जाते हैं उनकी उपपत्ति तुम कैसे करोगे ?—इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिए सिद्धान्ती अपना मत प्रदर्शित करता हुआ कहता है कि ज्ञान एव दर्शन ये दो भिन्न-भिन्न प्रकारके उपयोग नही है, तथा मतिज्ञानके प्राथमिक अवग्रहमात्र अंशको भी दर्शन कहना और इस तरह दर्शन शब्दके प्रयोगकी सार्थकता सिद्ध करना भी बराबर नही है। ऐसा होने पर भी शास्त्रमें प्रयुक्त इन दो शब्दोकी अर्थमर्यादा ऐसी है कि जिससे इन दोनो शब्दोके प्रयोगकी सार्थकता भी सिद्ध होती है और युक्तिसिद्ध अभिन्न उपयोग माननेमें भी कोई बाधा नही आती। इसके लिए दर्शन शब्दकी व्याख्या सिद्धान्तीने इस तरह की है अनुमान ज्ञानको छोडकर जो अप्राप्यकारी चक्षु और मनके द्वारा ज्ञान होता है वही अनुक्रमसे चक्षुर्दर्शन और अचक्षुर्दर्शन कहलाता है। इस व्याख्याके अनुसार आँखके साथ असन्निकृष्ट चन्द्र, सूर्य जैसे दूरस्थ पदार्थोंमें आँख जो ज्ञान पैदा करती है वह चक्षुर्दर्शन है, और किसी भी बाह्य इन्द्रियके विषय न बननेवाले परमाणु आदि सूक्ष्म तथा व्यवहित पदार्थोंमें मनके द्वारा जो चिन्तनात्मक बोध होता है वह अचक्षुर्दर्शन है। अचक्षुर्दर्शनमें मात्र मनोजन्य ज्ञान लिया जाता है, दूसरी किसी इन्द्रियसे जन्य ज्ञान नही। इससे वस्तुत फलित यह होता है कि अप्राप्यकारी इन्द्रिय दो हैं और इन दो इन्द्रियो द्वारा होनेवाले ज्ञान ही चक्षुर्दर्शन एव अचक्षुर्दर्शन शब्दके प्रतिपाद्य हैं।

अलबत्ता, इतना फर्क अवश्य है कि अप्राप्त पदार्थ-विषयक चक्षुर्जन्य सारा ज्ञान जैसे चक्षुर्दर्शन कहलाता है, वैसे इन्द्रियाग्राह्य-पदार्थ-विषयक सारा मनोजन्य ज्ञान

अचक्षुर्दर्शन नहीं कहलाता। इसीलिए 'अनुमानको छोडकर' कहा है। हेतु द्वारा भूत, वर्तमान और भविष्य विषयके विविध अनुमान होते हैं। जैसे कि—नदीमें आई हुई बाढको देखकर ऊपरके प्रदेशमे बरसात होनेका, खास तरहके बादल देखकर तत्काल बारिश होनेका तथा धुआँ देखकर रसोईघरमें आग होनेका अनुमान। ये सब अनुमान इन्द्रियाग्राह्य-विषयक मनोजन्य ज्ञान होनेपर भी अचक्षुर्दर्शन नही कहलाते। साराश यह कि अचक्षुर्दर्शनसे सिर्फ मनोजन्य भावनात्मक ज्ञान ही लेनेका है।

अतिप्रसंगका निवारण—

मणपज्जवणाणं दंसणं ति तेणेह होइ ण य जुत्तं।
भण्णइ णाणं णोइंदियम्मि ण घडादयो जम्हा ॥ २६ ॥

अर्थ—उक्त व्याख्याके अनुसार मन.पर्यायज्ञान दर्शन है ऐसा यहाँ मानना पडेगा, परन्तु ऐसा मानना योग्य नही है। कहते हैं कि ज्ञान नोइन्द्रिय अर्थात् मनके विषयमे ही प्रवर्तमान होता है, क्योकि घट आदि उसके विषय नही हैं।

विवेचन—'इन्द्रिय द्वारा अस्पृष्ट या अग्राह्य विषयका ज्ञान ही दर्शन है' ऐसी दर्शनकी व्याख्या करनेपर तो मन पर्यायज्ञान भी दर्शन कहा जायगा, क्योकि वह ज्ञान दूसरेके मन द्वारा चिन्तित जिन घट आदि पदार्थोमे प्रवृत्त होता है वे पदार्थ ग्राहक आत्मा अथवा उसके मनके साथ स्पृष्ट नही होते। यहाँ इष्टापत्ति करनेसे भी नही चल सकता, क्योकि शास्त्रमे कही पर भी मन पर्यायके साथ दर्शन शब्दका प्रयोग नही देखा जाता। तो फिर उक्त व्याख्याके अनुसार व्यवस्था किस तरह होगी? इस शकाका निवारण करनेके लिए सिद्धान्ती कहता है कि यह शका ही ठीक नही है, क्योकि जो ऐसा कहा जाता है कि मन पर्याय अस्पृष्ट घट आदि पदार्थोमे प्रवृत्त होता है, यही भ्रान्त है। मन पर्यायका विषय परकीय मन द्वारा चिन्तित होनेवाले पदार्थ नही हैं, किंतु इन पदार्थोकी चिन्तामे लगे हुए परकीय मनोद्रव्य ही हैं। यह सच है कि मन पर्यायज्ञानी दूसरेके द्वारा चिन्तित बाह्य पदार्थोका ज्ञान करता है, पर वह मन पर्यायज्ञानके द्वारा नही, बल्कि अनुमानके द्वारा। प्रथम तो वह परकीय मनोद्रव्यको साक्षात् जानता है, फिर उस परसे वह चिन्तित बाह्य पदार्थोका अनुमान करता है। मतलब कि चिन्तित पदार्थ मन पर्यायके विषय नही हैं और जो विषय हैं वे परकीय मनोद्रव्य तो सर्वथा अस्पृष्ट नही हैं, क्योकि वे द्रव्य

ग्राहक आत्मा द्वारा स्पृष्ट मनोवर्गणाके सजातीय होनेसे स्पृष्ट जैसे हैं। इसलिए मनःपर्यायमें दर्शनका प्रसग ही नही आता।[1]

की गई व्यवस्थाका विशेष स्पष्टीकरण—

मइसुयणाणणिमित्तो छउमत्थे होइ अत्थउवलम्भो।
एगयरम्मि वि तेसिं ण दंसणं दंसणं कत्तो ? ॥ २७ ॥

अर्थ—छद्मस्थमें मति और श्रुत ज्ञानके कारण अर्थका उपलम्भ होता है, उन दोनोंमेंसे एकमे भी दर्शन न हो तो दर्शन कैसे घटेगा ?

विवेचन—एक तरफ़ युक्तिसे दर्शन और ज्ञान ये दोनो अभिन्न है ऐसा सिद्ध होता है, तथा मात्र अवग्रहरूप ज्ञान दर्शन है ऐसी व्यवस्था (गा २१) भी विरोधसे विमुक्त नही है, और दूसरी तरफ़, छद्मस्थमे मति एवं श्रुतके कारण ही अर्थप्रतीति मानी जाती है। अब यदि मति और श्रुत इन दोनोमेसे किसी एक उपयोगमें दर्शन शब्दके अर्थकी मर्यादा अंकित न की जाय तो शास्त्रीय परम्परागत दर्शन शब्दका व्यवहार ही कैसे सगत हो सकता है ? अत पीछे दर्शनकी जो व्याख्या (गा. २५) देकर उसके अर्थकी मर्यादा बाँधी गई है वह माननी ही चाहिए।

श्रुतज्ञान दर्शन क्यों नही कहा जा सकता ? इस शंकाका उत्तर—

जं पच्चक्खग्गहणं ण इन्ति सुयणाणसम्मिया अत्था।
तम्हा दंसणसद्दो ण होइ सयले वि सुयणाणे ॥ २८ ॥

अर्थ—श्रुतज्ञान द्वारा गृहीत पदार्थ जिस कारण प्रत्यक्ष ग्रहणको प्राप्त नहीं होते, उसी कारण सभी श्रुतज्ञानमे दर्शन शब्द लागू नहीं होता।

विवेचन—'इन्द्रियों द्वारा अस्पृष्ट और अग्राह्य विषयोका अनुमानसे भिन्न ज्ञान दर्शन है'—ऐसी व्याख्याके अनुसार तो श्रुतज्ञान भी दर्शन हो जायगा, क्योकि उसके सभी विषय स्पृष्ट या इन्द्रियग्राह्य नही होते। तो फिर मतिकी भाँति श्रुतमे भी दर्शन शब्द क्यो न लागू हो ? इस शकाका जवाब इतना ही है कि यह सच

---

१ यहाँ जो विवेचन किया है उसमें मुख्यतया उपाध्याय यशोविजयजीकी व्याख्याका अनुसरण है। श्री अभयदेवसूरि और उपाध्यायजी दोनों मन पर्यायदर्शनका निषेध अपने-अपने ढंगसे करते हैं, परन्तु स्वतंत्र दृष्टिसे सोचने पर यह प्रयत्न प्रतीतिकर मालूम नहीं होता।

है कि श्रुतज्ञान अस्पृष्ट विषयको ग्रहण करता है, पर प्रत्यक्षरूपसे नहीं किन्तु परोक्ष-रूपसे; और दर्शन शब्दकी उक्त व्याख्यामें तो 'प्रत्यक्षग्रहण' लेनेका है। इसलिए सारा श्रुतज्ञान 'दर्शन' शब्दकी अर्थमर्यादासे बाहर रहता है।

अवधिदर्शनकी मर्यादा—

जं अपुट्ठा भावा ओहिण्णाणेस्स होंति पच्चक्खा।
तम्हा ओहिण्णाणे दंसणसद्दो वि उवउत्तो ॥ २९ ॥

अर्थ—चूंकि अस्पृष्ट पदार्थ अवधिज्ञान द्वारा प्रत्यक्षग्राह्य होते हैं, इसलिए अवधिज्ञानमे भी दर्शन शब्द प्रयुक्त हुआ है।

विवेचन—उक्त व्याख्याके अनुसार अवधिदर्शन शब्दके शास्त्रीय व्यवहारकी युक्ततामे कोई बाधा नही आती, क्योकि इन्द्रिय द्वारा अस्पृष्ट एव अग्राह्य परमाणु आदि पदार्थोको अवधिज्ञान प्रत्यक्षरूपसे ग्रहण करता है। अत दर्शनकी उक्त व्याख्यामें भी अवधिज्ञान आ जाता है।

एक ही केवलोपयोगमें ज्ञान-दर्शन शब्दकी उपपत्ति—

जं अपुट्ठे भावे जाणइ पासइ य केवली णियमा।
तम्हा तं णाणं दंसणं च अविसेसओ सिद्धं ॥ ३० ॥

अर्थ—चूंकि केवली नियमसे अस्पृष्ट पदार्थोको जानता और देखता है, इसलिए भेदके बिना ही ज्ञान और दर्शन सिद्ध होते है।

विवेचन—जो केवली होता है वह जगत्को सामान्य और विशेषरूपसे एक साथ अवश्य ही प्रत्यक्षके रूपमे ग्रहण करता है, और यह सारा जगत् तो उसकी आत्मा द्वारा स्पृष्ट नही है। इसीलिए सम्पूर्ण जगत्-विषयक उसका ग्रहण अस्पृष्ट-विषयक प्रत्यक्ष ग्रहण है। इसका अर्थ यह हुआ कि वह एक ही ग्रहण अर्थात् उपयोग अपेक्षा-विशेषसे दर्शन एव ज्ञान दोनो शब्दका समान रूपसे वाच्य सिद्ध होता है। इस ग्रहणमे विशेषग्राहिताके कारण ज्ञानशब्द और सामान्यग्राहिताके कारण दर्शन शब्दका प्रयोग होता है। अत दोनोका प्रतिपाद्य उपयोग एक है, मात्र इन दोनोके प्रवृत्तिनिमित्त धर्म उपयोगमे भिन्न है। इसलिए एकोपयोगवादमे किसी तरहकी अनुपपत्ति नही है।

शास्त्रमें आनेवाले विरोधका परिहार—

साई अपज्जवसियं ति दो वि ते ससमयओ हवइ एवं।
परतित्थयवत्तव्वं च एगसमयंतरुप्पाओ ॥ ३१ ॥

अर्थ—स्वसिद्धान्तके अनुसार वे ज्ञान एवं दर्शन दोनों सादि-अनन्त हैं। ऐसा होनेसे शास्त्रमें जो एक समयके अन्तरसे उत्पत्ति सुनी जाती है उसे परदर्शनका मन्तव्य समझना चाहिए।

विवेचन—युक्तिसे अभेद सिद्ध होनेपर भी शास्त्रविरोध तो रहता ही है, क्योंकि 'जब केवली जानता है तब देखता नहीं है और जब देखता है तब जानता नहीं है' ऐसा समयान्तरसे ज्ञान-दर्शनकी उत्पत्तिवाला कथन तो शास्त्रमें है ही। अतः इस विरोधका क्या करना ?—इस प्रश्नका उत्तर सिद्धान्ती यहाँ देता है। वह कहता है कि युक्तिसे ज्ञान एवं दर्शन दोनो शब्दोका प्रतिपाद्य जो एक ही उपयोग-रूप अर्थ सिद्ध होता है वही स्वसिद्धान्त है। यदि एक बार स्वसिद्धान्त निश्चित हुआ, तो फिर दूसरा विरोधी वर्णन नयवादसापेक्ष है ऐसा ही मानना चाहिए। अतएव केवलज्ञान-दर्शनकी क्रमिक उत्पत्तिके जो वचन जैन प्रवचनमें दृष्टिगोचर होते हैं वे दर्शनान्तरके मन्तव्य है ऐसा समझना चाहिए। शास्त्रमें सभी वर्णन स्वसिद्धान्तके ही नहीं होते। उसमे बहुत-सी बाते ऐसी भी आती है जो स्वसिद्धान्तको अमान्य और दर्शनान्तरको मान्य होती हैं। अत इनका विवेक करके शास्त्रका तात्पर्य खोजनेमे ही युक्तिकी सार्थकता है।

अभेदपक्षमे सादि-अनन्तताका कथन केवलरूपसे घटाना चाहिए; अर्थात् प्रतिसमय उपयोगका उत्पाद और विनाश होनेपर भी वह केवलरूपसे ध्रुव यानी अनन्त होनेके कारण सादि-अनन्त ही है।

श्रद्धाके अर्थमे प्रयुक्त दर्शन शब्दका स्पष्टीकरण—

एवं जिणपण्णत्ते सद्दहमाणस्स भावओ भावे।
पुरिसस्साभिणिबोहे दंसणसद्दो हवइ जुत्तो ॥ ३२ ॥
सम्मण्णाणे णियमेण दंसणं दसणे उ भयणिज्जं।
सम्मण्णाणं च इमं ति अत्थओ होइ उववण्णं ॥ ३३ ॥

अर्थ—इस तरह जिनकथित पदार्थोंके बारेमें भावपूर्वक श्रद्धा करनेवाले पुरुषका जो अभिनिबोधरूप ज्ञान होता है उसमें दर्शन शब्द युक्त है।

सम्यग्ज्ञानमें नियमसे दर्शन है, परन्तु दर्शनमें सम्यग्ज्ञान विकल्प्य है; अर्थात् है भी और नहीं भी है। इसीलिए सम्यग्ज्ञानरूप यह सम्यग्दर्शन अर्थबलसे सिद्ध होता है।

विवेचन—जैन शास्त्रमें 'दर्शन' शब्द एक खास पारिभाषिक शब्द है। इसकी जो परिभाषा की जाती है उसके अनुसार इसके दो अर्थ किये जाते हैं: एक तो साकारसे भिन्न निराकार उपयोग और दूसरा श्रद्धा। पहले अर्थके विषयमें ग्रन्थकारने अपना मतभेद प्रदर्शित करके उसके स्थानमें उसका क्या अर्थ मानना चाहिए यह पीछे साबित किया है; अर्थात् उन्होंने यह बतलाया है कि दर्शन शब्दका अर्थ ज्ञान शब्दके अर्थभूत साकार उपयोगसे भिन्न निराकार उपयोग नहीं है, परन्तु ज्ञानशब्दप्रतिपाद्य उपयोग ही अपेक्षा-विशेषसे दर्शन शब्दका प्रतिपाद्य बनता है। इसी प्रकार दूसरे अर्थके विषयमे अपना मतभेद प्रदर्शित करते हुए ग्रन्थकार अपना मन्तव्य यहाँ स्पष्ट करते हैं। वह कहते है कि मोक्षके तीन उपायोमेसे प्रथम उपायभूत सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञानसे जो भिन्न माना जाता है वह वस्तुत भिन्न नही है। सम्यग्ज्ञान ही सम्यग्दर्शन है। अलबत्ता, यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि किस सम्यग्ज्ञानको सम्यग्दर्शन मानना? परन्तु इसका उत्तर यह है कि जिन-कथित तत्त्वोके बारेमे जो अपायात्मक अर्थात् दृढ़ निश्चय हो वही सम्यग्दर्शन कहा जाता है। सम्यग्दर्शन एक विशिष्ट रुचिरूप है, परन्तु रुचि ज्ञानसे कुछ भिन्न वस्तु नही है। जिनोक्त पदार्थोंके विषयमे जो वास्तविक और अटल निश्चय होता है वही मतिरूप ज्ञान रुचि होनेसे सम्यग्दर्शन है। इसीलिए कर्मप्रकृतियोमे दर्शनावरण और दर्शनमोहनीय इन दोनो स्थानोमे दर्शन शब्दका अर्थ ज्ञानसे भिन्न नही है, ऐसा समझना चाहिए।

यह तो सत्य ही है कि जो-जो सम्यग्ज्ञान हैं वे सब सम्यग्दर्शन हैं ही, किन्तु सभी दर्शन सम्यग्ज्ञान नही हैं, क्योकि जो दर्शन एकान्तविषयक रुचिरूप होता है वह मिथ्याज्ञान होनेसे सम्यग्ज्ञान नही होता, मात्र अनेकान्तविषयक रुचिरूप दर्शन ही सम्यग्ज्ञान होता है। इससे अन्तमें फलित यह होता है कि जिनोक्त तत्त्व-विषयक यथार्थ दर्शन अनेकान्त-रुचिरूप होनेके कारण सम्यग्ज्ञानरूप ही है, न कि सम्यग्ज्ञानसे भिन्न। अतएव सम्यग्दर्शनके अभिलाषीको अनेकान्त-तत्त्वके अवधारणके लिए ही प्रयत्न करना चाहिए।

सादि-अपर्यवसित शब्दमे हुई किसीकी भ्रान्तिका उल्लेख और उसका निवारण—

केवलणाणं साई अपज्जवसियं ति दाइयं सुत्ते।
तेत्तियमित्तोत्तूणा केइ विसेसं ण इच्छंति॥ ३४॥

जे संघयणाईया भवत्थकेवलिविसेसपज्जाया ।
ते सिज्झमाणसमये ण होन्ति विगयं तओ होइ ॥ ३५ ॥
सिद्धत्तणेण य पुणो उप्पण्णो एस अत्थपज्जाओ ।
केवलभावं तु पडुच्च केवलं दाइयं सुत्ते ॥ ३६ ॥

अर्थ—सूत्रमें केवलज्ञान सादि-अपर्यवसित बतलाया है, इतने मात्रसे कोई गर्विष्ठ विशेष अर्थात् पर्यवसानरूप पर्याय नहीं मानते ।

भवस्थकेवलीमें संहनन आदि जो विशेष पर्याय होते हैं, वे सिद्ध होते समय नहीं रहते, इस अपेक्षासे वह केवल विगत अर्थात् नष्ट होता है ।

और यह (केवलबोधरूप) अर्थपर्याय सिद्धत्वके रूपमें उत्पन्न होता है, केवलभावके आधार पर सूत्रमें केवलको (अपर्यवसित) कहा है ।

विवेचन—सादि यानी आदिवाला अर्थात् उत्पन्न होनेवाला; अपर्यवसित यानी पर्यवसानरहित अर्थात् नष्ट न होनेवाला—अनन्त । सादि और अपर्यवसित शब्दका ऐसा अर्थ है, और सूत्रमे केवलज्ञान एव केवलदर्शन दोनोको सादि-अपर्यवसित कहा है । यह देखकर कोई कोई आचार्य केवलज्ञान और केवल-दर्शनमें सादि-अपर्यवसितपना घटानेके लिए ऐसा मानते हैं कि ये दोनो आवरण क्षयके अनन्तर उत्पन्न होनेसे सादि हैं, परन्तु पुन. आवरण न आनेसे और आवरणके अभावके कारण क्षयका पुन सम्भव न होनेसे ये दोनों एक बार उत्पन्न होनेके बाद कभी नष्ट नही होते । मतलब कि केवलज्ञान एव केवलदर्शन दोनो एक बार उत्पन्न तो होते हैं, परन्तु बादमे कभी नष्ट नही होते । इसी रूपमें उनका सादि-अपर्यवसितत्व है ।

ऐसा अर्थ घटानेवालेको सिद्धान्ती कहता है कि तुम तो सादि-अपर्यवसित शब्दार्थके मोहमे वस्तुतत्त्व ही भूल जाते हो और अन्यथा कल्पना करते हो । वस्तु-तत्त्व क्या है और सादि-अपर्यवसितत्व घटानेके लिए सही कल्पना क्या है ? इस स्वाभाविक प्रश्नका उत्तर इस प्रकार है—

जैन मतके अनुसार जो पदार्थ उत्पाद, व्यय एव ध्रौव्यात्मक न हो वह सत् ही नही है । केवलपर्याय सत्‌रूप होनेसे वह भी उत्पाद, व्यय एवं ध्रौव्यात्मक

होना ही चाहिए। यह तो वस्तुस्थिति हुई। केवलीमें देहावस्थाके समय जो संहनन, परिमाण आदि देहगत विशेष होते हैं वे सिद्धि मिलते ही देहके साथ नष्ट हो जाते हैं। देहावस्थामें देहके दिखाई देनेवाले विशेष आत्माके भी हैं, क्योंकि देह और आत्मप्रदेशके बीच क्षीर-नीर जैसा सम्बन्ध होनेसे एकके पर्याय दूसरेके हैं ही। ऐसा होनेसे 'वे पर्याय नष्ट हुए' इसका अर्थ यह हुआ कि उस रूपसे आत्मा भी न रहा अर्थात् उस रूपमें वह नष्ट हुआ, और आत्मा केवलरूप होनेसे केवल भी नष्ट ही हुआ। और वही आत्मा सिद्ध हुआ अर्थात् सिद्धत्वपर्याय उसमें उत्पन्न हुआ, इससे वह केवल भी उत्पन्न हुआ। इस तरह भवपर्यायके नाश और सिद्धत्व पर्यायके उत्पादकी दृष्टिसे आत्माके पहलेके केवलज्ञान-दर्शन पर्यायका नाश और नवीन केवलज्ञान-दर्शन पर्यायका उत्पाद सिद्ध होता है। इसका मतलब यह हुआ कि केवलज्ञान एव केवलदर्शनपर्याय मात्र सादि ही नही है, किन्तु वे सपर्यवसान भी हैं। यदि ऐसा है, तो शास्त्रमे उन्हे अपर्यवसित क्यो कहा है ?—इस प्रश्नका उत्तर स्पष्ट है और वह यह कि प्रतिक्षण ज्ञान-दर्शनपर्याय उत्पन्न एव नष्ट होनेपर भी केवलके रूपमे अर्थात् निरावरण सत्ताके रूपमे ध्रुव हैं। इसीलिए वह अनन्त है। अर्थात् केवलबोध एक बार अपूर्व उत्पन्न होनेसे सादि है और फिर बादमें पर्याय रूपसे उत्पाद और नाशवान् होने पर भी सत्तारूपसे ध्रुव होने के कारण अपर्यवसित है।

जीव और केवलके भेदकी आशंका और उसका दृष्टान्तपूर्वक निरसन—

जीवो अणाइणिहणो केवलणाणं तु साइयमणंतं।
इअ थोरम्मि विसेसे कह जीवो केवलं होइ ॥ ३७ ॥
तम्हा अण्णो जीवो अण्णे णाणाइपज्जवा तस्स।
उवसमियाईलक्खणविसेसओ केइ इच्छन्ति ॥ ३८ ॥
अह पुण पुव्वपयुत्तो अत्थो एगंतपक्खपडिसेहे।
तह वि उयाहरणमिणं ति हेउपडिजोअणं वोच्छं ॥ ३९ ॥
जह कोइ सट्ठिवरिसो तीसइवरिसो णराहिवो जाओ।
उभयत्थ जायसद्दो वरिसविभागं विसेसेइ ॥ ४० ॥
एवं जीवद्दव्व अणाइणिहणमविसेसियं जम्हा।
रायसरिसो उ केवलिपज्जाओ तस्स सविसेसो ॥ ४१ ॥

जीवो अणाइनिहणो 'जीव' त्ति य णियमओ ण वत्तव्वो ।
जं पुरिसाउयजीवो देवाउयजीवियविसिट्ठो ॥ ४२ ॥

अर्थ—जीव अनादिनिधन है और केवलज्ञान तो सादि-अनन्त है। इस तरहका बड़ा भेद होनेसे जीव केवलरूप कैसे हो सकता है ?

अत. औपशमिक आदि लक्षणभेदके कारण जीव भिन्न है और उसके ज्ञान आदि पर्याय भिन्न है—ऐसा कोई मानता है ।

एकान्त पक्षके प्रतिषेधके समय यह बात पहले कही जा चुकी है, फिर भी हेतुका साध्यके साथ सम्बन्ध दरसानेवाला यह उदाहरण तो कहूँगा ।

जैसे, कोई साठ वर्षका पुरुष तीसवे वर्षमे राजा हुआ (ऐसा कहनेमें) दोनोमे अर्थात् मनुष्य और राजामे प्रयुक्त 'जात—हुआ' शब्द वर्षका विभाग बताता है ; —

वैसे ही किसी भी प्रकारके विशेषसे रहित जीव द्रव्य अनादिनिधन है। अत. राजसदृश जो केवली पर्याय है, वह तो उसका विशेष है ।

अनादिनिधन जीवको 'यह जीव ही है' अर्थात् मात्र सामान्यरूप ही है ऐसा एकान्तसे नही कहा जा सकता, क्योंकि पुरुषायुष्क जीव देवायुष्क जीवसे भिन्न व्यवहृत होता है ।

विवेचन—'जीव केवलरूप है' इस अभेदकथनको असगत बतानेके लिए कोई कहता है कि जीव द्रव्यरूप होनेसे अनादि-अनन्त है और केवल तो सादि-अनन्त पर्यायरूप है। दोनोके बीच इतना अधिक अन्तर है, तो फिर जीवको केवलरूप कैसे कह सकते है ? अर्थात् द्रव्य एव पर्यायका अभेद कैसे माना जाय ?

इसके अतिरिक्त दोनोंके बीच लक्षणभेद भी है। केवल आदि पर्याय क्षायिक आदि भाववाले होते है, जब कि जीव पारिणामिक भाववाला है। अतः जीव और उसके ज्ञान आदि पर्याय परस्पर भिन्न ही है, ऐसा मानना चाहिए ।

इस प्रकारके एकान्त भेदवादका निषेध करते हुए ग्रन्थकार कहते है कि यद्यपि द्रव्य और पर्यायके एकान्तभेद-विषयक मतका निषेध पहले ही (द्रव्यलक्षणके

समय का० १, गा० १२ में) किया जा चुका है, तथापि विशेष स्पष्टता के लिए दृष्टान्त देकर उसके द्वारा हेतुकी साध्यके साथ व्याप्ति यहाँ दिखाई जाती है।

जैसे साठ वर्षकी आयुवाला कोई पुरुष तीसवें वर्षमें राजा बनता है, तब ऐसा कहा जाता है कि 'यह मनुष्य राजा हुआ,' वैसे ही जीवके रूपमे भव्य जीव अनादि होने पर भी जब केवलज्ञान प्रकट होता है तब ऐसा कहा जाता है कि 'यह जीव केवली हुआ।' दृष्टान्तमें विवक्षित व्यक्ति मनुष्यके रूपमे पहले ही से था और बादमे भी है। उसमेंसे मात्र अराजपर्याय गया है और राजपर्याय आया है। दार्ष्टान्तिकमे जीव द्रव्य पहले भी था और बादमे भी है, मात्र अकेवलपर्याय गया और केवलपर्याय आया। इन दोनो स्थानो पर पर्याय और सामान्यका परस्पर अभेद होनेसे ही पर्यायके उत्पाद एव नाशको सामान्यका उत्पाद एव नाश मानकर ऐसा निर्बाध व्यवहार होता है कि 'यह मनुष्य अराजा मिटकर राजा हुआ' और 'यह जीव छद्मस्थ मिटकर केवली हुआ।' अर्थात् सामान्यके ध्रुव होने पर भी वह पूर्वपर्यायके रूपमें नष्ट और उत्तर पर्यायके रूपमे उत्पन्न हुआ ऐसा कहा जाता है। यही द्रव्य और पर्यायका अभेद सिद्ध करता है। अतएव 'द्रव्य मात्र द्रव्य रूप ही है' ऐसा नही कहा जा सकता।

यदि ऐसा हो, तो अनादि-अनन्त जीव द्रव्य जीवरूपसे मात्र एक ही है ऐसा मानना पडेगा, और ऐसा मानने पर 'यह वर्तमान पुरुषदेहधारी जीव पूर्व देवदेहधारी जीवसे भिन्न है' ऐसा व्यवहार कभी भी प्रामाणिक नही ठहरेगा, क्योकि दोनो अवस्थामे जीव तो एक ही है, तो फिर उसमे भेदव्यवहार कैसे हो सकेगा ? और भेदव्यवहार तो प्रामाणिक है ही। इसलिए ऐसा मानना चाहिए कि द्रव्य और पर्याय परस्पर अभिन्न हैं। ऐसा माननेसे जीवके रूपमे एक होने पर भी पुरुष-पर्याय और देवपर्याय परस्पर भिन्न होनेके कारण इन पर्यायोकी दृष्टिसे अभिन्न जीवमे भी पुरुष और देवके रूपमें भिन्नत्वका व्यवहार निर्बाध रूपसे होता है। इस परसे यही फलित हुआ कि सत् होनेके कारण पर्याय द्रव्यसे और द्रव्य पर्यायसे अभिन्न है, जैसे कि मनुष्य और उसके अराजत्व आदि पर्याय। इसी तरह सत् होनेके कारण केवलज्ञान पर्याय और जीवद्रव्य ये दोनो परस्पर अभिन्न होनेसे 'केवलरूप जीव' ऐसा कहना असगत नही है। यहाँ जीवमें केवलका अभेद सिद्ध करनेवाला—सामान्यको विशेषसे अभिन्न सिद्ध करनेवाला—अनुमान इस प्रकार कहा जा सकता है : सामान्य विशेषोंसे अभिन्न है, क्योकि उसमे विशेषोके कारण भेद-व्यवहार प्रामाणिक रूपसे होता है, जैसे एक ही मनुष्य कभी अराजा और कभी राजाके रूपसे व्यवहृत होता है, वैसे एक ही जीव कभी अकेवलीके रूपमे और

कभी केवलीके रूपमें व्यवहृत होता है; अतएव यह जीवद्रव्य अकेवल और केवल पर्यायसे अभिन्न है। यदि वह पर्यायोसे मात्र भिन्न ही है ऐसा मानें, तो पर्यायोंका भेद पर्यायोंमें ही रहेगा और जीवमें उसका व्यवहार ही नहीं होगा।

अभिन्न पर्यायोंकी भिन्नताका उपपादन—

संखेज्जमसंखेज्जं अणंतकप्पं च केवलं णाणं।
तह रागदोसमोहा अण्णे वि य जीवपज्जाया ॥ ४३ ॥

अर्थ—केवलज्ञान संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रकारका है। इसी तरह राग, द्वेष एवं मोहरूप दूसरे भी जीवपर्याय समझने चाहिए। (४३)

विवेचन—शास्त्रमे केवलज्ञानको संख्यात, असख्यात और अनन्त प्रकारका कहा है। इसी तरह राग, द्वेष और मोहरूप वैभाविक पर्यायोको भी संख्यात, असख्यात और अनन्त प्रकारका कहा है। प्रत्येक पर्यायमे सख्या-भेदका जो यह शास्त्रीय कथन है उससे सूचित होता है कि भगवान्‌की दृष्टिमे द्रव्य और पर्यायका मात्र अभेद ही नही, भेद भी है। भेदके बिना सख्या का वैविध्य सम्भव ही नही हो सकता। अत द्रव्य और पर्यायके बीच अभेदकी भाँति भेद भी मानना चाहिए। मतलब कि ये दोनो कथंचित् भिन्न-अभिन्न है।

द्वितीय काण्ड समाप्त

तृतीय काण्ड

सामान्य और विशेष इन दोनोंके परस्पर अभेदका समर्थन---

सामण्णम्मि विसेसो विसेसपक्खे य वयणविणिवेसो ।
दव्वपरिणाममण्णं दाएइ तयं च णियमेइ ॥ १ ॥
एगंतणिव्विसेसं एयंतविसेसियं च वयमाणो ।
दव्वस्स पज्जवे पज्जवा हि दवियं णियत्तेइ ॥ २ ॥

अर्थ---सामान्यमे विशेष-विषयक वचनका और विशेषमे सामान्य-विषयक वचनका जो प्रयोग होता है वह अनुक्रमसे सामान्य अर्थात् द्रव्यके परिणामको उससे भिन्न रूपमे दिखलाता है, और उसे अर्थात् विशेषको सामान्यमें नियत करता है।

एकान्त निर्विशेष ऐसे सामान्यका और एकान्त विशेषका प्रतिपादन करनेवाला द्रव्यके पर्यायोको उससे अलग करता है और पर्यायोंको द्रव्यसे अलग करता है।

विवेचन---प्रत्येक व्यवहार ज्ञानमूलक होता है। व्यवहारकी अबाधितता ही ज्ञानकी यथार्थताका प्रमाण है। वस्तुका स्वरूप कैसा है यह निश्चित करनेका एकमात्र साधन यथार्थ ज्ञान है। इतना सर्वसामान्य सिद्धान्त है।

सत्, द्रव्य आदि कोई भी पर या अपर सामान्य व्यवहारमे तो विशेषरूपमे ही आता है, और पृथ्वी, घट आदि कोई भी विशेष सामान्यरूपसे व्यवहृत होता है; और यह व्यवहार बाधित भी नही है। अतएव पूर्वोक्त सर्वसामान्य सिद्धान्तके आधार पर ऐसा माना जा सकता है कि सामान्यके अलावा उसका परिणाम विशेष भी है और फिर भी वह विशेष सामान्य-स्वरूपसे भिन्न नही है। अर्थात् सामान्य विशेषोमे ओतप्रोत है और विशेष अभिन्न सामान्यकी भूमिका पर ही रहते हैं। इससे वस्तुमात्र परस्पर अविभाज्य ऐसे सामान्य-विशेष उभयरूप सिद्ध होती है।

अब यदि विशेषरहित केवल सामान्य ही हो, तो मात्र सामान्य-विषयक प्रतीतिके आधार पर व्यवहार करनेवालेको विशेष छोड ही देने पडेगे। फलत उसे प्रतीति

और व्यवहारसिद्ध कड़ा, कुण्डल आदि अनेक आकारोंको विचार एवं वाणीमेंसे दूर हटाकर 'मात्र सोना है' इतना ही सामान्य व्यवहार करना पड़ेगा। इसी भाँति सामान्यरहित केवल विशेष माननेवालेको विचार एव वाणीमेंसे सुवर्णरूप सामान्य तत्त्वको हटाकर मात्र कड़ा,कुण्डल आदि आकार ही विचारप्रदेशमें लाने पडेगे और उन्हीको वाणी द्वारा अभिव्यक्त करना होगा। परन्तु अनुभव तो ऐसा है कि कोई भी विचार अथवा वाणी मात्र सामान्य या मात्र विशेषका अवलम्बन लेकर प्रवृत नहीं होती। इससे यही सिद्ध होता है कि ये दोनो भिन्न होनेपर भी परस्पर अभिन्न हैं।

साराश यह कि जैसे बौद्ध दर्शन अभेद ग्रहणको मिथ्या कहकर तदनुसारी अभेद व्यवहारको अपारमार्थिक या सावृत्त कहता है तथा केवलाद्वैती भेदग्रहणको मिथ्या कहकर तदनुसारी व्यवहारको उपचरित कहता है वैसा जैन दर्शन नही कहता, क्योंकि जैनदृष्टिके अनुसार भेद और अभेद एक ही अखण्ड सत्यके दो पहलू है, जो व्यवहार और सग्रहदृष्टि या नयके विषय बनते है और समान रूपसे पारमार्थिक है।

प्रतीत्यवचन किसे कहते है और वह किसलिए ?—

पच्चुपन्नं भावं विगयभविस्सेहिं जं समण्णेइ।
एयं पडुच्चवयणं[1] दव्वंतरणिस्सियं जं च॥ ३॥
दव्वं जहा परिणयं तहेव अत्थि त्ति तम्मि समयम्मि।
विगयभविस्सेहि उ पज्जएहि भयणा विभयणा वा॥ ४॥

अर्थ—जो वचन वर्तमान पर्यायका भूत एव भावी पर्यायके साथ समन्वय करता है और जो वचन भिन्न द्रव्योंमे रहे हुए सामान्यका समन्वय करता है वह प्रतीत्यवचन है। (क्योंकि)—

जिस समय जो द्रव्य जिस रूपमें परिणत हुआ हो, उस समय वह उस रूपमें ही है। भूत और भावी पर्यायोंके साथ तो भजना अर्थात् अभेद तथा विभजना अर्थात् भेद भी है।

विवेचन—जो वचन प्रतीतिपूर्वक अर्थात् वस्तुके वास्तविक बोधपूर्वक बोला जाय वह प्रतीत्यवचन। यही वचन आप्तवचन है।

---

१. बौद्ध परम्परामें 'पटिच्चसमुप्पाद' शब्द प्रसिद्ध है। 'पडुच्चवयणं' पदका यहाँ जो प्रयोग है उसे देखकर 'पटिच्चसमुप्पाद'गत 'पटिच्च' पदका स्मरण हो आता है। प्रतीत्यके अर्थमें पटिच्च और पडुच्च दोनों व्यवहृत होते हैं।

कडा तोडकर कुण्डल बनाया हो और उसमेंसे आगे हार बननेवाला हो, तब यह तो साफ है कि वर्तमान कुण्डलका आकार भूतकालीन कड़ेके आकार और भावी हारके आकारकी अपेक्षा भिन्न ही होगा; फिर भी उनके साथ वह एकरूप भी है, क्योंकि उन तीनोंका द्रव्य भिन्न नही है। तीनों आकारोंमें वही सुवर्ण अनुगत होनेसे उन तीनो आकारोको एक-दूसरेसे सर्वथा भिन्न और विच्छिन्न कैसे कहा जा सकता है ? इसी प्रकार किसी भी एक द्रव्यमे कालक्रमसे दिखाई पडने-वाले उसके अनेक विशेष, विशेषरूपसे परस्पर भिन्न और विच्छिन्न होने पर भी, उस द्रव्यके रूपमें तो वे एकात्मक ही है, ऐसा मानना चाहिए। ऐसा होनेसे ही वर्तमान पर्यायका भूत-भावीके साथ और भूत-भावी पर्यायका वर्तमानके साथ समन्वय दरसानेवाले वाक्यको ही प्रतीत्यवचन कहा है।

इसी तरह एक ही समयमे देशभेदके विस्तार पर फैले हुए काले-पीले, छोटे-बड़े आदि अनेक व्यक्ति, व्यक्तिरूपसे भिन्न दिखाई पडने पर भी, गोत्व आदिके रूपमे समान भी भासित होते है। अत ऐसे परस्पर भिन्न और विच्छिन्न दिखाई पडनेवाले व्यक्तियोमे भी अमुक रूपमे एकत्व न्यायप्राप्त होनेसे उस रूपमे उनका समन्वय करनेवाला वचन भी प्रतीत्यवचन है।

ऊपर बतलाये हुए प्रतीत्यवचनके दो उदाहरणोमें पहला ऊर्ध्वतासामान्य अर्थात् त्रिकाल-सापेक्ष है, जबकि दूसरा तिर्यक्-सामान्य अर्थात् देशाश्रित है।

एक वस्तुमे अस्तित्व और नास्तित्वकी उपपत्ति—

परपज्जवेहिं असरिसगमेहिं णियमेण णिच्चमवि नत्थि ।
सरिसेहिं पि वंजणओ अत्थि ण पुणऽत्थपज्जाए ॥ ५ ॥
पच्चुपण्णम्मि वि पज्जयम्मि भयणागइं पडइ दव्वं ।
जं एगगुणाईया अणंतकप्पा गुणविसेसा ॥ ६ ॥

अर्थ—कोई भी वस्तु विजातीय प्रतीत होनेवाले परपर्यायोंकी दृष्टिसे सर्वदाके लिए नियमत नही है। सजातीयमे भी व्यजनपर्यायसे वह वस्तु है, किन्तु अर्थपर्यायसे नही है।

वर्तमान पर्यायमे भी द्रव्य भजनागति अर्थात् उभयरूपताका स्पर्श करता है, क्योंकि गुणके विशेष एक गुणसे लेकर अनन्त प्रकारके होते है।

विवेचन—कोई भी वस्तु अपने प्रतिनियत स्वरूपके कारण ही व्यवहारका विषय बनती है। प्रतिनियत स्वरूप यानी निश्चित स्वरूप, न कि मात्र भावात्मक या मात्र अभावात्मक। यही तत्त्व वस्तुमें अस्ति-नास्ति उभयरूपता द्वारा यहाँ दिखलाया गया है। वस्तु परपर्यायके रूपमें अवश्य ही नहीं है, और स्वपर्यायके रूपमें है। जो पर्याय विजातीय (विलक्षण बुद्धिजनक) होते हैं वे परपर्याय ही हैं और जो सजातीय (सदृश बुद्धिजनक) होते हैं उनमे व्यजनपर्याय एव अर्थपर्याय दोनोंका समावेश होता है। इनमेंसे व्यजनपर्यायके रूपमें वस्तु है और अर्थपर्यायके रूपमे वस्तु नही है। एक दृष्टान्त द्वारा इस व्यवस्थाको हम स्पष्ट करें। कुण्डल पूर्ववर्ती कड़ा और उत्तरवर्ती हारस्वरूप परपर्यायके रूपमें नही है; इसी तरह घट, पट आदि समकालीन परपर्यायके रूपमें भी वह नही है। अर्थात् इन सभी विजातीय पर्यायोसे कुण्डलका आकार भिन्न ही है।

कुण्डल आकारमे परिणत सुवर्ण सत्, द्रव्य, सोना, कुण्डल आदि अनेक शब्दोसे व्यवहृत होता है। इन शब्दोकी प्रतिपादनमर्यादामे जिस-जिस अर्थका समावेश होता है वह व्यजनपर्याय है। अर्थात् व्यजनपर्यायमे उस-उस शब्दके प्रतिपाद्य सभी अर्थ आ जाते हैं। इसलिए वे सदृशपर्याय हैं। अतएव 'कुण्डल व्यजनपर्यायरूप है' इसका अर्थ यह हुआ कि कुण्डल कहे जाते और कुण्डल-रूपसे प्रतीत होनेवाले सभी कुण्डल कुण्डलके नामसे एकरूप होनेके कारण भिन्न नही हैं, और एक कुण्डल व्यक्ति भी कुण्डलस्वरूप बनकर जबतक उस रूपमे रहेगा तबतक कुण्डलके नामसे एक ही है। 'कुण्डल' ऐसे एक शब्द द्वारा प्रतिपादित होनेसे तथा 'यह कुण्डल है' ऐसी एक प्रकारकी बुद्धिका विषय होने से सभी कुण्डल, अथवा रचनासे भग तक के कालका एक ही कुण्डल यद्यपि एकरूप है, फिर भी जब हम शब्दमर्यादाका त्यागकर आगे जाते हैं तब वैसा नही दीखता, क्योकि कोई भी एक कुण्डल उसके अमुक विवक्षित समयमें पूर्व और उत्तरवर्ती समयके परिणामभेदसे भिन्न ही है। अत. एक-शब्दप्रतिपाद्यत्वकी दृष्टिसे कुण्डल-कुण्डलके बीच और एक ही कुण्डल-आकारके पूर्व, उत्तर एव वर्तमान परिणामोके बीच भेद भासित न होने पर भी अर्थगत तात्त्विक दृष्टिसे इन सबमे भेद भासित होता ही है। यही सदृश अर्थपर्यायके रूपमे नास्तित्व है।

समयभेदसे परिणामभेद होनेके कारण पूर्व और उत्तरकालीन कुण्डल-परिणामरूप अर्थपर्यायकी अपेक्षा वर्तमान कुण्डलपरिणामरूप अर्थपर्याय भिन्न है; इतना ही नही, परन्तु एकसमयवर्ती दो कुण्डल-व्यक्तियोमें अमुक विवक्षित कुण्डल-परिणामरूप अर्थपर्याय दूसरे कुण्डल-परिणामरूप अर्थपर्यायसे भिन्न ही है,

क्योंकि वे दोनो कुण्डल-व्यक्ति सुवर्णरूप समान द्रव्य और कुण्डलरूप समान आकार तथा पीत वर्ण, मृदुता आदि समान गुणधर्मोंके कारण तुल्य होने पर भी तत्त्वतः भिन्न ही हैं। इसी प्रकार पीलापन या मृदुता तुल्य प्रतीत होने पर भी वस्तुतः उनमें अन्तर अवश्य होता है। एक-जैसा ज्ञात होनेवाला पीलापन या मृदु स्पर्श अनेक व्यक्तियोमे तरतमभावसे रहता है। एकके पीलेपनकी अपेक्षा दूसरेके पीलेपनमें और दूसरेकी अपेक्षा तीसरेके पीलेपनमे संख्यात, असख्यात अथवा अनन्त गुण या भाग अल्पाधिकता होती है।[1]

एक ही पुरुषमे भेदाभेदकी व्यवस्था—

कोवं उप्पायंतो पुरिसो जीवस्स कारओ होइ।
तत्तो विभएयव्वो परम्मि सयमेव भइयव्वो॥ ७॥

अर्थ—कोप-परिणाम उत्पन्न करनेवाला पुरुष जीवका कारक होता है, इससे वह भेदयोग्य है और परभवमे स्वय ही विद्यमान होनेसे अभेदयोग्य है।

विवेचन—ससारी आत्मा अपनी भावी दशाका स्वय ही सर्जन करता है। इससे ऐसा मानना चाहिए कि भावी सृज्यमान दशारूप कार्यकी अपेक्षा सर्जक-अवस्थात्मक कारणरूपसे वह भिन्न है, क्योकि कार्यकारणभाव भेदगर्भित होता है। ऐसा होने पर भी वही सर्जक-अवस्थावाला आत्मा भावी सृज्यमान अवस्थामे विद्यमान होता है, दूसरा कोई नही। अत दशाभेदसे भेद होने पर भी दोनो दशामे मूल तत्त्व एक ही होनेके कारण कर्ता कार्यसे अभिन्न भी है। जैसे मृत्पिड पिण्डके रूपमे घटरूप कार्यका कारण होनेसे यद्यपि वे दोनों भिन्न हैं, फिर भी पिण्ड एव घट दोनो दशाओमे एक ही मृत्तिका अनुगत होनेसे उस रूपसे घट और पिण्ड अभिन्न भी हैं। इसी प्रकार जब कोई आत्मा प्रसाद, क्रोध आदि शुभ या अशुभ रूपमे परिणत होता है, तब वह परिणामानुसार अपनी भावी स्थिति बनाता है। इस तरह भावी स्थितिका कर्ता होनेसे उस भावी स्थितिसे वह भिन्न होनेपर भी वस्तुत दोनों अवस्थाओमे स्वय ही अनुगत होनेसे अभिन्न भी है।

---

१ प्रस्तुतमें व्यजनपर्यायके विचारकी तुलना बौद्धसम्मत अपोहकृत सामान्य (जाति) व्यवस्थाके साथ तथा अर्थपर्यायकी तुलना बौद्धसम्मत निरंश क्षणिक स्वलक्षणके साथ की जा सकती है।

द्रव्य और गुणके भेदका पूर्वपक्षके रूपमें निर्देश—

रूव-रस-गंध-फासा असमाणग्गहण-लक्खणा जम्हा ।
तम्हा दव्वाणुगया गुण त्ति ते केइ इच्छन्ति ॥ ८ ॥

अर्थ—चूंकि रूप, रस, गन्ध और स्पर्श द्रव्यसे भिन्न-प्रमाणग्राह्य तथा भिन्न लक्षणवाले दीखते हैं। अतः वे गुण द्रव्यके आश्रित हैं ऐसा कोई मानते हैं।

विवेचन—वैशेषिक आदि दर्शनान्तरके अनुयायी और कतिपय जैन[1] दर्शनानुयायी विद्वान् भी ऐसा मानते है कि जो भिन्न-भिन्न प्रमाणसे ग्राह्य हो अथवा जिनके लक्षण भिन्न हो उनके बीच भेद ही होता है, जैसे कि खम्भे और घड़के बीच। इसी प्रकार द्रव्यके ग्राहक प्रमाणकी अपेक्षा रूप आदिका ग्राहक प्रमाण भिन्न है, क्योंकि घट आदि पदार्थ नेत्र, स्पर्शन इन दो इन्द्रियोसे ग्राह्य बनते है और एक मानस-अनुसन्धानके विषय बनते है, जबकि रूप, स्पर्श आदि गुण केवल एक-एक इन्द्रिय-ग्राह्य है और उभय-इन्द्रियजन्य ग्रहणके मानस-अनुसन्धानके विषय नही बनते। इसी तरह दोनोके लक्षण भी भिन्न है। द्रव्य गुणाश्रय और क्रियाश्रय होता है, जबकि गुण द्रव्य मे रहते है और स्वय निर्गुण एव निष्क्रिय होते हैं। इसीलिए द्रव्यके आश्रयमे रहनेवाले गुण उससे भिन्न है, ऐसा ही मानना योग्य है।

द्रव्य और गुणके भेदके निरासके प्रसगमें गुण और पर्यायके अभेदकी चर्चा—

दूरे ता अण्णत्तं गुणसद्दे चेव ताव पारिच्छं ।
किं पज्जवाहिओ होज्ज पज्जवे चेव गुणसण्णा ॥ ९ ॥
दो उण णया भगवया दव्वट्ठिय-पज्जवट्ठिया नियया ।
एत्तो य गुणविसेसे गुणट्ठियणओ वि जुज्जंतो ॥ १० ॥
जं पुण अरिहया तेसु तेसु सुत्तेसु गोयमाईणं ।
पज्जवसण्णा णियमा वागरिया तेण पज्जाया ॥ ११ ॥

---

१. मूल गाथामें तो 'कोई' अर्थवाला 'केचिद्' पद है। टीकाकारने जो अर्थ किया है वही यहाँ लिया है। किन जैन विद्वानोंको लक्ष्य करके टीकाकारने 'स्वयूथ्य' अर्थ किया है यह नहीं कहा जा सकता। कहना हो तो इतना ही कहा जा सकता है कि गुणोंको द्रव्यसे अत्यन्त भिन्न माननेवाला कोई जैनाचार्य तो सम्भव ही नहीं है।

परिगमणं पज्जाओ अणेगकरणं गुण त्ति तुल्लत्था ।
तह वि ण 'गुण' त्ति भण्णइ पज्जवणयदेसणा जम्हा ॥ १२ ॥
जंपन्ति अत्थि समये एगगुणो दसगुणो अणंतगुणो ।
रूवाई परिणामो भण्णइ तम्हा गुणविसेसो ॥ १३ ॥
गुणसद्दमन्तरेणावि तं तु पज्जवविसेससंखाणं ।
सिज्झइ णवरं संखाणसत्थधम्मो 'तइगुणो' त्ति ॥ १४ ॥
जह दससु दसगुणम्मि य एगम्मि दसत्तणं समं चेव ।
अहियम्मि वि गुणसद्दे तहेय एयं पि दट्ठव्वं ॥ १५ ॥

अर्थ—द्रव्य और गुणका भेद तो दूर रहो, पहले गुण शब्दके विषयमे ही विचार करनेका है । वह यह कि क्या 'गुण' सज्ञा पर्यायसे भिन्न अर्थमे प्रयुक्त है या पर्यायके अर्थमे ही प्रयुक्त है ?

भगवान्ने द्रव्यास्तिक और पर्यायास्तिक ये दो ही नय निश्चित किये हैं । यदि उससे अर्थात् पर्यायसे गुण भिन्न होता तो गुणास्तिक नय भी उन्हे निश्चित करना चाहिए था ।

परन्तु चूँकि अरिहन्तने उन-उन सूत्रोमे गौतम आदिके समक्ष पर्याय सज्ञा निश्चित करके उसीका विवेचन किया है, अत ऐसा मानना चाहिए कि पर्याय ही है, अर्थात् पर्यायसे गुण भिन्न नही है ।

पर्याय अर्थात् वस्तुको विविध रूपमे परिणत करनेवाला और गुण अर्थात् वस्तुको अनेक रूप करनेवाला । इस तरह ये दोनो शब्द तुल्यार्थक ही है । ऐसा होने पर भी वह गुण ऐसा नही कहा जाता, क्योंकि देशना तो पर्यायनयकी ही है, गुणास्तिककी नही ।

कोई कहते है कि आगममे रूपादि परिणाम एकगुण काला,दस-गुण काला, अनन्तगुण काला इत्यादि रूपसे व्यपदिष्ट है । इसलिए पर्यायसे गुणका भेद कहा जाता है ।

रूपादिके बोधक गुण-शब्दके अतिरिक्त भी जो एकगुण कालक, दसगुण कालक आदि वचन है वे पर्यायगत विशेषोंकी संख्याके बोधक सिद्ध होते हैं (न कि गुणास्तिक नयके बोधक ।) विशेष यह है कि

'यह इतने गुना है' इतने कथनमात्रसे तो संख्यान (गणित) शास्त्रमें प्रसिद्ध सख्याधर्म ही सूचित होता है।

जिस तरह गुण शब्द अधिक होनेपर भी दस वस्तुओंमें और दसगुण एक वस्तुमें दसपना समान ही है, उसी तरह यह भी (एकगुण काला द्विगुण काला आदि) समझना चाहिए।

विवेचन—द्रव्य और गुणके भेदकी चर्चाके प्रसगमे इन दोनोके बीच भेद मानना या नही इसका निर्णय करनेके लिए पहले यह देखना चाहिए कि शास्त्रमें प्रयुक्त गुण शब्द मात्र पर्यायके अर्थका बोधक है या पर्यायसे भिन्न अन्य किसी अर्थका बोधक है? इन दो विकल्पोमे सिद्धान्त ऐसा फलित होता है कि वह पर्यायसे भिन्न किसी द्रव्यगत धर्मका—अर्थका बोधक नही है, क्योंकि भगवानने शास्त्रमें जो नयदेशना की है उसकी शब्दमर्यादा देखने पर ऐसा लगता है कि उनकी दृष्टिमें द्रव्यके धर्मके रूपमें गुण एव पर्यायके बीच कोई भी भेद नही है, अर्थात् दोनो एक ही है। इसका कारण यह है कि उन्होने द्रव्यास्तिक एव पर्यायास्तिक ऐसे दो ही नयविभाग किये है। यदि उनकी दृष्टिमे गुण शब्दका अर्थ पर्यायसे भिन्न ऐसा कोई द्रव्यगत धर्म होता तो वे पर्यायास्तिककी भाँति गुणास्तिक नय भी कहते।

परन्तु आगमगत सूत्रोमे गौतम आदि गणधरोके समक्ष भगवान्ने तो वर्ण-पर्याय, गन्धपर्याय आदि शब्दोका प्रयोग करके उसमे वर्ण आदिके साथ पर्याय शब्द ही लगाया है और उस शब्दका निर्वचन किया है; कही भी वर्णगुण, गन्धगुण आदि कहकर वर्ण आदिके साथ गुण शब्द नही लगाया। इससे यह स्पष्ट है कि भगवान्की दृष्टिमे गुण शब्दका प्रतिपाद्य अर्थ वर्ण आदि पर्याय ही है, उनसे भिन्न कोई द्रव्य-धर्म नही।

गुण और पर्याय शब्दकी निरुक्ति देखे, तो भी दोनोका अर्थ एक-सा ही निकलता है। किसी भी द्रव्यका सहभावी या क्रमभावी भेदोंमे बदलते रहना पर्याय है और किसी भी द्रव्यका अनेकरूपमे होते रहना गुण है। इस तरह पर्याय और गुण दोनो शब्दोका अर्थ यद्यपि तात्त्विक दृष्टिसे भिन्न नही है, तथापि भगवान्ने तो पर्यायनयकी देशना की है, अर्थात् वर्ण, गन्ध, रस आदि सभी द्रव्यधर्मों का पर्याय शब्दसे ही वर्णन किया है, गुण शब्दसे कही भी नही। इससे इतना फलित होता है कि पर्यायसे भिन्न गुण नही है।

यहाँ गुण और पर्यायके बीच भेद माननेवाला शका उपस्थित करके ऐसा कह सकता है कि आगममे रूपके विषयमे एकगुण काला, द्विगुण काला, अनन्त-गुण काला आदि जो व्यवहार है उसमे गुण शब्दका उपयोग हुआ है। इस परसे

तो ऐसा मानना चाहिए कि गुण शब्दकी देशना भी भगवान्‌ने की है और उसका विषय पर्यायसे भिन्न है।

इसका उत्तर यह है कि उस-उस स्थानमे रूप आदि बोधक गुण शब्दके बिना ही (अर्थात् वर्णगुण, गन्धगुण, रसगुण आदि प्रयोगके बिना ही) जो एकगुण काला, द्विगुण काला, अनन्तगुण काला आदि वचनोंमें गुण शब्दका प्रयोग हुआ है वह वर्ण आदि पर्यायोके परस्पर तरतमभावरूप विशेषोंकी संख्याका बोधक सिद्ध होता है; अर्थात् अमुक एक वर्णपर्यायकी अपेक्षा दूसरे सजातीय वर्णपर्यायोंमें जो वैषम्यका परिमाण है उसका बोधक सिद्ध होता है और वैषम्यका संख्यात्मक परिमाण तो गणितकी वस्तु है। 'यह पदार्थ दूसरे अमुक पदार्थकी अपेक्षा इतना गुना है' ऐसा कहनेसे वह पदार्थ दूसरे पदार्थकी अपेक्षा किसी बातमे इतना गुना अधिक और दूसरा पदार्थ पहले पदार्थकी अपेक्षा इतना गुना कम है; अर्थात् इससे यही सूचित होता है कि उन दो पदार्थोंके अमुक रूप, रस आदि सजातीय धर्मोंके बीच कितनी न्यूनाधिकता है। अतएव पर्यायसे भिन्न कोई गुणरूप द्रव्यधर्म सिद्ध नहीं होता।

अलग-अलग पडी हुई दस वस्तुओमे 'ये दस चीजे है' ऐसा व्यवहार होता है, और कोई एक ही वस्तु परिमाणमे दूसरी वस्तुकी अपेक्षा दसगुनी हो तो उसमे भी 'यह दसगुनी है' ऐसा व्यवहार होता है। इन दोनो व्यवहारोमे पहलेकी अपेक्षा दूसरे मे गुणशब्द अधिक है, फिर भी दसकी सख्या तो दोनोमे समान ही है। अर्थात् पहले स्थानमे धर्मीगत दशत्व सख्याके लिए दस शब्दका प्रयोग हुआ है, तो दूसरे स्थानमे धर्मीके एक होने पर भी उसके परिमाणका तारतम्य बतानेके लिए गुण शब्दके साथ दस शब्दका प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार परमाणु एकगुण काला, दसगुण काला, अनन्तगुण काला इत्यादि प्रयोगस्थलोमे गुण शब्दका अलगसे प्रयोग होता है, फिर भी उसका पर्यायशब्दके अर्थकी (द्रव्यगत धर्मरूप अर्थकी) अपेक्षा कोई दूसरा अर्थ नही है। वहाँ भिन्न-भिन्न सजातीय पर्यायोके बीच जो वैषम्यका—प्रकर्षापकर्षका परिमाण है, केवल उसीका बोधक गुणशब्द है। इस परसे यही फलित होता है कि पर्यायशब्दके प्रतिपाद्यसे भिन्न कोई द्रव्यगत धर्मरूप अर्थ गुणशब्दका प्रतिपाद्य नही है।

ऊपरके विवेचनसे यदि यह सिद्ध हुआ कि द्रव्यगत सभी धर्मोंको जैनशास्त्रमें पर्याय कहा है और ये पर्याय ही गुण शब्दके भी प्रतिपाद्य हैं, तो फिर द्रव्य और गुणके भेद या अभेदके बारेमे ऐसा निर्णय होता है कि गुण द्रव्यसे भिन्न नहीं, बल्कि अभिन्न है, क्योंकि गुण अर्थात् पर्याय और पर्याय तो द्रव्यरूप ही हैं तथा द्रव्य भी पर्यायरूप ही है। आत्मा ज्ञानरूप ही है, दर्शनरूप ही है आदि व्यवहारोमे तथा

घडा लाल है, पीला है आदि व्यवहारोंमें द्रव्य उस-उस पर्यायके रूपमें व्यवहृत होता है। इसलिए द्रव्य और पर्यायका अभेद सिद्ध ही है और यदि पर्यायका अभेद सिद्ध हो, तो फिर गुण उससे भिन्न न होनेके कारण उसका भी द्रव्यके साथ अभेद स्वतःसिद्ध हो जाता है।

द्रव्य और गुणके एकान्त अभेदवादीका ही विशेष कथन--

एयन्तपक्खवाओ जो उण दव्व-गुण-जाइभेयम्मि।
अह पुव्वपडिक्कुट्ठो उआहरणमित्तमेयं तु ॥ १६ ॥
पिउ-पुत्त-णत्तु-भव्वय-भाऊणं एगपुरिससंबंधो।
ण य सो एगस्स पिय त्ति सेसयाणं पिया होइ ॥ १७ ॥
जह संबंधविसिट्ठो सो पुरिसो पुरिसभावणिरइसओ।
तह दव्वमिंदियगयं रूवाइविसेसणं लहइ ॥ १८ ॥

अर्थ--द्रव्यजाति एव गुणजातिके भेदके विषयमे जो एकान्त पक्षपात है वह तो पहले ही दूषित किया जा चुका है। अब यहाँ जो कहनेका है वह तो है सिर्फ अभेदसाधक उदाहरण मात्र।

पिता, पुत्र, पौत्र, भानजा, और भाईका एक ही पुरुषके साथ भिन्न-भिन्न सम्बन्ध मानना चाहिए, क्योकि वह एकका पिता है इससे और सबका पिता नही होता।

जिस तरह सबके प्रति पुरुषके रूपमें समान होनेपर भी भिन्न-भिन्न सम्बन्धोंके कारण वह भिन्न-भिन्न बनता है, उसी तरह एक ही द्रव्य इन्द्रियोंसे सबद्ध होनेपर रूप आदि भेदोको प्राप्त होता है; अर्थात् रूप, रस आदि अनेक विशेषोंके रूपमे वह व्यवहृत होता है।

सिद्धान्तीका कथन---

होज्जाहि दुगुणमहुरं अणंतगुणकालयं तु जं दव्वं।
ण उ डहरओ महल्लो व होइ संबंधओ पुरिसो ॥१९॥

अर्थ--जो कोई द्रव्य द्विगुण मधुर या अनन्तगुण काला हो वह, तथा कोई पुरुष छोटा अथवा बड़ा हो वह, सम्बन्धमात्रसे तो नहीं घट सकता।

एकान्त अभेदवादीका बचाव—

भण्णइ सम्बन्धवसा जइ संबंधित्तणं अणुमयं ते ।
णणु संबंधविसेसं संबंधिविसेसणं सिद्धं ॥२०॥

अर्थ—हमारा ऐसा कहना है कि यदि सम्बन्धसामान्यके कारण सामान्य सम्बन्धीपना आपको मान्य हो,तो इसी न्यायसे सम्बन्धविशेषके कारण विशेष सम्बन्धीपना सिद्ध होगा।

सिद्धान्तीका कथन—

जुज्जइ सम्बंधवसा संबंधिविसेसणं ण उण एयं ।
णयणाइविसेसगओ रूवाइविसेसपरिणामो ॥ २१ ॥

अर्थ—सम्बन्धविशेषके कारण विशेषसम्बन्धीपना घट सकता है, परन्तु रूप आदि विशेष परिणाम नेत्र आदिके विशेषसम्बन्धके कारण है, इस विषयमे यह नहीं घटेगा।

एकान्त अभेदवादीका प्रश्न और उसका सिद्धान्ती द्वारा दिया गया उत्तर—

भण्णइ विसमपरिणयं कह एयं होहिइ त्ति उवणीयं ।
तं होइ परणिमित्तं ण व त्ति एत्थऽत्थि एगंतो ॥ २२ ॥

अर्थ—हम पूछते है कि द्रव्य विशेषपरिणामवाला कैसे बनेगा ? इसका उत्तर अनेकान्तवादी आप्तोने दिया है कि वह विषमपरिणाम-वाला पर-निमित्तोसे होता है और नही भी होता। इस बारेमे कोई एकान्त नही है।

विवेचन—पीछेकी चर्चासे पर्याय और गुण ये दोनो शब्द एकार्थक सिद्ध हुए, परन्तु मुख्य प्रश्न तो अभी खडा ही है और वह यह है कि द्रव्य और गुणका एकान्त भेद, जो कि किसीके मतके रूपमे उपस्थित किया गया है, स्वीकार करना या नही ? इसका उत्तर सिद्धान्ती दे, उसके पहले एकान्त अभेदवादी इस तरह देता है कि द्रव्यकी जाति और गुणकी जातिके बीच एकान्त भेद माननेके पक्षको तो पहले ही (प्रस्तुत काण्डकी गा० १-२ मे) अर्थात् सामान्य-विशेषका अभेद दिखलाते समय

दूषित किया गया है। इससे दोनोंके बीच अभेद अपने-आप फलित हो जाता है। यहाँ तो इस अभेदका विशेष स्पष्टीकरण करना ही हमारे लिए बाकी रहता है। जो नीचेके उदाहरणसे हो जाता है।

जैसे कोई एक ही पुरुष भिन्न-भिन्न व्यक्तियोके साथके भिन्न-भिन्न सम्बन्धोंके कारण पिता, पुत्र, पौत्र, भानजा, मामा, भाई आदि अनेक रूपसे व्यवहृत होता है, वह अमुक एक व्यक्तिका पिता है उससे सबका पिता नही बन जाता, इसी तरह एकका मामा है इससे सबका मामा नही बन जाता। वह पुरुषरूपसे सबके प्रति समान ही है, केवल उस-उस व्यक्तिके साथके भिन्न-भिन्न सम्बन्धोके कारण वह भिन्न-भिन्न नामोंसे पहचाना जाता है—व्यवहृत होता है। इसी तरह कोई भी द्रव्य तत्त्वत' एक सामान्य वस्तु ही है, उसमे सहज कोई विशेष नही है, फिर भी जब वही द्रव्य इन्द्रियोके सम्बन्धमे आकर नेत्रग्राह्य बनता है, तब रूप कहलाता है और जब घ्राण या रसन आदि इन्द्रियोका विषय बनता है तब गन्ध या रस आदिके रूपमे व्यवहृत होता है। मतलब कि सभी द्रव्य मात्र सामान्यरूप होते है। इसलिए उनमे कोई सहज विशेष नही है। जो विशेष कहे जाते है वे भिन्न-भिन्न इन्द्रियोंके सम्बन्धोसे होनेवाले भिन्न-भिन्न प्रतिभासोके कारण ही है। अत' गुण, जिसे जैन आगममे पर्याय कहा गया है, तत्त्वत द्रव्यसे भिन्न नही है। इसलिए द्रव्य-जाति और गुणजातिका भेद वास्तविक नही है। केवल एक द्रव्यजाति ही है, जिसे द्रव्याद्वैत भी कह सकते है।

अभेदवादी द्वारा एकान्त भेदका निरसन कराकर अब इस अभेदमे भी एकान्त-पनेका दोष न आने पाये इसके लिए अनेकान्तवादी सिद्धान्ती एकान्त अभेदके सामने कहता है कि यदि एकान्त रूपसे द्रव्य अर्थात् सामान्य ही माना जाय और उसमेंसे वास्तविक विशेषोको हटाकर केवल बाह्य उपाधियोके द्वारा ही विशेषके व्यवहारकी उपपत्ति की जाय, तो दो फलोका रसनेन्द्रियके साथ सम्बन्ध समान होने पर भी एककी अपेक्षा दूसरा दुगुना मधुर है और दूसरेकी अपेक्षा पहला आधा ही मधुर है ऐसा अनुभवसिद्ध भेद किस तरह घटेगा ? क्योकि मधुर तो रस है और वह रसनेन्द्रियसबधजनित विशेषके अतिरिक्त द्रव्याद्वैतवादमे दूसरा कुछ नही है, और सम्बन्ध तो दोनो फलोके साथ समान ही है। इसी तरह यदि नेत्रके सम्बन्धजनित विशेषके अतिरिक्त रूप जैसा कोई तत्त्व द्रव्यमे वास्तविक न हो, तो नेत्रके साथ समान सम्बन्ध रखनेवाले अनेक पदार्थोंमे एक अनन्तगुण काला और दूसरा उससे कम काला दिखाई देता है वह किस तरह घटेगा ? इतना ही नही, दृष्टान्त रूपसे लिये गये पुरुषके बारेमे भी पूछा जा सकता है कि यदि पुरुष

सामूहिक विशेषरहित मात्र सामान्यात्मक ही वस्तु हो और भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंके साथके सम्बन्धके कारण ही पिता, पुत्र आदि विशेषके रूपमें भासित होता हो, तो फिर पुरुष छोटा या बड़ा कहा जाता है वह ऐसे सम्बन्धसे किस तरह घटेगा ? अर्थात् एक पुरुष ऊँचाईमे दूसरेसे छोटा और तीसरेसे बडा दीखता और कहलाता हो, तो ऐसे स्थानमे उसका लघुत्व और महत्त्व वास्तविक न होनेसे यदि परसापेक्ष भासमात्र ही हो, तो वही पुरुष कभी पूर्वके दूसरे पुरुषकी अपेक्षा बडा और तीसरे पुरुषकी अपेक्षा छोटा दीखता है और कहा जाता है वह कैसे घटेगा ? क्योंकि जिस दूसरे पुरुषके सम्बन्धके कारण ही लघुत्व माना जाता था, उसी पुरुषका सम्बन्ध अब उसके महत्त्वका साधक कैसे बन सकता है ? और जिसका सम्बन्ध पहले महत्त्वका साधक था उसीका सम्बन्ध अब लघुत्वका साधक कैसे बनेगा ? अतएव दृष्टान्तभूत पुरुषमे अथवा दार्ष्टान्तिक फल आदि वस्तुओमे सिर्फ सामान्य तत्त्वको ही न मानकर उसमे विशेष भी वास्तविक रूपमे है ऐसा स्वीकार करना चाहिए। अन्य वस्तुओंके सम्बन्ध उन-उन विशेषोके मात्र व्यजक बनते है। इस परसे व्यजक सम्बन्धोको मान्य रखकर व्यग्य विशेषोका अपलाप नही किया जा सकता, क्योकि यदि स्वय विशेष ही भ्रान्त होगे तो एक-एक करके उन सबके मिथ्या सिद्ध होने पर अन्तमें सामान्य भी मिथ्या ही सिद्ध होगा। इसका कारण यह है कि सामान्य अर्थात् समान या एक; और यदि भेद न हो तो किसके समान और किसका एक कहा जाय ? अतएव विशेष अर्थात् गुण और सामान्य अर्थात् द्रव्य ये दोनो वास्तविक होने से भिन्न होने पर भी अभिन्न है ऐसा मानना चाहिए। मतलब कि अभेदका एकान्त भी बाधित होनेसे स्वीकार करने योग्य नही है।

यहाँ एकान्त-अभेदवादी अपने पक्षके बचावके लिए सिद्धान्तीसे ऐसा कहता है कि यदि तुम ऐसा मानते हो कि प्रत्येक वस्तु किसी-न-किसी प्रकारके सम्बन्धसे सम्बद्ध तो है ही और उसमे परस्पर सम्बन्धीपन घटता ही है, तो हम इस मान्यताको आगे बढाकर ऐसा कहेगे कि सम्बन्धके वैविध्यके कारण सम्बन्धी वस्तुमे वैविध्य क्यो नही सिद्ध होगा ?

इसका उत्तर सिद्धान्ती इस तरह देता है कि अवश्य ही विशेष-विशेष प्रकारके सम्बन्धके कारण एक ही वस्तु विशेष-विशेष प्रकारसे व्यवहृत होती है, जैसे कि एक ही मनुष्य लकडीके सम्बन्धसे लकडीवाला और पुस्तकके सम्बन्धसे पुस्तकवाला कहलाता है, परन्तु हमने जो अनेक वस्तुओके कालेपनमे वैषम्य बताया है उसकी उपपत्ति इन्द्रियके सम्बन्धमात्रसे कैसे होगी ? क्योकि कमोबेश काली वे सभी वस्तुएँ एक ही समयमें एक ही पुरुषकी नयनेन्द्रियके साथ एक-सा सम्बन्ध रखती

है। इसी तरह एक ही पुरुषकी रसनेन्द्रियके विषय बननेवाले दो फलोंके मधुर रसके वैषम्यका उपपादन रसके सम्बन्धमात्रसे कैसे हो सकेगा ? अतएव विशेषोंका व्यंग्यत्व भले ही व्यंजकाधीन हो, परन्तु उनका अस्तित्व तो स्वतःसिद्ध है ऐसा फलित होता है। विशेष ही गुण, पर्याय या परिणाम है। इससे द्रव्य और उनके बीच एकान्त भेद या अभेद न मानकर उसे कथंचित् ही मानना चाहिए।

यहाँ सिद्धान्तीके सामने एक प्रश्न उपस्थित होता है कि तुम द्रव्यमें पर्यायोंका जो वैषम्य सहज मानते हो वह कैसे होगा ? क्योकि जैसे किसी एक वस्तुमे सर्दी और गर्मी दोनोंका सम्भव विरुद्ध ही है, वैसे ही एक फल आदि वस्तुमे माधुर्य या अम्लताका वैषम्य भी विरुद्ध ही है। इसका उत्तर देते हुए सिद्धान्ती कहता है कि किसी भी वस्तुमें अमुक गुणोका जो वैषम्य होता है उसका आधार द्रव्य, क्षेत्र, काल आदि आसपासकी बाह्य स्थिति पर है। और, यह वैषम्य बाह्य संयोगोंके कारण ही होता है ऐसा भी नही है, क्योकि उसमे वह वस्तु स्वयं भी निमित्त है ही। अतः किसी भी वैषम्यपरिणामको मात्र बाह्यनिमित्तजन्य या मात्र स्वाश्रयभूत-वस्तुजन्य न मानकर उभयजन्य ही मानना चाहिए।

किसी भेदवादी द्वारा किये गये द्रव्य और गुणके लक्षणकी तथा उसके भेदवादकी समालोचना–

दव्वस्स ठिई जम्म-विगमा य गुणलक्खणं ति वत्तव्वं ।
एवं सइ केवलिणो[1] जुज्जइ तं णो उ दवियस्स ॥ २३ ॥
दव्वत्थंतरभूया मुत्ताऽमुत्ता य ते गुणा होज्ज ।
जइ मुत्ता परमाणू णत्थि अमुत्तेसु अग्गहणं ॥ २४ ॥

अर्थ—भेदवादी कहता है कि द्रव्यका लक्षण स्थिति और गुणका लक्षण उत्पत्ति और विनाश ऐसा कहना चाहिए। सिद्धान्ती कहता है कि यदि ऐसा मानोगे तो यह लक्षण केवल द्रव्य और केवल गुण इन भिन्न-भिन्न दोनो में घटेगा, परन्तु एक समग्र सत् वस्तुमें नही घटेगा।

और द्रव्यसे भिन्न वे गुण या तो मूर्त होगे या अमूर्त। यदि मूर्त हों तो कोई परमाणु ही नहीं रहेगा और अमूर्त हों तो उनका ज्ञान ही नही होगा।

---

१ यद्यपि टीकाकारने 'केवलिणो' पाठ मानकर अर्थ किया है, परन्तु हमें ऐसा जान पड़ता है कि यहाँ 'केवलाण' पाठ ग्रन्थकारको अभिप्रेत होगा।

विवेचन—कोई भेदवादी स्थिरताको द्रव्यका लक्षण और उत्पत्ति-विनाशको गुणका लक्षण कहता है। उसके विरुद्ध ग्रन्थकार कहते हैं कि ये दोनों लक्षण द्रव्य एवं गुणके एकान्त भेद पर अवलम्बित हैं। इससे वे केवल धर्मी अर्थात् गुणशून्य आधारमें और केवल धर्म अर्थात् आधारशून्य गुणमें ही घटेंगे; परन्तु धर्म और धर्मी इस तरह केवल एकान्तभिन्न हैं ही नहीं, वे तो परस्पर अभिन्न भी हैं। धर्मी भी, धर्मकी भाँति, उत्पाद-विनाशवान् ही है और धर्म भी, धर्मीकी भाँति, स्थिर है ही। इसलिए धर्मीको मात्र स्थिर कहने में और धर्मको मात्र अस्थिर कहनेमें लक्षणकी अपूर्णता है। पूर्ण लक्षण तो यदि परस्पर अभिन्न धर्म-धर्मी उभयरूप वस्तुको मिलाकर बनाया जाय तभी घट सकता है। ऐसा लक्षण वाचक उमास्वातिने तत्त्वार्थसूत्र ५ २९ में बनाया है। वह कहते हैं कि जो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त हो वह सत् अर्थात् धर्म-धर्मी उभयरूप वस्तु है। भेद-दृष्टिसे बनाये गये उक्त दोनों लक्षणोंमेंसे एक भी लक्षण इस सत् वस्तुको लागू नहीं हो सकता।

भेददृष्टिको दूषित सिद्ध करनेके लिए उसके आधार पर रचित उपर्युक्त लक्षणोंमें अव्याप्ति दोष दिखानेके अलावा ग्रन्थकार दूसरी तरहसे भी दोषदर्शन कराते हैं। वह भेदवादीसे पूछते हैं कि द्रव्यसे भिन्न माने गये गुणोंको तुम मूर्त अर्थात् इन्द्रियग्राह्य मानते हो या अमूर्त अर्थात् इन्द्रिय-अग्राह्य ? यदि मूर्त कहोगे, तो परमाणु अतीन्द्रिय द्रव्य माना जाता है वही नहीं रहेगा, क्योंकि मूर्त या इन्द्रियग्राह्य गुणके आधार होनेसे परमाणु भी इन्द्रियग्राह्य हो जाएँगे, और ऐसा हो तो अतीन्द्रियत्वके न रहनेमें उनका परमाणुत्व भी कैसे रहेगा ? यदि गुणोंको अमूर्त कहोगे, तो वे कभी भी इन्द्रियज्ञानके विषय ही नहीं बनने चाहिए, किन्तु घट, पट आदिमें इससे उल्टा है। अतएव एकान्त भेदपक्षमें गुणोंको केवल मूर्त अथवा केवल अमूर्त माननेसे उक्त दोष आनेके कारण उन्हें अभिन्न मानना चाहिए। ऐसा मानने पर उक्त दोष नहीं आते। जहाँ द्रव्य स्वयं ही मूर्त अर्थात् इन्द्रियग्राह्य हो वहाँ उसके गुण मूर्त और जहाँ द्रव्य स्वयं ही अमूर्त हो वहाँ उसके गुण अमूर्त मानने चाहिए। ऐसा होनेसे अतीन्द्रिय परमाणुके गुण अतीन्द्रिय ही हैं और ऐन्द्रियक घट, पट आदिके गुण ऐन्द्रियक हैं।

प्रस्तुत चर्चा का प्रयोजन—

सीसमईविप्फारणमेत्तत्थोऽयं कओ समुल्लावो ।
इहरा कहामुहं चेव णत्थि एवं ससमयम्मि ॥ २५ ॥
ण वि अत्थि अण्णवादो ण वि तव्वाओ जिणोवएसम्मि ।
तं चेव य मण्णंता अमण्णंता ण याणंति ॥ २६ ॥

अर्थ—यह प्रबन्ध केवल शिष्योंकी बुद्धिके विकासके लिए है, अन्यथा स्वशास्त्रमें तो इस तरह कथाके आरम्भके लिए भी अवकाश नहीं है। क्योंकि—

जैन उपदेशमें न तो भेदवाद ही है और न अभेदवाद ही। वही है ऐसा माननेवाले जिनोपदेशकी अवज्ञा करनेके कारण कुछ भी नहीं जानते।

विवेचन—द्रव्य और गुणके भेद-अभेद पर इतनी अधिक लम्बी चर्चा करनेके पश्चात् ग्रन्थकार स्वय ही उसके प्रयोजन के विषयमे कहते है कि सच पूछा जाय तो ऐसी चर्चाके लिए जैन सिद्धान्तमे स्थान ही नही है, क्योकि उसमें गुण-गुणीका मात्र भेद या मात्र अभेद माना ही नही गया। जो गुणको गुणीसे भिन्न ही अथवा गुणीस्वरूप ही मानते है वे वस्तुकी यथार्थताका लोप करनेसे वस्तुत अज्ञानी ही है। जैन शास्त्रमे एकान्तवादके लिए स्थान ही नही है। ऐसा होने पर भी यहाँ एकान्तवादके पूर्वपक्षकी भूमिका पर जो विस्तृत चर्चा की गई है उसका प्रयोजन केवल जिज्ञासु शिष्योकी विचारशक्तिको विकसित करना ही है। इसलिए उन्हे जानना चाहिए कि पूर्वपक्ष जैनमताश्रित नही, किन्तु अन्यमताश्रित है। भेदवाद न्याय, वैशेषिक आदि दर्शनोकी छाया है, तो अभेदवाद साख्य आदि दर्शनोंकी छाया है। इन दोनो वादोके समुचित समन्वयमे जैन अनेकान्तदृष्टि समा जाती है।

अनेकान्तकी व्यापकता

भयणा विहु भइयव्वा जइ भयणा भयइ सव्वदव्वाइं।
एवं भयणा णियमो वि होइ समयाविरोहेण॥ २७॥
णियमेण सद्दहंतो छक्काए भावओ न सद्दहइ।
हंदी अपज्जवेसु वि सद्दहणा होइ अविभत्ता॥ २८॥

अर्थ—जिस तरह अनेकान्त सब वस्तुओको विकल्पनीय करता है, उसी तरह अनेकान्त भी विकल्पका विषय बनने योग्य है। ऐसा होनेसे सिद्धान्तका विरोध न हो इस तरह अनेकान्त एकान्त भी होता है।

छ. कायोंकी नियमसे श्रद्धा करनेवाला पुरुष भावसे श्रद्धा नहीं करता, क्योंकि अपर्यायोंमें अर्थात् द्रव्योंमें भी अविभक्त श्रद्धा होती है।

विवेचन—अनेकान्तदृष्टि एक प्रकारकी प्रमाणपद्धति है। वह ऐसी व्यापक है कि जैसे वह अन्य सभी प्रमेयोमे लागू होकर उनका स्वरूप निश्चित करती है, वैसे ही वह अपने विषयमे भी लागू होती है और अपना स्वरूप विशेष स्फुट करती है। प्रमेयोंमे लागू होनेका अर्थ यह है कि उनके बारेमें स्वरूप-विषयक जो भिन्न-भिन्न दृष्टियाँ बँध गई है अथवा बँधनेका सम्भव है, उन सब दृष्टियोका योग्य रूपसे समन्वय करके अर्थात् उन सब दृष्टियोका स्थान निश्चित करके प्रमेयोंका स्वरूप कैसा होना चाहिए यह स्थिर करना। जैसे कि—जगत्के मूल-तत्त्व जड और चेतनके विषयमे अनेक दृष्टियाँ है। कोई उन्हे मात्र भिन्न मानता है, तो कोई मात्र अभिन्न। कोई उन्हे मात्र नित्यरूप मानता है, तो कोई मात्र अनित्यरूप। कोई उन्हे एक मानता है, तो कोई अनेक कहता है। इन और इनके जैसे अनेक विकल्पोके स्वरूप, तारतम्य और अविरोधीपनेका विचार करके समन्वय करना कि ये तत्त्व सामान्य दृष्टिसे देखने पर अभिन्न, नित्य और एक है तथा विशेष दृष्टिसे देखने पर भिन्न, अनित्य और अनेक भी है। प्रमेयके विषयमे अनेकान्तकी प्रवृत्तिका यह एक उदाहरण हुआ।

इसी प्रकार अनेकान्तदृष्टि जब अपने विषयमे प्रवृत्त होती है, तब अपने स्वरूपके विषय में वह सूचित करती है कि वह अनेक दृष्टियोका समुच्चय होनेसे अनेकान्त तो है ही, परन्तु वह एक स्वतन्त्र दृष्टि होनेसे उस रूपमे एकान्त दृष्टि भी है। इसी तरह अनेकान्त दूसरा कुछ नही है, वह तो भिन्न-भिन्न दृष्टिरूप इकाइयो का सच्चा जोड है। ऐसा होनेसे वह अनेकान्त होने पर भी एकान्त भी है ही। अलबत्ता, इसमे इतनी विशेषता है कि यह एकान्त यथार्थताका विरोधी नही होना चाहिए। साराश यह है कि अनेकान्तमे सापेक्ष (सम्यक्) एकान्तोको स्थान है ही।

जैसे अनेकान्तदृष्टि एकान्तदृष्टिके आधार पर प्रवर्तित मतान्तरोके अभिनिवेशसे बचनेकी शिक्षा देती है, वैसे ही वह अनेकान्तदृष्टिके नामसे जमनेवाले एकान्तग्रहोंसे बचनेकी भी शिक्षा देती है। जैन प्रवचन अनेकान्तरूप है ऐसा माननेवाला भी यदि उसमे आये हुए विचारोको एकान्तरूपसे ग्रहण करे, तो वह स्थूल दृष्टिसे अनेकान्तसेवी होने पर भी तात्त्विक दृष्टिसे एकान्ती ही बन जाता है। इससे वह सम्यग्दृष्टि नही रहता। उदाहरणस्वरूप ज्ञान और आचारकी एक-एक बात हम यहाँ ले।

जैन शास्त्रमे ससारी जीवके छ निकाय (जातियाँ) बताये गये है और आचारके बारेमें कहा है कि हिंसा अर्थात् जीवघात, और वह अधर्मका कारण है। इन दोनों विचारोंको एकान्त रूपसे ग्रहण करनेमें यथार्थताका लोप होनेसे अनेकान्त-

दृष्टि ही नही रहती। जीवकी छः ही जातियाँ हैं अथवा छ. जातियाँ ही हैं ऐसा एकान्त मानने पर चैतन्यरूपसे जीवतत्त्वका एकत्व भुला दिया जाता है और दृष्टिमें मात्र भेद ही आता है। अत पृथ्वीकाय आदि छः विभागोंको एकान्तरूपसे ग्रहण न करके उनमे चैतन्यके रूपमे जीवतत्त्वका एकत्व भी माना जाय तो वह यथार्थ ही है। इसी तरह 'आत्मा एक है तथा अनेक है' इस प्रकारके भिन्न-भिन्न शास्त्रीय वाक्योका समन्वय होता है।

इसी प्रकार जीवघातको एकान्त हिंसारूप समझनेमें भी यथार्थताका लोप होता है, क्योंकि प्रसगविशेषमे जीवका घात हिंसारूप नही भी होता। कोई अप्रमत्त मुनि सम्पूर्ण रूपसे जाग्रत रहने पर और सम्पूर्ण यतना—सावधानी रखने पर भी जब जीवको नही बचा सकता, तब उसके द्वारा हुआ वह जीवघात हिंसाकी कोटिमे नही आता। मतलब कि कभी-कभी जीवघात अहिंसाकी कोटिमें भी आता है। अत. जीवघातको एकान्त हिंसारूप या एकान्त अहिंसारूप न मानकर योग्य रूपसे उभयस्वरूप समझनेमे ही अनेकान्तदृष्टि है और यही सम्यग्दृष्टि है।

प्रमेयको लेकर अनेकान्तदृष्टि लागू करनेके कतिपय दृष्टान्त—

गइपरिगयं गई चेव केइ णियमेण दवियमिच्छन्ति।
तं पि य उड्ढगईयं तहा गई अन्नहा अगई॥ २९॥
गुणणिव्वत्तियसण्णा एवं दहणादओ वि दट्ठव्वा।
जं तु जहा पडिसिद्धं दव्वमदव्वं तहा होइ॥ ३०॥
कुंभो ण जीवदवियं जीवो वि ण होइ कुंभदवियं ति।
तम्हा दो वि अदवियं अण्णोण्णविसेसिया होंति॥ ३१॥

अर्थ—कोई गतिपरिणत द्रव्यको गतिवाला ही मानता है। वह भी ऊर्ध्वगतिवाला होनेसे उस रूपमें गतिवाला है और दूसरे रूपमें अगतिवाला है।

इसी भाँति गुणसे सिद्ध संज्ञावाले दहन आदि समझने चाहिए, क्योंकि जो द्रव्य अर्थात् भाव जिस प्रकारसे निषिद्ध हो वह उस प्रकार से अद्रव्य अर्थात् अभावात्मक होता है।

घड़ा जीवद्रव्य नहीं है और जीव भी कुम्भद्रव्य नहीं है। इससे परस्पर भिन्न ये दोनों भी उस-उस रूपमें अद्रव्य हैं।

विवेचन—जिसमे अनेकान्तदृष्टि लागू करनी हो उसका स्वरूप बहुत बारीकीसे जाँचना चाहिए। ऐसा करनेसे स्थूल दृष्टिसे दिखाई पड़नेवाले कितने ही विरोध अपने आप दूर हो जाते है और विचारणीय वस्तुका तात्त्विक स्वरूप सुनिश्चित रूपसे ध्यानमें आता है। इस वस्तुस्थितिको स्पष्ट करनेके लिए ग्रन्थकार यहाँ गतियुक्त द्रव्यका, दहन, पवन आदि सज्ञाओका तथा जीव, घट आदिकी भावात्मकताका—इस तरह तीन दृष्टान्त अनुक्रमसे लेते है।

स्थूल दृष्टिसे विचार करनेवाला कोई भी व्यक्ति जब अमुक वस्तुको गतिशील देखता है तब वह ऐसा ही मानता और कहता है कि यह वस्तु गतिवाली ही है और उसमे गतिका अभाव नही है। यह मान्यता कितने अशमे सच है यह जाँचनेके लिए तनिक गहराईमे उतरने पर दिखाई देता है कि तिनका जब गतिमे होता है उस समय भी वह पूर्व, पश्चिम, ऊपर, नीचे आदि सभी दिशा-विदिशाओमे गति नही करता। यदि वह ऊँचे उडता है तो नीचेकी दिशामे गति नही करता और यदि वह पूर्व दिशामे उडता है तो पश्चिम दिशामे उसकी गति नही होती। इसी तरह एक समयमे किसी भी एक दिशामे ही गति सम्भव होनेसे उस समय उस वस्तुमे दूसरी दिशाओकी अपेक्षासे गति नही है। इस तरह सूक्ष्म दृष्टिसे दिखाई पडने-वाले सापेक्ष गति और उसके अभावके कारण स्थूल दृष्टिसे एक ही वस्तुमें भासित होनेवाला गति-अगतिका विरोध अपने आप दूर हो जाता है, और वह वस्तु एक ही कालमे किस तरह गतिवाली और किस तरह गतिरहित है यह अनेकान्तदृष्टिसे निश्चित हो जाता है।

आग लकडी आदिको दहती है—जलाती है इसलिए वह दहन है और वायु भूसे आदिको उडाकर अनाजको सूपकी भाँति साफ करती है इसलिए उसको पवन कहते है। दहन, पवन आदि शब्दोकी व्युत्पत्ति जाननेवाला यदि स्थूलदृष्टि युक्त हो, तो दहनको अदहन और पवनको अपवन कहते हुए किसीको सुनकर वह अवश्य विरोध मानेगा और कहेगा कि ऐसा कहना मिथ्या है। यहाँ सत्य जानना हो तो थोडे प्रश्न पूछना ही पर्याप्त होगा। आग जलाती है इसीलिए वह दहन कहलाती है न? यदि ऐसा हो तो वह घास आदि जलने जैसी चीजोको जलाती है, पर आकाश, आत्मा आदि अमूर्त वस्तुओको कहाँ जलाती है? इसलिए दाह्य वस्तुओकी अपेक्षासे वह दहन होने पर भी अदाह्य वस्तुओकी अपेक्षासे दहन नही है। परन्तु इस तरह देखने पर 'दहन' यौगिक नाम होनेसे जहाँ वह दाह नही कर सकता वहाँ वह इस नामको धारण ही नही कर सकता। अत एक ही आगमे दहनपना और

अवहनपना सापेक्षरूपसे है ही, इनमें कोई भी विरोध नही है—यह बात अनेकान्त-दृष्टि सिद्ध करती है। यही युक्ति पवनमें भी लागू होती है।

जीव एक स्वतंत्र द्रव्य अर्थात् भावात्मक वस्तु है। इसी तरह घट आदि पुद्गल भी स्वतन्त्र द्रव्य होनेसे भावात्मक वस्तु है। इन दोनो द्रव्योंको कोई अभावात्मक कहे, तो स्थूलदृष्टिवालेको उसमें विरोध ही प्रतीत होगा। ऐसा व्यक्ति कह सकता है कि यदि जीव एक द्रव्य है, तो वह अभावात्मक कैसे हो सकता है? इसी तरह घट भी पुद्गल द्रव्य होनेसे अभावात्मक कैसे हो सकता है? उसे प्रतीत होनेवाला यह विरोध कितने अशोमे ठीक है, यह देखनेके लिए इन दोनो द्रव्योकी तुलना करनी पडेगी। यह तो सच है कि जीव एक द्रव्य है और घट भी एक द्रव्य है, परन्तु क्या दोनो द्रव्य सर्वाशमे समान ही है। यदि अनुभव ऐसा कहे कि इन दोनोमें अन्तर भी है और वह यह है कि एकमे चैतन्य है, जो दूसरेमे नही है तथा दूसरेमें जो रूप आदि मूर्त गुण है वे पहलेमे नही है, तो इस कथनका अर्थ यही होगा कि जीव चैतन्यरूपसे तो है, किन्तु रूप आदि गुणस्वरूप नही है। इसी तरह घट रूप आदि पौद्गलिक धर्मस्वरूप है, चैतन्यरूप नही। यह सब देखनेपर जो पहले भावात्मकता और अभावात्मकताके बीच विरोध प्रतीत होता था, वह रहता ही नही और वे दोनो अश सापेक्षरूपसे बराबर ठीक हो जाते है, तथा निश्चय होता है कि जीवद्रव्य चैतन्यरूपसे भावात्मक होनेपर भी जिस पौद्गलिक स्वरूपसे वह नही है उसकी दृष्टिसे तो वह अभावात्मक भी है। यही न्याय घट आदि पौद्गलिक द्रव्योमे भी लागू होता है।

द्रव्यगत उत्पाद एव नाशके प्रकार—

उप्पाओ दुवियप्पो पओगजणिओ य वीससा चेव।
तत्थ उ पओगजणिओ समुदयवायो अपरिसुद्धो॥ ३२॥
साभाविओ वि समुदयकओ व्व एगंतिओ (एगत्तिओ) व्व होज्जाहि।
आगासाईआणं तिण्हं परपच्चओऽणियमा॥ ३३॥
विगमस्स वि एस विही समुदयजणियम्मि सो उ दुवियप्पो।
समुदयविभागमेत्तं अत्थंतरभावगमणं च॥ ३४॥

अर्थ—उत्पाद प्रयत्नजन्य और वैस्रसिक (अप्रयत्नजन्य अर्थात् स्वाभाविक) इस तरह दो प्रकारका है। इनमेंसे जो प्रयत्नजन्य है वह तो समुदायवादके नामसे प्रसिद्ध है और वह अपरिशुद्ध भी कहलाता है।

स्वाभाविक (वैस्रसिक) उत्पाद समुदायकृत और ऐकत्विक इस तरह दो प्रकार का है। ऐकत्विक उत्पाद आकाश आदि तीन द्रव्योंमें परनिमित्तजन्यके रूपमें अनियमसे दिखाई पडता है।

विनाशका भी यही क्रम है। समुदायकृत उत्पादमें अर्थात् प्रयत्न-जन्य और स्वाभाविक दोनों प्रकारके समुदायकृत उत्पादमें यह विनाश दो-दो प्रकारका है। इनमेंसे एक तो समुदायका मात्र विभागरूप है और दूसरा अर्थान्तरभावकी प्राप्तिरूप है।

विवेचन—ईश्वरवादी दर्शनोके मतानुसार प्राणीके प्रयत्नसे और प्राणीके प्रयत्नके बिना ही जन्य दिखाई पडनेवाले प्रत्येक जन्य पदार्थका उत्पाद और विनाश ईश्वराधीन होनेसे ईश्वरप्रयत्नजनित है। यह मत जैनदर्शनको मान्य नही है यह सूचित करनेके लिए ग्रन्थकार कहते है कि सब पदार्थोका उत्पाद एव विनाश मात्र प्रयत्नजन्य नही है, क्योकि ईश्वरका कर्तृत्व सम्भव ही नही है। अत अनुभवके अनु-सार जहाँ किसी भी प्राणीका प्रयत्न हो वहाँ उत्पाद और विनाशको प्रयत्नजन्य और जहाँ किसीका प्रयत्न न हो वहाँ उत्पाद एव विनाशको अप्रयत्नजन्य मानना ही उचित है। इस परसे यही फलित हुआ कि जन्य पदार्थके उत्पाद और विनाश दोनों प्रायोगिक (प्रयत्नजन्य) और वैस्रसिक (अप्रयत्नजन्य या स्वाभाविक) इस तरह दो-दो प्रकारके है। अत उन्हे वैशेषिक आदि दर्शनोकी भाँति मात्र प्रायोगिक मानना अनुभवविरुद्ध है।

उत्पात और विनाशका विशेष स्वरूप

सामुदायिक—बिखरे हुए अवयवोके सयोगसे समुदायके रूपमे पदार्थका जो उत्पाद होता है वह सामुदायिक उत्पाद है। इसीको जैनदर्शनमें स्कन्ध और न्याय आदि दर्शनोमें अवयवी कहते है। यह उत्पाद किसी एक ही द्रव्यके आश्रित न होनेसे अपरिशुद्ध भी कहलाता है। इसी प्रकार समुदाय, स्कन्ध अथवा अवयवीके रूपमें उत्पन्न पदार्थका जो नाश होता है वह सामुदायिक नाश है। सामुदायिक उत्पाद एव विनाश दोनो जन्यस्कन्धसापेक्ष होनेसे और वैसा स्कन्ध पुद्गल द्रव्यमे ही सम्भव होनेसे वे दोनो मूर्त द्रव्यमे ही घट सकते है, अमूर्तमे नही, क्योकि अमूर्त द्रव्यका जन्य स्कन्ध सम्भव ही नही है। सामुदायिक उत्पाद और विनाश दोनो प्रायोगिक एव वैस्रसिक दो-दो प्रकारके होते है। घट, पट आदि जो स्कन्ध किसी-न-किसीके प्रयत्नसे बनते है तथा नष्ट होते है, उनका वैसा सामुदायिक उत्पाद और

विनाश प्रायोगिक कहा जाता है; और बादल, पहाड़ आदि जो स्कन्ध किसीके प्रयत्न-के बिना ही उत्पन्न एवं नष्ट होते हैं, वे सामुदायिक उत्पाद और विनाश वैस्रसिक हैं।

ऐकत्विक—किसी दूसरे द्रव्यके साथ मिलकर स्कन्धत्वका रूप धारण किये बिना ही रहनेवाले अर्थात् स्वतंत्र एक-एक द्रव्य-व्यक्तिमें जो उत्पाद एवं विनाश होता है वह ऐकत्विक उत्पाद और विनाश है। ऐसा उत्पाद और विनाश स्कन्धाश्रित न होनेसे परिशुद्ध भी कहा जा सकता है। ऐसे उत्पाद और विनाशका विषय अमूर्त द्रव्य, और उनमें भी जो अमूर्त द्रव्य मात्र एक-एक व्यक्तिरूप होते हैं वे ही, हो सकते हैं। इसीलिए आकाश, धर्म और अधर्म इन तीन अस्तिकायोमे ऐकत्विक उत्पाद एवं विनाश माना जाता है। यह उत्पाद और विनाश मात्र वैस्रसिक होता है, प्रायोगिक नही, क्योकि आकाश आदि उक्त तीनो द्रव्य परिणामी होनेपर भी गतिक्रियासे रहित होनेके कारण उनमे पुद्‌गलकी तरह प्रयत्नके लिए अवकाश ही नही होता। क्रियाशील पुद्‌गल एव चैतन्यकी अवगाहन तथा गति-स्थिति क्रियामें देश एव कालभेदसे तटस्थ निमित्त बनना या न बनना ही आकाश आदि उक्त तीनों द्रव्योका उत्पाद और विनाश है। यह उत्पाद-विनाश मात्र परसापेक्ष होनेसे अनियत है।

विनाशके[1] बारेमे खास बात जाननेकी यह है कि प्रायोगिक एव वैस्रसिक दोनो प्रकारका सामुदायिक विनाश समुदायविभागमात्र तथा अर्थान्तरभावप्राप्ति इस प्रकार दो-दो तरहका है। समुदायके भग होनेसे अवयवोका अलग हो जाना और स्कन्धपना छोड देना—ऐसा नाश समुदायविभागमात्र कहा जाता है। इसका प्रायोगिक दृष्टान्त है मकानके टूटनेसे ईंट आदि अवयवोका अलग पड जाना, और वैस्रसिक दृष्टान्त है बिना प्रयत्नके ही बादलके बिखर जानेसे अथवा पहाडके टूटनेसे उसके अवयवोका छितरा जाना। अवयवोंका विभाग हुए बिना ही स्कन्ध द्रव्यका पूर्व आकार छोडकर दूसरे आकारमे बदल जाना अर्थान्तरभावप्राप्तिरूप विनाश है। इसका प्रायोगिक दृष्टान्त कडेका कुण्डल बनाना है, तो वैस्रसिक दृष्टान्त बरफ-का पानी और पानीका वायुके रूपमे भौतिक परिस्थिति अथवा ऋतुके प्रभाव आदिसे बदल जाना है।

यहाँ यह प्रश्न होता है कि ससारी और मुक्त आत्मामे पर्यायोका जो उत्पाद-विनाश होता है उसे तथा अलग-अलग स्वतत्र परमाणुओमे पर्यायोका जो उत्पाद-विनाश होता है उसे प्रायोगिक या वैस्रसिक उत्पाद-विनाशमें यहाँ क्यों नही रखा

---

१ प्रस्तुत उत्पाद और विनाशका समग्र विचार तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति अ. ५, सू. २९ (पृ ३८३) में आता है।

गया ? इसके उत्तरका विचार करते समय ग्रन्थकारके दो आशय हों ऐसा प्रतीत होता है। ईश्वरके कर्तृत्वके प्रसंगमें प्रायोगिक एवं वैस्रसिककी चर्चा होनेसे जिस-जिस पदार्थके बारेमें ईश्वरके कर्तृत्व-विषयक किसीकी मान्यता हो, उस-उस पदार्थका ही उत्पाद-विनाश यहाँ प्रस्तुत है। इसीसे परमाणु या चेतन द्रव्यको यहाँ नहीं लिया गया, क्योंकि कोई भी ईश्वरकारणबादी परमाणु या चेतन द्रव्यको जन्य मानता ही नही। अवयवीमात्रको ईश्वरजन्य माननेवाले वैशेषिक आदि है और आकाशको ईश्वरजन्य माननेवाला औपनिषद दर्शन है। इसीलिए ऐसा सम्भव है कि मूर्त द्रव्यमेंसे परमाणुको और अमूर्त द्रव्यमेंसे आत्माको छोडकर ही यहाँ चर्चा की गई हो।[१] जो द्रव्य स्कन्धरूप है उन्हीकी चर्चा यहाँ प्रस्तुत है। परमाणु तो स्कन्ध नही है; और यद्यपि आत्मा आकाशकी भाँति प्रदेशोका अनादि स्कन्ध है, फिर भी उसके उत्पाद एव विनाशका ही विचार सातवी गाथामे आ जाता है। इसलिए उसे यहाँ नही लिया होगा। वह स्वय ही अपनी अवस्थाका कर्ता होनेसे उसके पर्यायोका उत्पाद-विनाश उसके अपने प्रयत्नकी अपेक्षासे प्रायोगिक ही कहा जा सकता है। जीव किसी भी दशामे अवस्थित क्यो न हो, उसके पर्याय उसके अपने ही वीर्यसे जन्य होनेके कारण प्रायोगिक ही है, फिर चाहे वह वीर्य अभिसन्धिज (इच्छापूर्वक) वीर्य हो या अनभिसन्धिज (इच्छारहित) वीर्य।

उत्पत्ति, नाश एवं स्थितिके कालभेद आदिकी चर्चा

तिण्णि वि उप्पायाई अभिण्णकाला य भिण्णकाला य ।
अत्थंतरं अणत्थंतरं च दवियाहि णायव्वा ॥ ३५ ॥
जो आउंचणकालो सो चेव पसारियस्स वि ण जुत्तो ।
तेसिं पुण पडिवत्ती-विगमे कालंतरं णत्थि ॥ ३६ ॥
उप्पज्जमाणकालं उप्पण्णं ति विगयं विगच्छंतं ।
दवियं पण्णवयंतो तिकालविसयं विसेसेइ ॥ ३७ ॥

अर्थ—उत्पाद आदि तीनोका काल अभिन्न भी है और भिन्न भी है, तथा उन्हे द्रव्यसे भिन्न एव अभिन्न जानना चाहिए।

जो आकुचन-काल है वही प्रसरणका भी युक्त नही है, और उस आकुचन एव प्रसरणके उत्पाद-विनाशमे कालका अतर अर्थात् भेद नही है।

---

१ देखो तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति पृ. १८९-९० ।

उत्पन्न होते हुए द्रव्यको यह उत्पन्न हुआ है (और उत्पन्न होनेवाला है) तथा नष्ट हुआ है, नष्ट हो रहा है (और नष्ट होनेवाला है)— इस तरह जतानेवाला पुरुष उस द्रव्यको त्रिकालके विषयके रूपसे विशिष्ट बनाता है।

विवेचन—सत्का लक्षण उत्पाद, विनाश और स्थिति किया गया है। इसका विशेष स्पष्टीकरण करते हुए ग्रन्थकार कहते है कि लक्षणभूत उत्पाद आदि तीनो अशोंका काल एक-दूसरेसे भिन्न भी है और अभिन्न भी है। इसी प्रकार यह लक्षण भी लक्ष्यभूत द्रव्य अर्थात् सत्से भिन्न भी है और अभिन्न भी है।

प्रत्येक वस्तु द्रव्य और पर्याय उभयरूप होनेसे उसका सम्पूर्ण स्वरूप इन दोनोंमे ही समाता है। कुछ पर्याय परस्परविरोधी होनेसे क्रमवर्ती होते है, तो कुछ अविरोधी होनेसे सहवर्ती होते है। क्रमवर्ती दो पर्यायोको लेकर उनके उत्पाद एवं विनाशका विचार करे, तो वे समकालीन है ऐसा कहना चाहिए, क्योकि अनन्तर पूर्वपर्यायकी अन्तिम कालसीमा ही उत्तरपर्यायकी आदि कालसीमा होती है। परन्तु किसी भी एक पर्यायको लेकर उसके उत्पाद एव विनाशके समयका विचार करे, तो ज्ञात होगा कि वे दोनो भिन्नकालीन है, क्योकि एक पर्यायके कालकी आदिसीमा और अन्तिम-सीमा भिन्न-भिन्न होती है। पूर्वपर्यायकी निवृत्ति और उत्तरपर्यायकी उत्पत्ति जिस समयमे होती है उसी समयमे वह वस्तु अमुक सामान्यके रूपसे स्थिर भी होती है। अत इस दृष्टिसे देखने पर उत्पाद, विनाश एव स्थिति ये तीनो समकालीन होते है। परतु किसी एक ही पर्यायको लेकर यदि स्थितिका विचार करे, तो उसके उत्पाद एव विनाशकी भाँति उसकी स्थितिका काल भी भिन्न प्रतीत होगा, अर्थात् उसका उत्पाद यानी प्रारम्भ समय, विनाश यानी उसका निवृत्ति समय और स्थिति यानी प्रारम्भसे निवृत्ति तकका सामान्य रूपसे रहने का उसका सारा समय—ये तीनो भिन्न है। ग्रन्थकार इस बातको उँगलीके एक दृष्टान्तके द्वारा अधिक स्पष्ट करते है।

उँगली एक वस्तु है। वह जब टेढी होती है तब सीधी नही रह सकती और जब सीधी होती है तब टेढी नही रह सकती। वक्रता और सरलता एक ही वस्तुमे एक ही कालमें सम्भव न होनेसे क्रमवर्ती है। उँगलीके वक्रतापर्यायके विनाश और सरलतापर्यायके उत्पादके बीच समयभेद नही है। ये दोनों एक ही समयमें एक ही क्रियाके होनेवाले दो परिणाम है। इसी समय उँगली तो उँगलीके रूपमें स्थिर ही होती है। इससे उँगलीरूप एक वस्तुमें एक ही समयमें ये उत्पाद, विनाश एव स्थैर्य घट सकते है। इससे उल्टा, उसके एक ही वक्रता या सरलतापर्याय को लें

तो उसमें उत्पाद, विनाश और स्थितिका कालभेद घटता है। उँगली टेढ़ी मिटकर सीधी हुई, यह उसके सरलता पर्यायका उत्पाद समय, अमुक समय तक सीधी रहकर फिर वह टेढ़ी हो, तो वह उसके सरलतापर्यायका विनाश समय, और सीधी होनेके क्षणसे लेकर सीधेपनके मिट जानेके क्षण तकका बीचका एकरूप सीधी रहनेका काल यह सरलतापर्यायका स्थिति समय—इस तरह कालभेद हुआ।

उक्त भिन्नकालीन या एककालीन उत्पाद, नाश एव स्थिति तीनो एक सत् अर्थात् धर्मी द्रव्यके धर्म होनेसे उससे भिन्न भी है और अभिन्न भी है। भिन्न इसलिए कि वे उसके अश है, और अभिन्न इसलिए कि अश होने पर भी वे अपने धर्मीभूत लक्ष्यमे ही अन्तर्हित हो जाते है, उससे अपना अलग अस्तित्व नही रखते। किसी एक द्रव्यको त्रिकालवर्तित्वरूप विशेषसे अकित करना हो या समझना हो तो इस तरह समझा जा सकता है—

मकानरूपी एक द्रव्यपर्यायको लेकर विचार करे कि जब उसका निर्माण हो रहा हो, तब वह एक समग्र मकानके रूपमे उत्पद्यमान (बन रहा) है, उसमे जितना भाग बना हो, उतने भाग के रूपमे वह बनता हुआ मकान उत्पन्न (बना) है; और जो भाग अभी बननेका है उसकी अपेक्षासे वह मकान उत्पत्स्यमान (बननेवाला) है। इसी तरह उस उत्पन्न होनेवाले मकानमे ईंट आदि अवयव अपनी-अपनी विशकलित—अलग-अलग रहनेकी अवस्थाका परित्याग करते जाते है। अत अवयवके रूपमे वे विगच्छत् (नष्ट हो रहे) है, जितना भाग बना हो उतनेमे अवयवोकी विशकलित अवस्था नष्ट होनेसे उस भागमे वे विगत (नष्ट) है, तथा जो भाग बनना बाकी हो उसमे अवयवोका विशकलितपना अभी नष्ट होनेवाला है, अत उस भागमे वे विगमिष्यत् (नष्ट होनेवाला) है। इस तरह उस मकानमे त्रैकालिक स्थिति घटाई जा सकती है। इससे भी अधिक गहराईमे उतरकर विचार करनेवाला प्रत्येक उत्पद्यमान, उत्पन्न और उत्पत्स्यमानमे त्रैकालिक विगम और वैसे प्रत्येक विगममे त्रैकालिक स्थिति भी घटा सकता है। परतु इस स्थूल या सूक्ष्म किसी भी विचारमे जो एक सामान्य बात ध्यानमे रखनेकी है वह यह है कि त्रैकालिक उत्पाद, नाश और स्थिति एक आधारमे घटानेके लिए या तो कोई एक द्रव्यपर्याय[1] या फिर कोई

---

१ अनेक परमाणु आदि सजातीय द्रव्योंपरमे जो स्कन्धपर्याय होते है वे तथा जीव और पुद्गल जैसे विजातीय द्रव्योंके मिलनेसे जो मनुष्यत्व आदि पर्याय होते हैं वे द्रव्यपर्याय कहलाते हैं; और द्रव्यमे रहनेवाले वर्ण आदि तथा चेतना आदि गुणोंका जो हानिवृद्धि आदि रूप परिणमन हुआ करता है उसे गुणपर्याय कहते हैं। इसके लिए देखो 'प्रवचनसार' अधिकार २, गाथा १की अमृतचन्द्रकी टीका।

एक गुणपर्याय लेना चाहिए, क्योंकि केवल द्रव्य या केवल गुणमे उनके घटनेकी सम्भावना नही है। जब कोई द्रव्यपर्याय या गुणपर्याय लेकर उक्त विकल्प घटाये जाते है, तब वह पर्याय दूसरे सभी सजातीय-विजातीय पर्यायोंसे भिन्न रूपमे ही गृहीत होता है। यह विचार वस्तु अर्थात् प्रमेयको विशेषरूपसे ग्रहण करनेका उपाय मात्र है।

वैशेषिक आदि सम्मत द्रव्योत्पादकी प्रक्रियाकी चर्चा—

> **दव्वंतरसंजोगाहि केचि दवियस्स बेंति उप्पायं ।**
> **उप्पायत्थाऽकुसला विभागजायं ण इच्छंति ॥ ३८ ॥**
> **अणु दुअणुएहिं दव्वे आरद्धे 'तिअणुअं' ति ववएसो ।**
> **तत्तो य पुण विभत्तो अणु त्ति जाओ अणू होइ ॥ ३९ ॥**
> **बहुयाण एगसद्दे जह संजोगाहि होइ उप्पाओ ।**
> **णणु एगविभागम्मि वि जुज्जइ बहुयाण उप्पाओ ॥ ४० ॥**
> **एगसमयम्मि एकदवियस्स बहुया वि होंति उप्पाया ।**
> **उप्पायसमा विगमा ठिईउ उस्सग्गओ णियमा ॥ ४१ ॥**
> **काय-मण-वयण-किरिया-रूवाइ-गईविसेसओ वावि ।**
> **संजोगभेयओ जाणणा य दवियस्स उप्पाओ ॥ ४२ ॥**

अर्थ—कोई वादी एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यके साथ सयोग होनेसे ही नवीन द्रव्यकी उत्पत्ति कहते है और द्रव्यको विभागसे उत्पन्न होनेवाला नही मानते। वे उत्पत्तिके स्वरूपसे अनभिज्ञ है, (क्योंकि)

दो परमाणुओके सयोगसे आरब्ध द्रव्यमे 'यह अणु है' ऐसा व्यवहार होता है और अनेक द्व्यणुकोके सयोगसे आरब्ध द्रव्यमे 'यह त्र्यणुक है' ऐसा व्यवहार होता है। और उस त्र्यणुकसे विभक्त हुआ अणु[1] 'यह अणु उत्पन्न हुआ' इस तरह व्यवहृत होता है।

---

१ यहाँ गाथामें 'अणु' शब्द है, इसका परमाणु और द्व्यणुक दोनों ही अर्थ करना चाहिए। जो अणुत्वपरिमाणवाला हो वह सब अणुक कहलाता है, मात्र परमाणु नहीं। द्व्यणुकमें भी अणु अणुत्वपरिमाण माना गया है। त्र्यणुकमेंसे परिमाणु भी अलग हो सकता है और द्व्यणुक भी। इसलिए ये दोनों 'जात' कहे जा सकते हैं।

बहुतमें एक शब्दके होनेवाले प्रयोगके कारण यदि संयोगसे उत्पत्ति होती है ऐसा माना जाय, तो एकके विभागमेंसे बहुतकी उत्पत्ति भी घटती है।

एक समयमें एक द्रव्यमें अनेक भी उत्पाद होते है, विनाश भी उत्पाद जितने ही होते है और स्थितियाँ उतनी ही सामान्यरूपसे नियत है।

शरीर, मन, वचन, क्रिया, रूप आदि और गतिके विशेषसे तथा संयोग-विभागसे और ज्ञानके विषयत्वसे द्रव्यका उत्पाद है।

विवेचन—जन्य द्रव्यकी उत्पत्तिके बारेमे परिणामवाद, समूहवाद और आरम्भ-वाद ऐसी मुख्य तीन प्रक्रियाएँ है। साख्य आदि परिणामवादी है, क्योकि वे कार्य-द्रव्यको कारणका मात्र परिणाम अर्थात् रूपान्तर मानते है। बौद्ध आदि समूहवादी है, क्योकि वे स्थूल दिखाई पडनेवाले द्रव्यको सूक्ष्म अवयवोका समूह मात्र मानते है। वे न तो अवयव द्रव्योका कोई रूपान्तर ही मानते है और न उस परसे अपूर्व अवयवी द्रव्यकी उत्पत्ति ही स्वीकार करते है। वैशेषिक आदि आरम्भवादी कहे जाते है, क्योकि वे कार्यद्रव्यको कारणका मात्र परिणाम या समूह न मानकर कारणो परसे बना हुआ एक अपूर्व अवयवी द्रव्य ही मानते है। जैनदर्शन उक्त तीनो पक्षोको अपने विशिष्ट ढंगसे[1] स्वीकार करता है, और फिर भी उसे वैशेषिक आदिके आरम्भ-वादके सामने कुछ कहनेका है। ग्रन्थकारने यहाँ इसीका निर्देश किया है।

आरम्भ अर्थात् अपूर्व कार्यद्रव्यकी उत्पत्ति। ऐसी उत्पत्ति वैशेषिक आदि दर्शनोमे सयोगजनित ही मानी जाती है। वे कहते है कि जब कोई छोटा या बडा द्रव्य नया बनता है, तब वह अनेक अवयवभूत द्रव्योके सयोगसे ही बनता है, और विभागसे कोई द्रव्य नही बनता। घट-जैसे एक द्रव्यके फूटनेसे जो टुकड़े दिखाई पडते है वे उनके मतसे घटके विभागमेसे सीधे उत्पन्न नये द्रव्य नही है, पर मूल आर-म्भक परमाणुओके विभाग द्वारा द्व्यणुक आदिके नाशके क्रमसे घटका नाश होकर शेष रहे हुए परमाणुओसे पुन द्व्यणुक आदिकी सृष्टि द्वारा क्रमश सयोगसे बने हुए वे टुकडे है। इस मतका निरास करते हुए ग्रन्थकार उन मतवादियोंको उत्पत्तिके स्वरूपसे अनभिज्ञ कहकर अपना पक्ष स्थापित करनेके लिए कहते है कि—

---

१. जैन दर्शनमें जन्य द्रव्यको 'स्कन्ध' ऐसा खास नाम दिया गया है, फिर भी वह उसे परिणाम भी कहता है, समूह भी कहता है और अवयवी भी कहता है, क्योंकि उसके मतानुसार स्कन्धका बनना यानी उस रूपमें परिणत होना या विशिष्ट समूहके रूपमें व्यवस्थित होना या अवयवीभावको पाना—यह सब-कुछ एक ही है।

जैसे अवयवोंके संयोगसे कार्यद्रव्यका आरम्भ देखा जाता है, वैसे ही कार्य-द्रव्यमेंसे अवयवोंके अलग होनेपर भी नया द्रव्य बनता है। अर्थात् अवयवोंके संयोगकी भाँति विभागमेंसे भी कार्यद्रव्यका आरम्भ अनुभवसिद्ध है, तो फिर मात्र संयोगजन्य द्रव्योत्पाद माननेका क्या प्रयोजन ? दो परमाणुओंके सयोगसे आरब्ध द्रव्यमें 'यह द्व्यणुक हुआ' इस प्रकारका व्यवहार जैसे होता है, अथवा अनेक द्व्यणुकों-के सयोगसे आरब्ध द्रव्यमें 'यह त्र्यणुक उत्पन्न हुआ' इस प्रकारका व्यवहार जैसे होता है, वैसे ही त्र्यणुक या दूसरे किसी बडे द्रव्य-स्कन्धमेंसे विभक्त हुए—अलग हुए छोटे खण्डोमे भी 'ये अणु हुए' ऐसा व्यवहार होता ही है। अत सयोग और विभाग उभयजन्य द्रव्योत्पत्ति मानना ही युक्तियुक्त है।

पूर्वपक्षी शायद ऐसी दलील कर सकता है कि बहुतसे तन्तुओंमें, अवस्था विशेषमे, 'एक कपडा है' ऐसी एकाकार प्रतीति और एक कपडा-शब्दका प्रयोग देखा जाता है। इससे अनेक अवयवोके सयोगसे एक द्रव्यकी उत्पत्तिको माननेका जो समर्थन होता है, वैसा समर्थन विभागसे द्रव्योत्पत्ति माननेमे कहाँ है ? इसका उत्तर देते हुए ग्रन्थकार कहते है कि विभागजन्य उत्पत्ति माननेमें भी ऐसा समर्थन है ही, क्योकि कोई एक स्कन्धद्रव्यके टूटने पर उसके विभागमेंसे अनेक द्रव्योका उत्पाद भी प्रतीति और व्यवहारसिद्ध है। एक घडेके फूटनेपर बहुतसे टुकडोकी उत्पत्ति भेद-प्रतीति और भेदव्यवहारसे सिद्ध ही है। अतएव द्रव्योत्पत्तिको सयोगजन्य या विभागजन्य माननेमे एक-सी ही दलीले है।

किसी भी एक द्रव्यमे प्रतिसमय एक उत्पाद, एक नाश और एक स्थिति सम्भव होनेसे अनन्तकालके अनन्त समयोको लेकर विचार करनेपर उसमे अनन्त उत्पाद, अनन्त नाश और अनन्त स्थितियाँ घट तो सकती है, पर एक ही समयमें उसमे अनन्त उत्पाद आदि माने जाते है वे किस तरह घटेगे ?—इस प्रश्नका उत्तर देते हुए ग्रन्थकार कहते है कि एक समयमे भी एक द्रव्यमे अनन्त उत्पाद आदि घटते ही है, क्योकि कोई भी एक द्रव्य विवक्षित एक ही समयमे जब सहभावी अनन्त पर्यायोंके रूपमे परिणत होता है, तब एक ही साथ पूर्ववर्ती अनन्त पर्यायोके अनन्त नाश तथा उत्तरवर्ती अनन्त पर्यायोके अनन्त उत्पाद उसमे होते ही है। इसी तरह उस-उस विशेषके रूपमे परिणत होनेवाला वह द्रव्य अनन्त सामान्यके रूपमे स्थिर होनेसे अनन्त स्थितियाँ भी धारण करता ही है। इससे एक ही समयमे और एक ही द्रव्यमे उत्पाद आदि तीनोको अनन्त कहनेमे कोई भी हर्ज नही है। यह मुद्दा एक जीवद्रव्यको लेकर स्पष्ट किया गया है।

ससारी जीव अर्थात् देहधारी चेतन। इसके पर्याय यानी केवल पुद्गलाश्रित या केवल चेतनाश्रित पर्याय नही, किन्तु यथासम्भव उभयाश्रित समझनेके है।

मन, वचन और काय आदि रूप विविध परिणति यद्यपि पौद्गलिक है, फिर भी वह काषायिक परिणाम और वीर्यविशेषके दूर या समीपके सम्बन्धके बिना सम्भव न होनेसे चेतनाश्रित भी है। इसी तरह ज्ञान और वीर्यविशेष आदि परिणति चेतनाश्रित होनेपर भी कर्मपुद्गलसापेक्ष होनेसे पुद्गलाश्रित भी है ही। एक संसारी जीवद्रव्यमे जिस समय सूक्ष्म या स्थूल देहके रूपमे पुद्गल परिणत होते है उसी समय मनोवर्गणाके पुद्गल मनके रूपमे तथा वचनवर्गणाके पुद्गल वचनके रूपमे परिणत होते है, उसी समय शरीर और आत्माके पारस्परिक सम्बन्धसे असख्य आत्मप्रदेशोमे कायिक आदि क्रियाएँ होती है, उसी समय रूप आदि अनेक पर्याय भी तरतमभावसे परिणत होते है, उसी समय भावी गतिके अनुकूल कर्मबन्ध, कर्मोदय आदि पर्याय भी होते रहते है, उसी समय ग्रहण किये जानेवाले अनन्तानन्त परमाणुओके नये-नये सयोग उत्पन्न होते रहते है और अलग होनेवाले पूर्वसंयुक्त परमाणुओके विभाग भी होते रहते है, उसी समय तरतमभावसे विविध विषयक ज्ञान आदि पर्यायोका और स्वपरज्ञानविषयत्वरूप ज्ञेयत्व आदि पर्यायोका आविर्भाव होता रहता है। इन और इनके जैसे दूसरे अनन्त सहवर्ती नवीन पर्यायोके उत्पाद, पूर्व पर्यायोके विनाश और पूर्वोत्तर पर्यायोमे अनुगत सामान्यके रूपमे स्थितियाँ—ये सब एक ही समयमे सम्भव होनेसे एक ससारी जीवद्रव्य किसी भी एक ही जन्म आदिके समयमे अनन्त उत्पाद, विनाश तथा स्थितियुक्त घट सकता है।

श्रद्धा और बुद्धिप्रधान आगमका पृथक्करण—

दुविहो धम्मावाओ अहेउवाओ य हेउवाओ य ।
तत्थ उ अहेउवाओ भवियाऽभवियादओ भावा ॥ ४३ ॥
भविओ सम्मद्दंसण-णाण-चरित्तपडिवत्तिसंपन्नो ।
णियमा दुक्खंतकडो त्ति लक्खणं हेउवायस्स ॥ ४४ ॥
जो हेउवायपक्खंमि हेउओ आगमे य आगमिओ ।
सो ससमयपण्णवओ सिद्धंतविराहओ अन्नो ॥ ४५ ॥

अर्थ—वस्तुप्रतिपादक जो आगम है वह अहेतुवाद और हेतुवाद इस तरह दो प्रकारका है। इनमेसे जो अहेतुवाद है उसका विषय भव्य-अभव्य आदि पदार्थ है।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी प्राप्तिसे सम्पन्न भव्य अवश्य दुःखका अन्त करनेवाला है, यह हेतुवादका लक्षण है।

जो हेतुवादके विषयमें हेतुसे और आगमवादके विषयमें केवल आगमसे प्रवृत्त होता है वह स्वसमय अर्थात् सिद्धान्तका प्ररूपक— आराधक है और दूसरा सिद्धान्तका विराधक है।

विवेचन—मनुष्यके स्वभावमे श्रद्धा और बुद्धि दोनो तत्त्व है, परन्तु किसीमे श्रद्धाकी प्रधानता होती है तो किसीमे बुद्धिकी। व्यक्तिकी भाँति समूहमे भी कभी श्रद्धाके तो कभी बुद्धिके उद्रेकका युग आता है। श्रद्धायुगके मनुष्य बुद्धि और तर्कका निषेध करके उनकी प्रवृत्तिका विरोध करते है, और बुद्धियुगके मनुष्य श्रद्धाकी प्रवृत्तिका विरोध करते है। इस तरह श्रद्धा और बुद्धिका चक्र ऊपर-नीचे घुमा करता है।

केवल श्रद्धाजीवी होना या केवल बुद्धिजीवी होना ये दोनो एकान्त अर्थात् परस्परविरोधी और इसीलिए अपूर्ण छोर है। मात्र बुद्धिजीवी होनेमे अपूर्णतामें पूर्णता मान लेनेका अथवा तो अपनेसे अधिक और समुन्नत शक्तिका इनकार करनेका अभिमान आ जाता है, जिससे बहुत-सी सच्ची बाते छूट जानेका दोष सम्भव है। मात्र श्रद्धाजीवी होनेमे सर्वथा पराश्रितता तथा अपनेसे जितना साधा जा सके उतने बुद्धिविकासका भी अभाव सम्भव होनेसे उसमे असत्य वस्तुके स्वीकार-का दोष भी स्पष्ट ही है। ऐसा होनेसे सत्यकी समतुला बनाये रखनेके लिए ग्रन्थकार अनेकान्तदृष्टिका आश्रय लेकर श्रद्धा और बुद्धि दोनोका आदर करते है और हमारे जैसे साधारण मनुष्योके लिए श्रद्धाका क्षेत्र कौनसा और बुद्धिका क्षेत्र कौनसा यह पृथक्करणपूर्वक बताकर श्रद्धा और बुद्धि दोनोके वास्तविक उपयोगका मार्ग दिख-लाते है, और वैसा करके श्रद्धायुग एव बुद्धियुगके विरोधको दूरकर दोनो युगोका जीवनमे समन्वय करनेका सूचन करते है।

ग्रन्थकार कहते है कि शास्त्रमे कुछ भाग अहेतुवादका है, तो दूसरा कुछ भाग हेतुवादका है। जिन विषयोमे हमारे जैसे साधारण मनुष्योके प्रत्यक्ष या अनुमान ज्ञानको अवकाश ही नही है और जो मात्र आगमकथित होनेसे आगमके ऊपर विश्वास रखकर ही मानने योग्य है, ऐसे पदार्थोंका निरूपण करनेवाला शास्त्र अहेतुवाद है। जिन पदार्थोंको हमारे जैसे साधारण मनुष्य प्रत्यक्षसे जान सके या अनुमानसे सिद्ध कर सके, अथवा तो जिनको माननेमे आगमके ऊपर विश्वास रखनेकी जरूरत नही रहती, ऐसे पदार्थोंका निरूपण करनेवाला शास्त्र हेतुवाद है। अहेतुवाद-शास्त्रको श्रद्धासे ही मान्य रखकर उसमें कही हुई बाते श्रद्धासे ही मान लेनी चाहिए, और दूसरी तरहसे अन्तिम दिव्य ज्ञान न हो वहाँ तक वैसी बातोंपर बुद्धि या तर्कका प्रयोग नही करना चाहिए; और हेतुवादशास्त्र हो वहाँ उसमें कही गई बातोके विषय-

मे प्रत्यक्ष एवं अनुमानसे जाँचकर निश्चय करना चाहिए और तभी उसपर श्रद्धा करना उचित है। इस तरह अपूर्ण साधक एक ओर श्रद्धा तथा दूसरी ओर बुद्धि दोनोंका विकास करता जाय और इस प्रकार क्रमश दोनोंके विषयका अन्तर मिटाकर श्रद्धा और बुद्धिका अभेद सिद्ध करे।

अहेतुवाद और हेतुवादका पृथक्करण करके उसे समझानेके लिए दोनोके दृष्टान्त देकर ग्रन्थकार कहते हैं कि शास्त्रमें भव्य और अभव्यके दो विभाग करके जीवके जो दो स्वत सिद्ध प्रकार कहे गये हैं वे अहेतुवादके विषय हैं; क्योंकि सभी जीव भव्य अथवा अभव्य क्यो नही ?—इस प्रश्नका उत्तर किसी भी तर्कसे नही दिया जा सकता। भव्य और अभव्य ऐसी जीवकी दो जातियोके माननेमे आगमके प्रामाण्य और उसके वक्ताके आप्तत्वको मान लेना ही एकमात्र उपाय है। भव्य और अभव्यके जातिविभागका कारण बुद्धिसे नही ढूंढा जा सकता। उसे माननेमे 'जीवोका ऐसा स्वभाव है और स्वभाव सर्वज्ञगम्य है' ऐसा विश्वास रखना ही एकमात्र उपाय है। अतएव भव्य-अभव्यकी जातिका विभाग सूचित करनेवाले शास्त्रीय वचनोको अहेतुवाद समझना चाहिए। इसी भाँति साधारण वनस्पतिमे अनन्त जीव हैं और प्रत्येकमे एक जीव है ऐसा शास्त्रीय कथन भी अहेतुवाद है। भव्य और अभव्यका जातिविभाग और उसके शास्त्रीय लक्षण मान लेनेके बाद जब सम्यग्दर्शन आदि लक्षण किसीमे दिखाई दे तब उन्हे देखकर ऐसा अनुमान करना कि यह जीव सम्यग्दर्शन आदि गुणवाला होनेसे भव्य है और वह कभी-न-कभी अवश्य ही ससारका अन्त करेगा, तो यह हेतुवाद है। इसी तरह जहाँ जीवका लक्षण न दिखाई पडे वहाँ अजीवत्वका अनुमान करके उन पुद्गल आदि पदार्थोको अजीव मानना, यह हेतुवादकी मर्यादा है।

अहेतुवाद एव हेतुवादकी विषय-मर्यादा जानकर हेतुवादके विषयमे ही जो हेतु, तर्क या बुद्धिका प्रयोग करता है तथा आगमके विषयमे मात्र आगमका आधार लेता है और उसमे हेतुका प्रयोग नही करता वही वक्ता जैन सिद्धान्तकी प्ररूपणा-का अधिकारी है और वही जैनवचनका आराधक है। इससे उल्टा, जो वक्ता अहेतु-वादके विषयमे हेतुका प्रयोग करता है और हेतुवादके विषयमे केवल आगमके ऊपर आधार रखता है वह अनेकान्तशास्त्रकी प्ररूपणाका अधिकारी न होनेसे उसकी प्ररूपणा करने पर वह जैनवचनका विरोधक बनता है, ऐसा समझना चाहिए। उदाहरणार्थ जीव, अजीव आदि नौ तत्त्वोमेसे जीवतत्त्व युक्तिसे सिद्ध हो सकता है, परन्तु उसके स्वरूप एव प्रकारके बारेमे सर्वत्र युक्तिवाद नही चल सकता। जीवके असख्यात प्रदेश हैं, कर्म और जीवका सम्बन्ध अनादि है, अनन्त नैगोदिक जीव एक ही शरीरमे रहते हैं आदि बाते केवल आगमवाद पर ही अवलम्बित हैं। इसी प्रकार

अजीव तत्त्वके अन्तर्गत धर्मास्तिकाय आदिका अस्तित्व युक्तिसे सिद्ध हो सकता है, परन्तु उनका स्वरूप तो अन्ततः आगमवादपर ही आश्रित है। आस्रव आदि तत्त्वोंमें भी अमुक अश युक्तिसाध्य हो सकता है, परन्तु उनका अमुक भाग आगमवादका ही विषय होता है। अतः इन दोनों वादोंकी विषयमर्यादा समझकर ही प्रत्येक तत्त्वका निरूपण करनेमे उस-उस वादका यदि अवलम्बन लिया जाय, तो श्रोताओंको जैन प्रवचनके ऊपर आदरशील बनाया जा सकता है, अन्यथा असम्भव, असगति आदि दोष देखकर वे शास्त्रके ऊपरकी अपनी श्रद्धा भी शायद खो बैठे।

नयवादकी चर्चा—

परिसुद्धो नयवाओ आगममेत्तत्थसाहओ होइ।
सो चेव दुण्णिगिण्णो दोण्णि वि पक्खे विधम्मेइ॥ ४६॥
जावइया वयणवहा तावइया चेव होंति णयवाया।
जावइया णयवाया तावइया चेव परसमया॥ ४७॥
जं काविलं दरिसणं एयं दव्वट्ठियस्स वत्तव्वं।
सुद्धोअणतणअस्स उ परिसुद्धो पज्जवविअप्पो॥ ४८॥
दोहि वि णएहि णीअं सत्थमुलूएण तह वि मिच्छत्तं।
जं सविसअप्पहाणत्तणेण अण्णोण्णणिरवेक्खा॥ ४९॥

अर्थ—परिशुद्ध नयवाद केवल श्रुतप्रमाणके विषयका साधक बनता है; और यदि वह गलत रूपसे रखा जाय तो दोनों पक्षोंका घात करता है।

जितने वचनोके मार्ग हैं उतने ही नयवाद है और जितने नयवाद हैं उतने ही परसमय हैं।

जो कापिल (कपिल द्वारा कहा गया सांख्य) दर्शन है वह द्रव्यास्तिकका वक्तव्य है। शुद्धोदनके पुत्र अर्थात् बुद्धका दर्शन तो परिशुद्ध पर्यायिनयका विकल्प है।

यद्यपि उलूक अर्थात् कणादने दोनों नयोसे अपने शास्त्र—दर्शनकी प्ररूपणा की है, फिर भी वह मिथ्यात्व अर्थात् अप्रमाण है, क्योंकि ये दोनों नय अपने-अपने विषयकी प्रधानताके कारण परस्पर एक-दूसरेसे निरपेक्ष हैं।

विवेचन—यहाँ नयवादकी चर्चामें मुख्य तीन बातें कही गई हैं : (१) परिशुद्ध और अपरिशुद्ध नयवादका परिणाम, (२) परसमयोका वास्तविक परिणाम और उसका आधार, तथा (३) प्रसिद्ध परसमयो—दर्शनोकी नयवादमे योजना।

प्रमाणसे प्रत्येक पदार्थ अनेकधर्मात्मक सिद्ध होता है। उसका किसी भी एक विवक्षित अशके रूपमें प्रतिपादन करनेका अभिप्राय नयवाद है। यदि वह अभिप्राय एकान्तस्पर्शी होनेपर भी उस वस्तुके दूसरे अविवक्षित अशके विषयमे मात्र उदासीन हो अर्थात् उस अशका निरसन करनेका आग्रह न रखता हो और अपने वक्तव्य प्रदेशमें ही प्रवृत्त होता हो, तो वह परिशुद्ध नयवाद है। इससे उल्टा, जो अभिप्राय अपने वक्तव्य एक अशको ही सम्पूर्ण मानकर उसका प्रतिपादन करनेके साथ ही दूसरे अशोका निरसन करे, वह अपरिशुद्ध नयवाद है। परिशुद्ध नयवाद एक अशका प्रतिपादक होने पर भी इतर अशोका निरास न करनेसे उसका दूसरे नयवादों-से विरोध नही होता, अत वह श्रुतप्रमाणके अखण्ड विषयका ही अन्तत साधक बनता है। अर्थात् नयवाद यद्यपि होता तो है अशगामी, परन्तु यदि वह परिशुद्ध यानी इतरसापेक्ष हो तो उसके द्वारा अन्तत श्रुतप्रमाणसिद्ध अनेकधर्मात्मक समग्र वस्तुका ही समर्थन होता है। साराश यह है कि सभी परिशुद्ध नयवाद अपने-अपने अशभूत वक्तव्य द्वारा, कुल मिलाकर, समग्र वस्तुका ही प्रतिपादन करते हैं। यही परिशुद्ध नयवादका फल है। इससे उल्टा, अपरिशुद्ध नयवाद मात्र अपनेसे जुदा पडनेवाले दूसरे पक्षका ही नही, बल्कि स्वपक्ष तकका भी निरसन करता है, क्योकि वह जिन दूसरे अशोकी अवगणना करके अपना वक्तव्य कहना चाहता है, उन दूसरे अंशोके सिवाय तो उसका अपना वक्तव्य सम्भव ही नही है। अत दूसरे अशोका निरसन करने पर वह अपने वक्तव्य अशका भी निरसन ही कर बैठता है। वस्तुका समग्र स्वरूप अनेक सापेक्ष अशोसे बना है, अत जब उन सापेक्ष अशोको एक-दूसरेसे सर्वथा अलग कर दिया जाय, तब उनमेसे एक भी न तो रह ही सकता है और न सिद्ध ही हो सकता है। इसीलिए ऐसा कहा गया है कि अपरिशुद्ध अर्थात् दूसरेकी परवाह न करनेवाला नयवाद अपनी तथा दूसरेकी अर्थात् दोनो पक्षोकी जडे उखाडता है।

वचनका आधार वक्ताके अभिप्राय पर है; इससे किसी भी एक वस्तुके बारेमे जितने वचनप्रकार मिलें अथवा सम्भव हो, उतने ही उस वस्तुके विषयमे बधे हुए भिन्न-भिन्न अभिप्राय हैं, ऐसा समझना चाहिए। अभिप्राय अर्थात् नयवाद। वचनके जितने प्रकार उतने ही नयवाद समझने चाहिए। वे सभी नयवाद परस्पर एक-दूसरेसे निरपेक्ष रहे, तो वे ही परसमय यानी जैनेतर दृष्टियाँ हैं। परस्पर विरोध करनेवाले अथवा आपस-आपसमे पक्ष-प्रतिपक्षता धारण करनेवाले जितने नय हो,

उतने ही वस्तुतः परसमय हैं। अर्थात् एक-दूसरेका निरसन करनेवाली जितनी विचारसरणियाँ मिलती है अथवा सम्भव है, उतने ही उस वस्तुके विषयमें दर्शन है और वे सब जैनेतर हैं। जैन दर्शन तो उन अनेक विरोधी दर्शनोके समन्वयमेंसे उत्पन्न होनेके कारण एक ही है। जैन और जैनेतर दर्शनका नियामक तत्त्व क्रमशः समन्वय एवं विरोध है। अपने वक्तव्यके प्रतिपादनमे जिसका उद्देश परविरोधका हो वह जैनेतर दर्शन, और जिसका उद्देश समन्वयका हो वह जैन दर्शन।

साख्यदर्शन आत्मा आदि तत्त्वोके विषयमे नित्यत्ववादी और बौद्ध दर्शन अनित्यत्ववादी हैं। ये दोनो दृष्टियाँ परसमय है, क्योकि ये एक-दूसरेकी अवगणना करती है। इन दोनों दृष्टियोका समन्वय करके जैन दर्शन कहता है कि आत्मा आदि तत्त्वोमे नित्यत्व तो है, पर वह द्रव्यास्तिक दृष्टिसे, और उनमे अनित्यत्व भी है, परन्तु वह पर्यायास्तिक दृष्टिसे। इस तरह साख्य और बौद्ध दोनो दर्शनोके समन्वय पर जो ऐसा सिद्धान्त स्थापित हुआ कि आत्मा आदि तत्त्व अपेक्षाविशेषसे नित्य भी है और अनित्य भी है, वह जैन सिद्धान्त है।

यहाँ प्रश्न होता है कि एक ही वस्तुके विषयमे नित्यत्व-अनित्यत्व आदि विरोधी धर्मोके समन्वयमे ही यदि जैन दृष्टि आ जाती हो, तो वैशेषिक दर्शनको भी जैनदर्शन कहना पडेगा, क्योकि वह दर्शन भी केवल नित्यत्व या केवल अनित्यत्व न मानकर नित्यत्व-अनित्यत्व दोनो स्वीकार करता है। इसका उत्तर यह है कि वैशेषिक दर्शनमे नित्यत्व एव अनित्यत्व इन विरोधी दो अशोका प्रतिपादन होनेसे उसमे द्रव्यास्तिक और पर्यायास्तिक दोनो नयोको स्थान तो है, परन्तु ये दोनो नय अपने-अपने विषयका स्वतत्र रूपसे ही प्रतिपादन करते है, क्योकि वैशेषिक दर्शन ऐसा मानता है कि जो परमाणु, आत्मा आदि पदार्थ नित्य है वे नित्य ही है, और जो घट, पट आदि पदार्थ अनित्य है वे अनित्य ही है। अत. नित्य माने गये पदार्थोमे अनित्यत्वको और अनित्य माने गये पदार्थोमें नित्यत्वको स्थान ही नही है। उसमें समग्र दर्शनकी दृष्टिसे नित्यत्व-अनित्यत्व दोनोका स्वीकार अवश्य है, फिर भी आश्रयभूत वस्तुकी दृष्टिसे देखा जाय तो ये दोनो धर्म एक-दूसरेसे अलग और स्वतत्र ही माने गये है। इसलिए उस दर्शनमें ऊपर-ऊपरसे देखनेपर यद्यपि नित्यत्व और अनित्यत्वगामी दोनो नय देखे जाते है, फिर भी तात्त्विक दृष्टिसे उसमे उनका समन्वय नही हुआ है। इसीसे वैशेषिक दर्शन जैन दर्शन नही है। जैन दर्शन किसी भी एक ही वस्तुके विषयमे इन विरोधी दिखाई देनेवाले धर्मोका समन्वय अपेक्षाविशेषसे करता है, जबकि वैशेषिक दर्शन वस्तुके भेदसे विरोधी धर्मोका भेद मानता है। यही दोनोंमें अन्तर है। इसी प्रकार

सामान्य-विशेषके बारेमे भी स्पष्टीकरण किया जा सकता है। वैशेषिक दर्शन वस्तुमें होनेवाले सामान्य एव विशेष व्यवहारके नियामकके रूपमे उस वस्तुमे एक-दूसरेसे सर्वथा भिन्न सामान्य और विशेष दो स्वतत्र तत्त्व स्वीकार करता है, जबकि जैन दर्शन उसी व्यवहारके नियामकके रूपमें वस्तुमात्रको सामान्य-विशेष उभयस्वरूप मानता है और कहता है कि किसी भी एक वस्तुमे सर्वथा स्वतन्त्र ऐसे सामान्य और विशेष धर्म सम्भव ही नही हो सकते।

कार्यके स्वरूपके बारेमें एकान्त एवं अनेकान्तदृष्टिका अन्तर--

जे संतवायदोसे सक्कोलूया भणंति संखाणं।
संखा य असव्वाए तेसिं सव्वे वि ते सच्चा॥ ५०॥
ते उ भयणोवणीआ सम्मद्दंसणमणुत्तरं होंति।
जं भवदुक्खविमोक्खं दो वि न पूरेंति पाडिक्कं॥ ५१॥
नत्थि पुढवीविसिट्ठो 'घडो' त्ति जं तेण जुज्जइ अणण्णो।
जं पुण 'घडो' त्ति पुव्वं ण आसि पुढवी तओ अण्णो॥ ५२॥

अर्थ--शाक्य (बौद्ध) और औलूक्य (वैशेषिक) सांख्योके सद्वाद-पक्षमे जो दोष कहते है, और वे साख्य बौद्ध एव वैशेषिकके असद्वादमें जो दोष कहते है वे सभी सच्चे है।

वे सद्वाद और असद्वाद दोनो अनेकान्तदृष्टिसे नियमित हो तभी सर्वोत्तम सम्यग्दर्शन बनते है, क्योकि एक-एक व्यस्त वे दोनो ससारके दु.खसे मुक्ति नही साधते।

चूँकि घट पृथ्वीसे भिन्न नही है, अत वह उससे अभिन्न होना चाहिए; और चूँकि पृथ्वी पहले घडा नहीं थी, अतः उससे भिन्न है।

विवेचन--यहाँ दो बाते बताई गई है (१) एकान्तदृष्टिमे आनेवाले दोषोको अनेकान्तदृष्टिमें स्थान ही नही है, और (२) अनेकान्तदृष्टिके अनुसार फलित होनेवाला वस्तुका स्वरूप।

कार्य और कारणके भेदाभेदके विषयमे अनेक दृष्टियाँ प्रचलित है। बौद्ध और वैशेषिक दर्शन भेदवादी होनेसे कार्य और कारणको भिन्न-भिन्न मानते है। इसीसे वे असत् अर्थात् उत्पत्तिसे पहले कारणमे नही ऐसे अपूर्व ही कार्यकी उत्पत्ति स्वीकार करते है। इससे उल्टा, साख्य अभेदवादी होनेसे कार्य और कारण अभिन्न

हैं ऐसा मानते हैं और इसीलिए वे सत् अर्थात् उत्पत्तिसे पहले भी कारणमे विद्यमान ऐसे कार्यकी उत्पत्तिका वर्णन करते हैं। बौद्ध और वैशेषिक अपने पक्षका स्थापन करते समय सांख्योके सत्कार्यवादको दूषित करनेके लिए कहते हैं कि यदि कारणमें उत्पत्तिसे पूर्व भी कार्य सत् अर्थात् विद्यमान हो, तो उत्पत्तिके लिए प्रयत्न करना व्यर्थ है। इसके अतिरिक्त उत्पत्तिके पहले भी सत् होनेसे कारणमें कार्य दिखाई देना चाहिए और कार्यसापेक्ष सभी क्रियाएँ तथा व्यवहार कार्यकी उत्पत्तिके पहले भी होने चाहिए। इसी तरह सांख्य अपने पक्षका स्थापन करते समय बौद्ध एव वैशेषिकोके असद्वादको दूषित करनेके लिए कहते हैं कि यदि असत्-कार्यकी उत्पत्ति होती हो, तो चाहे जिस कारणमेंसे चाहे जो कार्य क्यो नही पैदा होता ? मिट्टीमेंसे घट ही और सूतमेसे कपड़ा ही बनता है ऐसा नियम किसलिए ? इसके सिवाय यदि असत् वस्तुकी उत्पत्ति होती हो, तो मनुष्य के सिर पर सीग क्यो नही पैदा होते ? ये दोनो दृष्टियाँ एक-दूसरेको जो दोष देती हैं वे सब सच है, क्योकि ये दृष्टियाँ एकागी होनेसे दूसरे पहलूकी ओर देखती ही नही हैं। इस कमीके कारण स्वाभाविक रूपसे ही उनमे दोष आ जाते हैं।

परन्तु इन दोनो दृष्टियोका यदि समन्वयपूर्वक स्थापन किया जाय, तो एक-दूसरेकी कमी दूर हो जाती है और वे पूर्ण बनती हैं, अर्थात् उन दोषोके लिए स्थान ही नही रहता। जैसे कि–कार्य और कारण ये दोनो भिन्न हैं और अभिन्न भी हैं। भिन्न होनेसे उत्पत्तिके पहले कार्य असत् है और अभिन्न होनेसे सत् भी है। शक्तिकी अपेक्षासे सत् है, अत उत्पत्तिके लिए प्रयत्नकी अपेक्षा रहती ही है और इसीलिए उत्पत्तिके पहले अव्यक्त दशामे व्यक्तकार्यसापेक्ष व्यवहार सम्भव नही है। इसी तरह कार्य उत्पत्तिकी अपेक्षासे असत् है किन्तु शक्तिकी अपेक्षासे तो वह सत् ही है। इसीलिए प्रत्येक कारणमेंसे प्रत्येक कार्यकी उत्पत्तिके लिए अथवा मनुष्यशृंग जैसी असत् वस्तुकी उत्पत्तिके लिए अवकाश ही नही है। जिस कारणमे जिस कार्य-को प्रकट करनेकी शक्ति हो, उसमेंसे प्रयत्न करनेके पश्चात् वह कार्य प्रकट होता है, दूसरा नही। इस तरह सत् और असत् वादका समन्वय होते ही दृष्टि पूर्ण एवं शुद्ध बनती है और उसमेंसे दोष चले जाते हैं। एक-एक अलग वाद चाहे जितना प्रबल दृष्टिगोचर होता हो, परन्तु वह एकदेशीय मान्यताके ऊपर अवलम्बित होनेसे यथार्थ ज्ञान नही दे सकता और इतनी कमीके कारण वह वाद परम्परया अपनेमें आबद्ध रहनेवाले मनुष्यको क्लेशमुक्त भी नही कर सकता, जबकि समन्वय, दृष्टिकी विशालताके ऊपर रचित होनेसे, यथार्थ ज्ञान देता है और मनुष्यको संकुचितताजनित क्लेशबन्धनोंसे मुक्त करता है।

अनेकान्तदृष्टिके अनुसार घटरूप कार्य पृथ्वीरूप कारणसे अभिन्न और भिन्न फलित होता है। अभिन्न इसलिए कि मिट्टीमे घड़ा पैदा करनेकी शक्ति है और घड़ा बनता है तब भी वह मिट्टीसे रहित नही होता, भिन्न इसलिए कि उत्पत्तिके पहले मिट्टी ही थी और घड़ा दिखाई नही पडता था और इसीलिए घडेसे होनेवाले कार्य भी नही होते थे।

कारण-विषयक वादोंका[1] एकान्तके कारण मिथ्यात्व और अनेकान्तके कारण सम्यक्त्व--

कालो सहाव णियई पुव्वकयं पुरिस कारणेगंता ।
मिच्छत्तं ते चेवा(व)समासओ होंति सम्मत्तं ॥ ५३ ॥

अर्थ---काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत (अदृष्ट) और पुरुषरूप कारण-विषयक एकान्तवाद मिथ्यात्व अर्थात् अयथार्थ है, और वे ही वाद समाससे (परस्पर सापेक्षरूपसे) मिलने पर सम्यक्त्व अर्थात् यथार्थ है।

विवेचन---कार्यकी उत्पत्ति कारणसे होती है। कारणके बारेमे भी अनेक मत है। उनमेंसे यहाँ पाँच कारणवादोका उल्लेख किया गया है।

१ कोई कालवादी है, जो केवल कालको ही कारण मानकर उसकी पुष्टिमे कहते है कि भिन्न-भिन्न फल, वर्षा, ठण्डी, गरमी आदि सब ऋतुभेदके कारण होते है, और ऋतुभेद अर्थात् कालभेद।

२ कोई स्वभाववादी है, जो केवल स्वभावको ही कार्यमात्रका कारण मानकर उसके समर्थनमे कहते है कि पशुओमे स्थलगामिता, पक्षियोमे गगनगामिता, फलकी कोमलता और काँटेकी तीक्ष्णता---यह सब प्रयत्न या दूसरे किसी कारणसे नही, अपितु वस्तुगत स्वभावसे ही सिद्ध है।

३ कोई नियतिवादी है। वे नियतिके अतिरिक्त दूसरे किसीको कारण न मानकर अपने पक्षकी पुष्टिमे कहते है कि जो मिलनेवाला होता है वह अच्छा या बुरा मिलता ही है। न होनेका नही होता और जो होनेका है उसे कोई मिटा नही सकता। अतः यह सब नियतिके कारण होता है। इसमे काल, स्वभाव या दूसरे किसी कारणको स्थान नही है।

---

१. ये सभी कारणवाद श्वेताश्वतर उपनिषद्में हैं (अ १)। इसकी अधिक तुलनाके लिए देखो सन्मति टीका पृ ७१०, टिप्पणी ५।

४. कोई अदृष्टवादी अदृष्टको ही कारण मानकर उसकी पुष्टिमे कहते है कि सभी मनुष्य पूर्वसचित कर्मयुक्त पैदा होते है और फिर वे सब सोचा न हो इस तरह अचिन्त्य रूपसे संचित कर्मके प्रवाहमें बहते है। मनुष्यकी बुद्धि स्वाधीन नही है, पूर्वार्जित सस्कारके अनुसार ही वह प्रवृत्त होती है। अत. अदृष्ट ही सभी कार्योंका कारण है।

५ कोई पुरुषवादी केवल पुरुषको ही कारण मानकर उसकी पुष्टिमे कहते है कि जैसे मकडी जालेके सब तंतुओका निर्माण करती है, जैसे पेड सभी पत्ते और टहनियोको प्रकट करता है, उसी प्रकार ईश्वर जगत्के सर्जन, प्रलय एव स्थितिका कर्ता है। ईश्वरके सिवाय दूसरा कोई कारण नही है। कारणके रूपमे जो कुछ दूसरा दिखाई पडता है वह भी ईश्वरके अधीन है। इसीसे सब कुछ केवल ईश्वर-तत्र है।

ये पाँचो ही वाद यथार्थ नही है, क्योकि उनमेसे प्रत्येक अपने मन्तव्योके अतिरिक्त दूसरी दिशा न देख सकनेके कारण अपूर्ण है, और अन्तमे सब आपसी विरोधोसे नष्ट होते है। परन्तु जब ये पाँचो वाद परस्परका विरोधभाव छोडकर एक ही समन्वयकी भूमिका पर आते है, तभी उनमे पूर्णता आती है और पारस्परिक विरोध दूर होता है अर्थात् वे यथार्थ बनते है। उस स्थितिमे काल, स्वभाव आदि उक्त पाँचो कारणोका कार्यजनक सामर्थ्य, जो प्रमाणसिद्ध है, मान्य रखा जाता है और एक भी प्रमाणसिद्ध कारणका अपलाप नही होता।

आत्माके बारेमे नास्तित्व आदि छ· पक्षोका मिथ्यात्व और अस्तित्व आदि छः पक्षोका सम्यक्त्व--

णत्थि ण णिच्चो ण कुणइ कयं ण वेएइ णत्थि णिव्वाणं ।
णत्थि य मोक्खोवाओ छ म्मिच्छत्तस्स ठाणाइं ॥ ५४ ॥

अत्थि अविणासधम्मी करेइ वेएइ अत्थि णिव्वाणं ।
अत्थि य मोक्खोवाओ छ स्सम्मत्तस्स ठाणाइं ॥ ५५ ॥

अर्थ—आत्मा नही है, वह नित्य नहीं है, वह कुछ करता नही है, वह किये कर्मका अनुभव नही करता, उसका निर्वाण (मोक्ष) नही है और मोक्षका उपाय नही है—ये छ. मत मिथ्याज्ञानके स्थान है।

आत्मा है, वह अविनाशी है, वह करता है, वह अनुभव करता है, उसका निर्वाण है और मोक्षका उपाय है—ये छः मत यथार्थज्ञानके स्थान है।

विवेचन—आध्यात्मिक विकासकी सम्पूर्णता साधनेमें जिन पक्षोंके आग्रह एक अथवा दूसरे रूपमें बाधक होते हैं और जो आग्रह उसमें सहायक होते हैं—इन दोनों प्रकारोके आग्रहोका यहाँ कथन है। साधनामें बाधक होनेवाले आग्रह भ्रान्त दृष्टि पर रचित होनेसे अयथार्थ और अभ्रान्त दृष्टिपर रचित सहायक आग्रह यथार्थ हैं। वे अनुक्रमसे इस प्रकार हैं—

१. आत्मा जैसा कोई तत्त्व ही नही है ऐसा मानना अनात्मवाद है; २. आत्मतत्त्व है तो सही, परन्तु वह नित्य न होकर विनाशी है ऐसा मानना क्षणिकात्मवाद है, ३. आत्मा है तो नित्य, परन्तु कूटस्थ होनेसे उसमें कर्तृत्व नही है ऐसा मानना अकर्तृत्ववाद है, ४ आत्मा कुछ करता तो है, परतु वह क्षणिक होनेसे अथवा निर्लेप होनेसे किसी विपाकका अनुभव नही करता ऐसा मानना अभोक्तृत्ववाद है; ५ आत्मा सर्वदा ही कर्ता और भोक्ता रहता है, अत उसके अपने स्वरूपकी भाँति राग-द्वेष आदि दोषोका अन्त ही नही होता ऐसा मानना अनिर्वाणवाद है, ६ स्वभावसे आत्मा कभी मोक्ष पाता तो है, परन्तु उसे प्राप्त करनेका दूसरा अर्थात् स्वभावसे भिन्न कोई उपाय नही है ऐसा मानना अनुपायवाद है।

इन छ मेंसे किसी भी एक वादका आग्रह बँध जानेपर या तो आध्यात्मिक साधनामे प्रवृत्ति ही नही होती और यदि हो तो वह न तो आगे विशेष चल ही सकती है और न अन्त तक टिक ही सकती है। अत उनके स्थानमे अनुक्रमसे नीचेके आग्रह आवश्यक हैं—

१ आत्मा है ऐसा मानना; २ वह है इतना ही नही, परन्तु अविनाशी है ऐसा मानना, ३ वह मात्र अविनाशी ही नही, कर्तृत्वशक्ति भी रखता है ऐसा मानना, ४ उसमें जिस प्रकार कर्तृत्वशक्ति है उसी प्रकार भोक्तृत्वशक्ति भी है ऐसा मानना; ५ कर्तृत्व एव भोक्तृत्वशक्ति होनेपर भी प्रवृत्तिके प्रेरक राग, द्वेष आदि दोषोका अत कभी शक्य है ऐसा मानना, और ६. इस अन्तका उपाय है तथा उसका आचरण किया जा सकता है ऐसा मानना। ये छहो आग्रह साधकमे श्रद्धा पैदा करके उसके द्वारा साधनामे आगे बढनेके लिए उसे प्रेरित करते हैं और इसीलिए ये सम्यक् हैं।

वादमें अनेकान्तदृष्टिके अभावसे आनेवाले दोष—

साहम्मउ व्व श्रत्थं साहेज्ज परो विहम्मश्रो वा वि।
श्रण्णोण्णं पडिकुट्ठा दोण्णवि एए असव्वाया॥ ५६॥

दव्वट्ठियवत्तव्वं सामण्णं पज्जवस्स य विसेसो ।
एए समोवणीआ विभज्जवायं विसेसेंति ॥ ५७ ॥
हेउविसओवणीअं जह वयणिज्जं परो नियत्तेइ ।
जइ तं तहा पुरिल्लो दाइंतो केण जिव्वंतो ॥ ५८ ॥
एयंताऽसब्भूयं सब्भूयमणिच्छियं च वयमाणो ।
लोइय-परिच्छियाणं वयणिज्जपहे पडइ वादी ॥ ५९ ॥

अर्थ—पर अर्थात् एकान्तवादी साधर्म्यसे या वैधर्म्यसे अर्थ यानी साध्यका साधन करे, तब परस्पर टकरानेवाले वे दोनों असद्वाद होते हैं ।

द्रव्यास्तिकका वक्तव्य सामान्य और पर्यायास्तिकका वक्तव्य विशेष है । ये दोनों निरपेक्ष रूपसे योजित किये जायँ तो एकान्तवादको विशिष्ट बनाते है अर्थात् उसे खड़ा करते है ।

(वादीके द्वारा) हेतुके विषयके रूपमे रखे गये साध्यको पर अर्थात् प्रतिवादी जिस तरह अपने परका आक्षेप समझकर दूषित करता है, उसी तरह यदि वादीने उस साध्यको दिखलाया हो तो वह किससे पराजित होता ? अर्थात् किसीसे नही ।

एकान्त असत्य बोलनेवाला अथवा सत्य होनेपर भी अनिश्चित बोलनेवाला वादी लौकिको एव परीक्षकोके आक्षेपका विषय बनता है।

विवेचन—वादभूमिमे उतरनेवाला वादी यदि अनेकान्तदृष्टि रखे बिना उसमें उतरे तो वह कभी भी सफल नही हो सकता, उल्टा असत्यवादी सिद्ध होकर हार जाता है और शिष्टोकी निन्दाका पात्र बनता है, यह वस्तु यहाँ बताई गई है ।

कोई भी वादी अपने पक्षका साधन साधर्म्य या वैधर्म्य दृष्टान्तसे भले ही करे, परन्तु उसका पक्ष यदि एकान्त होगा तो वह दूसरे पक्षके साथ टकरायेगा और अन्तमें वे दोनो असद्वाद अर्थात् मिथ्या सिद्ध होंगे । अत. अनुमानमे जो साध्य रखना हो वह एकान्तदृष्टिसे नही रखना चाहिए ।

द्रव्यास्तिकके विषय केवल सामान्यको और पर्यायास्तिकके विषय केवल विशेषको यदि एक-दूसरेसे पृथक् करके किसी भी वस्तुमें सिद्ध किया जाय तो उससे

एकान्तवाद ही खड़ा होगा और अनेकान्तदृष्टि लुप्त होगी। इसीलिए इन दोनोंका परस्पर सापेक्ष रूपसे ही साधन करना उचित है।

कोई वादी पूर्वपक्ष करते समय हेतुसे सिद्ध किये जानेवाले अपने साध्यकी यदि एकान्तरूपसे योजना करे, तो प्रतिवादी उसकी न्यूनताको देखकर उसके पक्षको तोड डालता है और इसका परिणाम यह आता है कि वह हार जाता है। वस्तुस्थिति कुछ ऐसी ही है। अब यदि उसी पूर्वपक्षीने पहले ही से अपने पक्षमें न्यूनता न रहे इस बातको ध्यानमें रखकर अनेकान्तदृष्टिसे साध्यकी योजना की होती, तो यह स्पष्ट है कि चाहे जैसे प्रबल प्रतिपक्षीसे भी उसे पराजित न होना पडता। अतः वादमें उतरनेवाला अनेकान्तदृष्टिसे ही साध्यका उपन्यास करे, जिससे उसे कभी हारना न पडे।

एकान्तपनेके कारण जो नितान्त मिथ्या हो उसकी तो बात ही जाने दे, परन्तु सचमुच सत्य होनेपर भी यदि उसे अनिश्चित एव सदिग्ध रूपसे वादगोष्ठीमे रखा जाय, तो वह वादी व्यवहारकुशल एव शास्त्रनिपुण सभी सभ्योकी दृष्टिसे गिर जाता है। इससे मात्र अनेकान्तदृष्टि रखना ही पर्याप्त नही है, परतु उस दृष्टिके साथ असदिग्धवादिता भी वादगोष्ठीमें आवश्यक है।

तत्त्वप्ररूपणाकी योग्य रीतिका कथन—

दव्वं खित्तं कालं भावं पज्जाय-देस-संजोगे।
भेदं च पडुच्च समा भावाणं पण्णवणपज्जा॥ ६०॥

अर्थ—पदार्थोंकी प्ररूपणाका मार्ग द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, पर्याय, देश, सयोग और भेदका अवलम्बन लेनेपर ही योग्य होता है।

विवेचन—पदार्थोंकी अनेकान्तदृष्टिप्रधान प्ररूपणा योग्य रूपसे करनी हो तो जिन-जिन बातोकी ओर ध्यान अवश्य ही रखना चाहिए उन बातोंका यहाँ निर्देश है। ऐसी बात आठ हैं और वे इस प्रकार हैं: १ द्रव्य—पदार्थकी मूल जाति; २. क्षेत्र—स्थितिक्षेत्र, ३. काल—समय; ४. भाव—पदार्थगत मलशक्ति, ५. पर्याय—शक्तिके आविर्भूत होनेवाले कार्य; ६ देश—व्यावहारिक स्थान, ७. सयोग—आसपासकी परिस्थिति, और ८ भेद—प्रकार।

उदाहरणार्थ यदि ध्यान, त्याग आदि किसी चारित्राशके अधिकारका निरूपण करना हो अथवा आत्मतत्त्वका स्वरूप बताना हो, तो कमसे कम ऊपरकी आठ बातोंपर बराबर लक्ष्य रखनेसे ही वह विशद एव अभ्रान्त रूपसे हो सकेगा।

केवल एक-एक नयाश्रित सूत्रमें सम्पूर्ण सूत्रत्वकी मान्यतासे आने-वाले दोष—

पाडेक्कनयपहगयं सुत्तं सुत्तहरसद्दसंतुट्ठा ।
अविकोवियसामत्था जहागमविभत्तपडिवत्ती ॥ ६१ ॥
सम्मद्दंसणमिणमो सयलसमत्तवयणिज्जणिद्दोसं ।
अत्तुक्कोसविणट्ठा सलाहमाणा विणासेंति ॥ ६२ ॥

अर्थ—एक-एक नयमार्गपर आश्रित सूत्रको पढ़कर जो सूत्रधर शब्दसे सन्तुष्ट हो जाते हैं वे विद्वानयोग्य सामर्थ्य बिनाके रह जाते हैं; और इससे उनकी प्रतिपत्ति आगमके अनुसार ही विभक्त होती है, अर्थात् मात्र शब्दस्पर्शी होती है।

अपनी बडाई हाँकनेवाले वे आत्मोत्कर्षसे नष्ट होकर सम्पूर्ण धर्मोंमें समानेवाले वक्तव्यके कारण निर्दोष उस सम्यग्दर्शन अर्थात् अनेकान्त-दृष्टिका नाश करते हैं।

विवेचन—किसी भी एक वस्तुके बारेमें सभी दृष्टियोंसे विचार किये बिना जो किसी एकाध दृष्टिको पकड लेते हैं और उस दृष्टिके समर्थक सूत्रका अभ्यास करके अपने आपको सूत्रधर मानकर उतनेसे ही सन्तुष्ट हो जाते हैं, उनमें अनेकान्तदृष्टिके योग्य विद्वत्ताका सामर्थ्य नहीं आता, और इसीलिए उनका ज्ञान मात्र शब्दपाठ तक ही विशद होता है, उनमें स्वतन्त्र-प्रज्ञाजन्य विशदता नहीं आती। फलत वे अल्पको बहुत मानकर फूल जाते हैं और अपनी डींग हाँकते-हाँकते अन्तमें अनेकान्त-दृष्टिका नाश ही करते हैं।

शास्त्रप्ररूपणाके अधिकारी होनेके लिए आवश्यक गुण

ण हु सासणभत्तीमेत्तएण सिद्धंतजाणओ होइ ।
ण वि जाणओ वि णियमा पण्णवणाणिच्छिओ णामं ॥ ६३ ॥

अर्थ—मात्र आगमकी भक्तिसे कोई सिद्धान्तका ज्ञाता नहीं होता, तथा उसका ज्ञाता भी नियमसे प्ररूपणाके योग्य नहीं बनता।

विवेचन—कोई केवल शास्त्रकी भक्तिसे प्रेरित होकर उसकी प्ररूपणाका अधिकार अपनेमें मानता है, तो कोई दूसरा थोड़ा-सा ज्ञान हुआ न-हुआ कि उसका अधिकार अपनेमें है ऐसा समझ लेता है। इन दोनोंको लक्ष्यमें रखकर ग्रन्थकार

कहते हैं कि शास्त्रकी यथावत् प्ररूपणाका अधिकार प्राप्त करनेके लिए तत्त्वोंका पूर्ण और निश्चित ज्ञान होना चाहिए। वह केवल शास्त्रकी भक्तिसे अथवा उसके थोडेसे ज्ञानसे सिद्ध नही होता, क्योंकि भक्ति होनेपर भी बहुत-से लोगोमे शास्त्रका ज्ञान नहीं होता और शास्त्रका ज्ञान रखनेवाले सभीमे नियमत प्ररूपणा करनेकी योग्यता नही होती। ऐसी योग्यता तो शास्त्रज्ञोमे भी अनेकान्तदृष्टिका स्पर्श करनेवाले किसी विरलेमे ही होती है।

तत्त्वोंके पूर्ण और निश्चित ज्ञानके लिए क्या करना चाहिए इसका कथन—

सुत्तं अत्थनिमेणं न सुत्तमेत्तेण अत्थपडिवत्ती ।
अत्थगई उण णयवायगहणलीणा दुरभिगम्मा ।। ६४ ।।
तम्हा अहिगयसुत्तेण अत्थसंपायणम्मि जइयव्वं ।
आयरियधीरहत्था हंदि महाणं विलंबेन्ति ।। ६५ ।।

अर्थ—सूत्र अर्थका स्थान है, परन्तु मात्र सूत्रसे अर्थकी प्रतिपत्ति नही होती, अर्थका ज्ञान भी गहन नयवादपर आश्रित होनेसे दुर्लभ है।

अत. सूत्रका ज्ञाता अर्थ प्राप्त करनेका प्रयत्न करे, क्योंकि अकुशल एव धृष्ट आचार्य सचमुच शासनकी विडम्बना करते है।

विवेचन—यदि कोई सूत्रपाठके अभ्यासमात्रसे तत्त्वज्ञताका दावा करे, तो उसे उत्तर देते हुए ग्रन्थकार कहते है कि यह सच है कि अर्थका प्रतिपादक होनेसे सूत्रपाठ उसका आधार है, परन्तु केवल सूत्रपाठसे अर्थका पूर्ण और विशद ज्ञान नही हो सकता। ऐसा ज्ञान गहन नयवादपर आश्रित होनेसे प्राप्त करना कठिन है। नयवादमे बराबर प्रवेश होनेपर ही ऐसा ज्ञान सुलभ हो सकता है।

अत जो व्यक्ति तत्त्वोका पूर्ण एव विशद ज्ञान प्राप्त करना चाहता है उसे सूत्रपाठ सीखनेके पश्चात् भी उसका नयसापेक्ष और पूर्वापर अविरुद्ध अर्थ जाननेके लिए प्रयत्न करना ही चाहिए और इसके लिए उसे नयवादमे प्रवेश करना ही पडेगा। जो ऐसा नही करते और अकुशल होनेपर भी धृष्ट बनकर शास्त्रकी प्ररूपणा करते है वे जैन-प्रवचनको दूसरोकी दृष्टिमे गिरा देते हैं।

गम्भीर चिन्तन-विहीन बाह्य आडम्बरमे आनेवाले दोषोका कथन—

जह जह बहुस्सुओ सम्मओ य सिस्सगणसंपरिवुडो य ।
अविणिच्छिओ य समये तह तह सिद्धंतपडिणीओ ।। ६६ ।।

चरण-करणप्पहाणा ससमय-परसमयमुक्कवावारा ।
चरण-करणस्स सारं णिच्छयसुद्धं ण याणंति ॥ ६७ ॥

अर्थ—सिद्धान्तमें निश्चित मति न रखनेवाला कोई आचार्य जैसे-जैसे बहुश्रुत माना जाता है और शिष्यसमूहसे घिरता जाता है, वैसे-वैसे वह सिद्धान्तका शत्रु बनता है ।

जो व्रत एवं उनके पोषक नियमोमें मग्न है और स्वसिद्धान्त एवं परसिद्धान्तका चिन्तनकार्य छोड़ बैठे है वे निश्चयदृष्टिसे शुद्ध ऐसा व्रतनियमका फल ही नही जानते ।

विवेचन—जो प्रतिष्ठा, पदवी और शिष्यपरिवारके मोहमे रत है उन्हे तथा जो शास्त्रीय चिन्तनका परित्याग करके मात्र क्रियामें ही लीन रहते है उन्हें लक्ष्यमें रखकर ग्रन्थकार कहते है कि सिद्धान्तके चिन्तनसे रहित पुरुष ज्यो-ज्यो वैसे ही लोगोमें बहुश्रुतके रूपमे मान्य होता जायगा और वैसे ही शिष्योको इकट्ठा करके उनका नेता बनता जायगा, त्यो-त्यो वह जैन सिद्धान्तका शत्रु ही होता जायगा । बहुश्रुतत्व-की मुहर या बडा शिष्य-परिवार सिद्धान्तके सुनिश्चित ज्ञानके हेतुभूत नही है, उल्टा, बाह्य आडम्बर और दम्भ वैसे निश्चित ज्ञानके बाधक ही होते हैं ।

व्रत-नियम और उनसे सम्बद्ध विविध आचारोमे रत होकर तत्त्वचिन्तनका परित्याग करनेवाले वे व्रत-नियम एव आचारके फलसे वचित रह जाते है । उनका फल तो तत्त्वोका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके विशद रुचिके उद्बोधनके द्वारा आत्मशुद्धि करना है । अब यदि शास्त्रचिन्तन ही छोड दिया जाय, तो तत्त्वोका सामान्य ज्ञान भी सम्भव नही होगा और सामान्य ज्ञान भी न हो तो उन तत्त्वोका विशेष रूपसे विशद ज्ञान कैसे सम्भव हो सकता है ? ऐसे विशद ज्ञानके अभावमें वास्तविक तत्त्वरुचि अर्थात् सम्यग्दर्शन भी शक्य नही है, और इसके बिना आत्म-शुद्धि भी नही होगी । अत आत्मशुद्धिके लक्ष्यसे व्रतनियम अगीकार करनेवालेके लिए यह आवश्यक है कि वह तत्त्वचिन्तनका कभी भी परित्याग न करे ।

जो स्वतत्ररूपसे तत्त्वचिन्तन करनेमे असमर्थ हो, वह भी अन्तमे योग्य गुरुका आश्रय लेकर तत्त्वचिन्तनके वातावरणमे जीवन व्यतीत करे, यही व्रत-नियमोंको सफल बनानेका राजमार्ग है ।

अकेले ज्ञान और अकेली क्रियाकी अनुपयोगिताका कथन—

णाणं किरियारहियं किरियामेत्तं च दो वि एगन्ता ।
असमत्था दाएउं जम्म-मरणदुक्ख मा भाई ॥ ६८ ॥

अर्थ—बिना क्रियाका ज्ञान और ज्ञानशून्य मात्र क्रिया—ये दोनों एकान्त होनेसे जन्म-मृत्युके दुःखसे निर्भयता देनेमे असमर्थ है।

विवेचन—पिछली गाथामे क्रियाके साथ ज्ञानकी आवश्यकता बताई है। यहाँ इन दोनोका समन्वय सिद्ध करनेके लिए अनेकान्तदृष्टिका उपयोग करनेकी सूचना है।

आत्माकी शक्तियोका एक-सा विकास साधे बिना कोई भी फल प्राप्त नही किया जा सकता। उसकी मुख्य दो शक्तियाँ है एक चेतना और दूसरी वीर्य। ये दोनों शक्तियाँ आपसमे ऐसी गुँथी हुई है कि एकके विकासके बिना दूसरीका विकास अधूरा ही रह जाता है। अतः दोनो शक्तियोका एक साथ विकास आवश्यक है। चेतनाका विकास अर्थात् ज्ञान प्राप्त करना और वीर्यका विकास अर्थात् उस ज्ञानके अनुसार जीवनका निर्माण करना। सूझ न हो तो योग्य रूपसे जीवनकी निर्मिति कैसे हो सकती है? और सूझ होनेपर भी उसके अनुसार आचरण न किया जाय तो उससे जीवनको क्या लाभ? इसीलिए कहा गया है कि ज्ञान और क्रिया ये दोनो एकान्त अर्थात् जीवनके अलग-अलग छोर है। ये दोनो छोर योग्य रूपसे जीवनमें व्यवस्थित हो तभी वे फलसाधक बन सकते हैं, अन्यथा नही। इस बारेमे अन्ध-पंगुन्याय प्रसिद्ध है।

उपसंहारमें जिनवचनकी कुशलकामना—

> भद्दं मिच्छादंसणसमूहमइयस्स अमयसारस्स।
> जिणवयणस्स भगवओ संविग्गसुहाहिगम्मस्स ॥ ६९ ॥

अर्थ—मिथ्यादर्शनोंके समूहरूप, अमृत (अमरता) देनेवाले और मुमुक्षुओं द्वारा अनायास ही समझमे आ सके ऐसे पूज्य जिनवचनका भद्र (कल्याण) हो।

विवेचन—यहाँ जिनवचनकी कुशलकामना करते हुए ग्रन्थकारने उसे तीन विशेषण दिये हैं: १ 'मिथ्यादर्शनोके समूहरूप' इस विशेषणसे ऐसा सूचित किया है कि जैनदर्शनकी विशेषता भिन्न-भिन्न और एक-दूसरीकी अवगणना करनेसे मिथ्या सिद्ध होनेवाली अनेक विचारसरणियोंको योग्य रूपमें रखकर उनकी उपयोगिता सिद्ध करनेमे ही है। २. 'संविग्नसुखाधिगम्य' इस विशेषणसे ऐसा सूचित किया है कि जैनदर्शन परस्पर विरोधी अनेक दृष्टियोका समुच्चय होनेसे चाहे जितना जटिल

हो, फिर भी वह मुमुक्षु अर्थात् तटस्थ व्यक्तिके लिए बिना श्रमके समझमें आ सके ऐसा है। इसे समझनेका अधिकार क्लेशशान्ति (मुमुक्षुता) में रहा हुआ है। ३. 'अमृतसार' इस विशेषणसे ऐसा सूचित किया है कि जिसमे मध्यस्थभाव केन्द्र-स्थानमें है और इसीलिए जो मध्यस्थोके द्वारा ही समझमें आ सकता है ऐसा यह जिनवचन क्लेशके नाशके द्वारा अमरता देनेकी, यदि अधिकारी उपयोग करना जाने तो, शक्ति रखता है। इन तीनों विशेषणोके कारण ही उसकी महनीयता है।

तृतीय काण्ड समाप्त

परिशिष्ट*

(१) भंगोंका इतिहास

अनेकान्तवादकी चर्चाके प्रसंगमे यह स्पष्ट हो गया है कि भ० महावीरने परस्पर विरोधी धर्मोंका एक ही धर्मीमे स्वीकार किया और इस प्रकार उनकी समन्वयकी भावनामेसे अनेकान्तवादका जन्म हुआ है। किसी भी विषयमे प्रथम अस्ति–विधिपक्ष होता है, तब कोई दूसरा उस पक्षका नास्ति–निषेध पक्ष लेकर खण्डन करता है। अतएव समन्वेताके सामने जब-तक दोनो विरोधी पक्षोकी उपस्थिति न हो, तबतक समन्वयका प्रश्न उठता ही नही। इस प्रकार अनेकान्तवाद या स्याद्वादके मूलमे सर्वप्रथम अस्ति और नास्ति पक्षका होना आवश्यक है। अतएव स्याद्वादके भगोमें सर्वप्रथम इन दोनो भगोको स्थान मिलना स्वाभाविक ही है। यदि हम भगोके साहित्यिक इतिहासकी ओर ध्यान दे, तो हमे सर्वप्रथम ऋग्वेदके नासदीय-सूक्तमे भगोका कुछ आभास मिलता है। उक्त सूक्तके ऋषिके सामने दो मत थे। कोई जगत्के आदिकारणको सत् कहते थे, तो दूसरे असत्। ऋषिके सामने जब समन्वयकी इस प्रकारकी सामग्री उपस्थित हुई, तब उन्होने कहा कि वह सत् भी नही, असत् भी नही। उनका यह निषेधमुख उत्तर भी एक पक्षमे परिणत हो गया। इस प्रकार सत्, असत् और अनुभय ये तीन पक्ष तो ऋग्वेद जितने पुराने सिद्ध होते है।

उपनिषदोमे आत्मा या ब्रह्मको ही परम तत्त्व मानकर आन्तर-बाह्य सभी वस्तुओको उसीका प्रपच माननेकी प्रवृत्ति हुई, तब अनेक विरोधोकी भूमि ब्रह्म या आत्माका बनना स्वाभाविक था। इसका परिणाम यह हुआ कि आत्मा, ब्रह्म या ब्रह्मस्वरूप विश्वको ऋषियोने अनेक विरोधी धर्मोसे अलकृत किया। पर जब उन विरोधोके तार्किक समन्वयसे भी उन्हे सम्पूर्ण सन्तोष-लाभ न हुआ, तब उसे वचनागोचर—अवक्तव्य—अव्यपदेश्य बताकर

---

* पं० श्री दलसुखभाई मालवणिया द्वारा सम्पादित और सिंघी ग्रन्थमालामें प्रकाशित न्यायावतारवार्तिकवृत्तिकी प्रस्तावना (पृ० ३६ से ४२) मेंसे साभार उद्धृत।

व अनुभवगम्य कहकर उन्होंने वर्णन करना छोड़ दिया। यदि उक्त प्रक्रिया-को ध्यानमें रखा जाय, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि "तदेजति तन्नैजति" (ईशा० ५), "अणोरणीयान् महतो महीयान्" (कठ० १ २. २०, श्वेता० ३.२०), "संयुक्तमेतत् क्षरमक्षरं च व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः। अनीश-श्चात्मा" (श्वेता० १ ८), "सदसद्वरेण्यम्" (मुण्डक० २ २. १) इत्यादि उपनिषद्वाक्योंमें दो विरोधी धर्मोंका स्वीकार किसी एक ही धर्मीमें अपेक्षा-भेदसे किया गया है।

उन वाक्योंमे विधि और निषेध दोनो पक्षोका विधिमुखसे समन्वय हुआ है। ऋग्वेदके ऋषिने दोनो विरोधी पक्षोको अस्वीकृतकर निषेधमुखसे तीसरे अनुभयपक्षको उपस्थित किया है, जब कि उपनिषदोके ऋषियोने दोनो विरोधी धर्मोंके स्वीकारके द्वारा उभयपक्षका समन्वयकर उक्त वाक्यो-में विधिमुखसे चौथे उभयभगका आविष्कार किया।

किन्तु परमतत्त्वको इन धर्मोंका आधार माननेपर जब उन्हे विरोधकी गन्ध आने लगी, तब फिर अन्तमे उन्होंने दो मार्ग अपनाये। उनमें दूसरे लोगो द्वारा स्वीकृत धर्मोंका निषेध करना प्रथम मार्ग है। यानी ऋग्वेदके ऋषिकी तरह अनुभयपक्षका अवलम्बनकर निषेधमुखसे उत्तर देना कि वह न सत् है न असत्—"न सन्न चासत्" (श्वेता० ४ १८)। जब इसी निषेधको "स एष नेति नेति" (बृहदा० ४ ५ १५) की अन्तिम मर्यादातक पहुँचाया गया, तब इसीमेसे फलित हुआ कि वह अवक्तव्य है। यही दूसरा मार्ग है। "यतो वाचो निवर्तन्ते" (तैत्तिरीय० २ ४), "यद्वाचानभ्युदितम्" (केन० १ ४), "नैव वाचा न मनसा प्राप्तु शक्य (कठ० २ ६. १२), "अदृष्टम-व्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसार प्रपञ्चोपशम शान्त शिवमद्वैत चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेय" (माण्डूक्य० ७) इत्यादि उपनिषद्वाक्योंमे इसी अवक्तव्यभगकी चर्चा है।

इतनी चर्चासे स्पष्ट है कि जब दो विरोधी धर्म उपस्थित होते हैं, तब उसके उत्तरमे तीसरा पक्ष निम्न तीन तरहसे हो सकता है—

१ उभय विरोधी पक्षोको स्वीकार करनेवाला (उभय)।

२. उभय पक्षका निषेध करनेवाला (अनुभय)।

३ अवक्तव्य।

इनमेंसे तीसरा प्रकार, जैसा कि पहले बताया गया, दूसरेका विकसित रूप ही है। अतएव अनुभय और अवक्तव्यको एक ही भग समझना चाहिए। अनुभयका तात्पर्य यह है कि वस्तु उभय रूपसे वाच्य नही अर्थात् वह सत्-

रूपसे व्याकरणीय नहीं और असद्रूपसे भी व्याकरणीय नहीं। अतएव अनुभयका दूसरा पर्याय अवक्तव्य हो जाता है।

इस अवक्तव्यमें और वस्तुकी सर्वथा अवक्तव्यताके पक्षको व्यक्त करनेवाले अवक्तव्यमें जो सूक्ष्म भेद है उसे ध्यानमें रखना आवश्यक है। प्रथमको यदि सापेक्ष अवक्तव्य कहा जाय, तो दूसरेको निरपेक्ष अवक्तव्य कहा जा सकता है। जब हम किसी वस्तुके दो या अधिक धर्मोंको मनमें रखकर तदर्थ शब्दकी खोज करते हैं, तब प्रत्येक धर्मके वाचक भिन्न-भिन्न शब्द तो मिल जाते हैं; किन्तु उन शब्दोंके क्रमिक प्रयोगसे विवक्षित सभी धर्मोंका बोध युगपत् नहीं हो पाता। अतएव वस्तुको हम अवक्तव्य कह देते हैं। यह हुई सापेक्ष अवक्तव्यता। दूसरे निरपेक्ष अवक्तव्यसे यह प्रतिपादित किया जाता है कि वस्तुका पारमार्थिक रूप ही ऐसा है जो शब्दका गोचर नहीं, अतएव उसका वर्णन शब्दसे हो ही नहीं सकता।

स्याद्वादके भंगोंमे जो अवक्तव्य भंग है, वह सापेक्ष अवक्तव्य है। ऐसा प्रतीत होता है कि वक्तव्यत्व-अवक्तव्यत्व दो विरोधी धर्मोंको लेकर जैनाचार्योंने स्वतन्त्र सप्तभंगीकी जो योजना की है, वह निरपेक्ष अवक्तव्यको लक्षित करके की गयी है। अतएव अवक्तव्य शब्दका प्रयोग संकुचित और विस्तृत ऐसे दो अर्थमें होता है, ऐसा मानना चाहिए। जब विधि और निषेध उभयरूपसे वस्तुकी अवाच्यता अभिप्रेत हो तब अवक्तव्य संकुचित या सापेक्ष अवक्तव्य है और जब सभी प्रकारोंका निषेध करना हो तब विस्तृत और निरपेक्ष अवक्तव्य अभिप्रेत है।

दार्शनिक इतिहासमें उक्त सापेक्ष अवक्तव्यत्व नया नहीं है। ऋग्वेदके ऋषिने जगत्‌के आदिकारणको सद्रूप और असद्रूपसे अवाच्य माना है, क्योंकि उनके सामने दो ही पक्ष थे, जब कि माण्डूक्यने चतुर्थपाद आत्माको अन्तःप्रज्ञ (विधि), बहिष्प्रज्ञ (निषेध) और उभयप्रज्ञ (उभय) तीनों रूपसे अवाच्य माना, क्योंकि उनके सामने आत्माके उक्त तीनों प्रकार थे। किन्तु माध्यमिक दर्शनके दूत नागार्जुनने वस्तुको चतुष्कोटिविनिर्मुक्त कहकर अवाच्य माना, क्योंकि उनके सामने विधि, निषेध, उभय और अनुभय ऐसे चार पक्ष थे। इस प्रकार सापेक्ष वक्तव्यता दार्शनिक इतिहासमें प्रसिद्ध ही है। इसी प्रकार निरपेक्ष अवक्तव्यता भी उपनिषदोंमें प्रसिद्ध है। जब हम 'यतो वाचो निवर्तन्ते' जैसे वाक्य सुनते हैं तथा जैन आगममें जब 'सव्वे सरा नियट्टन्ति' जैसे वाक्य सुनते हैं, तब यह स्पष्ट हो जाता है कि वहाँ निरपेक्ष अवक्तव्यताका ही प्रतिपादन हुआ है।

इतनी चर्चासे यह स्पष्ट है कि अनुभय और सापेक्ष अवक्तव्यताका तात्पर्यार्थ एक माननेपर यही मानना पड़ता है कि जब विधि और निषेध दो विरोधी पक्षोकी उपस्थिति होती है, तब उसके उत्तरमे तीसरा पक्ष या तो उभय होगा या अवक्तव्य होगा। अतएव ऐसा मानना उचित है कि उपनिषदोके समयतक ये चार पक्ष स्थिर हो चुके थे—

१. सत् (विधि)

२. असत् (निषेध)

३ सदसत् (उभय)

४. अवक्तव्य (अनुभय)

इन्ही चार पक्षोकी परम्परा बौद्ध त्रिपिटकसे भी सिद्ध होती है। भगवान् बुद्धने जिन प्रश्नोके विषयमे व्याकरण करना अनुचित समझा है, उन प्रश्नोको अव्याकृत कहा जाता है। वे अव्याकृत प्रश्न भी यही सिद्ध करते है कि भगवान् बुद्धके समयपर्यन्त दार्शनिकोमे एक ही विषयमे चार विरोधी पक्ष उपस्थित करनेकी शैली प्रचलित थी। इतना ही नही, बल्कि उन चारो पक्षोका रूप भी ठीक वैसा ही है, जैसा कि उपनिषदोमे पाया जाता है। इससे यह सहज सिद्ध है कि उक्त चारो पक्षोका रूप तबतक वैसा ही स्थिर हो चुका था, जो कि निम्नलिखित अव्याकृत प्रश्नोको देखनेसे स्पष्ट होता है—

१ होति तथागतो परमरणाति ?

२ न होति तथागतो परमरणाति ?

३ होति च न होति च तथागतो परमरणाति ?

४ नेव होति न नहोति तथागतो परमरणाति[1] ?

इन अव्याकृत प्रश्नोके अतिरिक्त भी अन्य प्रश्न त्रिपिटकमे ऐसे हैं, जो उक्त चार पक्षोको ही सिद्ध करते है—

१ सयकत दुक्खनि ?

२ परकत दुक्खति ?

३ सयकत परकत च दुक्खति ?

४ असयकार अपरकार दुक्खति ?—सयुत्तनि० १२ १७.

त्रिपिटकगत सजयबेलट्ठिपुत्तके मतवर्णनको देखनेसे भी यही सिद्ध होता है कि तबतक वे ही चार पक्ष स्थिर थे। सजय विक्षेपवादी था। वह निम्नलिखित किसी विषयमे अपना निश्चित मत प्रकट करता न था।[2]

---

१. संयुत्तनिकाय XLIV. २. दीघनिकाय : सामञ्ञफलसुत्त।

(१) १. परलोक है ?
२. परलोक नही है ?
३. परलोक है और नही है ?
४. परलोक है ऐसा नही, नही है ऐसा नही ?

(२) १. औपपातिक है ?
२ औपपातिक नही है ?
३. औपपातिक है और नहीं है ?
४. औपपातिक न है, न नही है ?

(३) १ सुकृत दुष्कृत कर्मका फल है ?
२ सुकृत दुष्कृत कर्मका फल नही है ?
३ सुकृत दुष्कृत कर्मका फल है और नही है ?
४ सुकृत दुष्कृत कर्मका फल न है, न नही है ?

(४) १ मरणानन्तर तथागत है ?
२ मरणानन्तर तथागत नही है ?
३ मरणानन्तर तथागत है और नही है ?
४ मरणानन्तर तथागत न है और न नही है ?

जैन आगमोमे भी ऐसे कई पदार्थोंका वर्णन मिलता है, जिनमे विधि-निषेध-उभय और अनुभयके आधारपर चार विकल्प किये गये है। यथा—

(१) १. आत्मारम्भ
२ परारम्भ
३ तदुभयारम्भ
४ अनारम्भ —भगवती १ १ १७

(२) १ गुरु
२. लघु
३ गुरु-लघु
४ अगुरुलघु —भगवती १.९ ७४

(३) १. सत्य
२. मृषा
३ सत्य-मृषा
४. असत्यमृषा —भगवती १३.७ ४९३

(४) १. आत्मांतकर
२. परातकर
३. आत्मपरातकर
४ नोआत्मातकर-परांतकर इत्यादि

—स्थानांग २८७, २८९, ३२७, ३४४, ३५५, ३६५।

इतनी चर्चासे यह स्पष्ट है कि विधि, निषेध, उभय और अवक्तव्य (अनुभय) ये चार पक्ष भगवान् महावीरके समयपर्यन्त स्थिर हो चुके थे। इसीसे ऐसी कल्पना होती है कि भ० महावीरने इन्ही पक्षोका समन्वय किया होगा। उस अवस्थामे स्याद्वादके ये मौलिक भग फलित होते हैं—

१. स्यात् सत् (विधि)
२. स्यात् असत् (निषेध)
३ स्यात् सत् स्यात् असत् (उभय)
४ स्यात् अवक्तव्य (अनुभय)

(२) अवक्तव्यका स्थान

इन चार भगोमेसे जो अन्तिम अवक्तव्य भग है, वह दो प्रकारसे लब्ध हो सकता है—

१ प्रथमके दो भगरूपसे वाच्यताका निषेध करके।
२ प्रथमके तीनो भगरूपसे वाच्यताका निषेध करके।

(१) जब प्रथम दो भगरूपसे वाच्यताका निषेध अभिप्रेत हो, तब स्वाभाविक तौरपर अवक्तव्यका स्थान तीसरा पडता है। यह स्थिति ऋग्वेदके ऋषिके मनकी जान पडती है, जब कि उन्होने सत् और असत् रूपसे जगत्के आदिकारणको अवक्तव्य बताया। अतएव यदि स्याद्वादके भगोमे अवक्तव्यका तीसरा स्थान जैन ग्रन्थोमे आता हो, तो वह इतिहासकी दृष्टिसे सगत ही है। भगवतीसूत्रमे[1] जहाँ स्वय भ० महावीरने स्याद्वादके भगोका विवरण किया है, वहाँ अवक्तव्य भगका स्थान तीसरा है। यद्यपि वहाँ उसका तीसरा स्थान अन्य दृष्टिसे है, जिसका कि विवरण आगे किया जायगा, तथापि भगवान् महावीरने जो ऐसा किया, वह किसी प्राचीन परम्पराका ही अनुगमन हो, तो आश्चर्य नही। इसी परम्पराका अनुगमन करके आचार्य उमास्वाति (तत्त्वार्थभा० ५ ३१), सिद्धसेन (सन्मति १.३६),

---

१. भगवती १२.१०.४६९।

जिनभद्र (विशेषा० गा० २२३२) आदि आचार्योंने अवक्तव्यको तीसरा स्थान दिया है।

(२) जब प्रथमके तीनो भंगरूपसे वाच्यताका निषेध करके वस्तुको अवक्तव्य कहा जाता है, तब स्वभावत अवक्तव्यको भंगोंके क्रममें चौथा स्थान मिलना चाहिए। माण्डूक्योपनिषद्मे चतुष्पाद आत्माका वर्णन है। उसमें जो चतुर्थपादरूप आत्मा है, वह ऐसा ही अवक्तव्य है। ऋषिने कहा है कि—"नान्त प्रज्ञ न बहिष्प्रज्ञ नोभयत प्रज्ञ" (माण्डूक्य० ७)। इससे स्पष्ट है कि १. अन्त प्रज्ञ, २. बहिष्प्रज्ञ, ३ उभयप्रज्ञ—इन तीनो भगोका निषेध करके उस आत्माके स्वरूपका प्रतिपादन किया गया है और फलित किया है कि "अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यम् (माण्डूक्य० ७) ऐसे आत्माको ही चतुर्थपाद समझना चाहिए। कहना न होगा कि प्रस्तुतमें विधि-निषेध-उभय इन तीन भंगोसे वाच्यताका निषेध करनेवाला चतुर्थ अवक्तव्य भग विवक्षित है। ऐसी स्थितिमें स्याद्वादके भगोमें अवक्तव्यको तीसरा नही, किन्तु चौथा स्थान मिलना चाहिए। ऐसी परम्पराका अनुगमन सप्तभंगीमे अवक्तव्यको चतुर्थ स्थान देनेवाले आचार्य समन्तभद्र (आप्तमी० का० १६) और तदनुयायी जैनाचार्योंके द्वारा हुआ हो, तो आश्चर्य नही। आचार्य कुन्दकुन्दने दोनो मतोका अनुगमन किया है।

(३) स्याद्वादके भंगोंकी विशेषता

स्याद्वादके भगोमे भ० महावीरने पूर्वोक्त चार भगोके अतिरिक्त अन्य भगोकी भी योजना की है। इनके विषयमे चर्चा करनेके पहले उपनिषद्-निर्दिष्ट चार पक्ष, त्रिपिटकके चार अव्याकृत प्रश्न, संजयके चार भग और भ० महावीरके स्याद्वादके भग इन सभीमे परस्पर क्या विशेषता है, उसकी चर्चा कर लेना विशेष उपयुक्त होगा।

उपनिषदोमे माण्डूक्यको छोड़कर किसी एक ऋषिने उक्त चारो पक्षों-को स्वीकृत नही किया। किसीने सत् पक्षको, किसीने असत् पक्षको, किसीने उभय पक्षको, तो किसीने अवक्तव्य पक्षको स्वीकृत किया है, जब कि माण्डूक्य-ने आत्माके विषयमे चारो पक्षोको स्वीकृत किया है।

भगवान् बुद्धके चारो अव्याकृत प्रश्नोके विषयमे तो स्पष्ट ही है कि भ० बुद्ध उन प्रश्नोका हाँ या नामे कोई उत्तर देना ही नहीं चाहते थे। अतएव वे प्रश्न अव्याकृत कहलाये। इसके विरुद्ध भगवान् महावीरने चारों पक्षोंका समन्वय करके सभी पक्षोका अपेक्षाभेदसे स्वीकार किया है।

संजयके मतमें और स्याद्वादमे भेद यह है कि स्याद्वादी प्रत्येक भंगका स्पष्ट रूपसे निश्चयपूर्वक स्वीकार करता है, जब कि संजय मात्र भगजालकी रचना करके उन भगोंके विषयमें अपना अज्ञान ही प्रकट करता है। संजयका कोई निश्चय ही नही। वह भगजालकी रचना करके अज्ञानवादमें ही कर्तव्यकी इतिश्री समझता है, तब स्याद्वादी भ० महावीर प्रत्येक भगके स्वीकारकी आवश्यकता बताकर विरोधी भगोके स्वीकारके लिए नयवाद—अपेक्षावादका समर्थन करते है। यह तो सम्भव है कि स्याद्वादके भगोंकी योजनामे सजयके भगवादसे भ० महावीरने लाभ उठाया हो, किन्तु यह स्पष्ट है कि उसमे उन्होने अपना स्वातन्त्र्य भी बताया है, अर्थात् दोनोंका दर्शन दो विरोधी दिशामे प्रवाहित हुआ है।

ऋग्वेदसे भ० बुद्धपर्यन्त जो विचारधारा प्रवाहित हुई है उसका विश्लेषण किया जाय, तो प्रतीत होता है कि प्रथम एक पक्ष उपस्थित हुआ, जैसे सत् या असत्का। उसके विरोधमे विपक्ष उत्थित हुआ असत् या सत्का। तब किसीने इन दो विरोधी भावनाओंको समन्वित करनेकी दृष्टिसे कह दिया कि तत्त्व न सत् कहा जा सकता है और न असत्, वह तो अवक्तव्य है। और किसी दूसरेने दो विरोधी पक्षोको मिलाकर कह दिया कि वह सदसत् है। वस्तुत विचारधाराके उपर्युक्त पक्ष, विपक्ष और समन्वय ये तीन क्रमिक सोपान है। किन्तु समन्वयपर्यन्त आ जानेके बाद फिरसे समन्वयको ही एक पक्ष बनाकर विचारधारा आगे चलती है, जिससे समन्वयका भी एक विपक्ष उपस्थित होता है। और फिर नये पक्ष और विपक्षके समन्वयकी आवश्यकता होती है। यही कारण है कि जब वस्तुकी अवक्तव्यतामे सत् और असत्का समन्वय हुआ, तब वह भी एक एकान्त पक्ष बन गया। ससारकी गतिविधि ही कुछ ऐसी है, मनुष्यका मन ही कुछ ऐसा है कि उसे एकान्त सह्य नही। अतएव वस्तुकी ऐकान्तिक अवक्तव्यताके विरुद्ध भी एक विपक्ष उपस्थित हुआ कि वस्तु ऐकान्तिक अवक्तव्य नही, उसका वर्णन भी शक्य है। इसी प्रकार समन्वयवादीने जब वस्तुको सदसत् कहा, तब उसका वह समन्वय भी एक पक्ष बन गया और स्वभावत उसके विरोधमे विपक्षका उत्थान हुआ। अतएव किसीने कहा कि एक ही वस्तु सदसत् कैसे हो सकती है, उसमे विरोध है। जहाँ विरोध होता है, वहाँ सशय उपस्थित होता है। जिस विषयमे सशय हो, वहाँ उसका ज्ञान सम्यग्ज्ञान नही हो सकता। अतएव यह मानना चाहिए कि वस्तुका सम्यग्ज्ञान नही। हम उसे ऐसा भी नही कह सकते, वैसा भी नही कह सकते। इस सशय

या अज्ञानवादका तात्पर्य वस्तुकी अज्ञेयता, अनिर्णेयता, अवाच्यतामे आन पड़ता है। यदि विरोधी मतोका समन्वय एकान्तदृष्टिसे किया जाय, तब तो फिर पक्ष-विपक्ष-समन्वयका चक्र अनिवार्य है। इसी चक्रको भेदनेका मार्ग भगवान् महावीरने बताया है। उनके सामने पक्ष-विपक्ष-समन्वय और समन्वय-का भी विपक्ष उपस्थित था। यदि वे ऐसा समन्वय करते, जो फिर एक पक्षका रूप ले ले, तब तो पक्ष-विपक्ष-समन्वयके चक्रकी गति नही रुकती। इसीसे उन्होंने समन्वयका एक नया मार्ग लिया, जिससे यह समन्वय स्वय आगे जाकर एक नये पक्षको अवकाश दे न सके।

उनके समन्वयकी विशेषता यह है कि वह समन्वय स्वतन्त्र पक्ष न होकर सभी विरोधी पक्षोका यथायोग्य सम्मेलन है। उन्होने प्रत्येक पक्षके बलाबल-की ओर दृष्टि दी है। यदि वे केवल दौर्बल्यकी ओर ध्यान दे करके समन्वय करते, तब सभी पक्षोंका सुमेल होकर एकत्र सम्मेलन न होता, किंतु ऐसा समन्वय उपस्थित हो जाता, जो किसी एक विपक्षके उत्थानको अवकाश देता। भ० महावीर ऐसे विपक्षका उत्थान नही चाहते थे। अतएव उन्होने प्रत्येक पक्षकी सचाईपर भी ध्यान दिया और सभी पक्षोको वस्तुके दर्शनमे यथायोग्य स्थान दिया। जितने भी अबाधित विरोधी पक्ष थे, उन सभीको सच बताया, अर्थात् सम्पूर्ण सत्यका दर्शन तो उन सभी विरोधोंके मिलनेसे ही हो सकता है, पारस्परिक निरासके द्वारा नही, इस बातकी प्रतीति नय-वादके द्वारा करायी। सभी पक्ष, सभी मत पूर्ण सत्यको जाननेके भिन्न-भिन्न प्रकार है। किसी एक प्रकारका इतना प्राधान्य नही है कि वही सच हो और दूसरा नही। सभी पक्ष अपनी-अपनी दृष्टिसे सत्य है और इन्ही सब दृष्टियोके यथायोग्य सगमसे वस्तुके स्वरूपका भास होता है। यह नयवाद इतना व्यापक है कि इसमे एक ही वस्तुको जाननेके सभी सम्भवित मार्ग पृथक्-पृथक् नयरूपसे स्थान प्राप्त कर लेते है। वे तब नय कहलाते है, जब कि अपनी-अपनी मर्यादामे रहे, अपने पक्षका स्पष्टीकरण करें और दूसरे पक्षका मार्ग अवरुद्ध न करे। परन्तु यदि वे ऐसा नही करते, तो नय न कहे जाकर दुर्नय बन जाते। इस अवस्थामे विपक्षोका उत्थान साहजिक है। साराश यह है कि भगवान् महावीरका समन्वय सर्वव्यापी है अर्थात् सभी पक्षोका सुमेल करनेवाला है, अतएव उसके विरुद्ध विपक्षको कोई स्थान नही रह जाता। इस समन्वयमे पूर्वपक्षोका लोप होकर एक ही मत नहीं रह जाता, किन्तु पूर्वके सभी मत अपने-अपने स्थानपर रहकर वस्तु-

दर्शनमें घड़ीके भिन्न-भिन्न पुर्जोकी तरह सहायक होते हैं। इस प्रकार पूर्वोक्त पक्ष-विपक्ष-समन्वयके चक्रमें जो दोष था, उसे दूर करके भगवान्‌ने समन्वयका यह नया मार्ग लिया, जिससे फल यह हुआ कि उनका समन्वय अन्तिम ही रहा।

इसपरसे हम देख सकते हैं कि उनका स्याद्वाद न तो अज्ञानवाद है और न संशयवाद। अज्ञानवाद तब होता, जब वे संजयकी तरह ऐसा कहते कि वस्तुको मैं न सत् जानता हूँ तो सत् कैसे कहूँ, और न असत् जानता हूँ तो असत् कैसे कहूँ, इत्यादि। भ० महावीर तो स्पष्ट रूपसे यही कहते हैं कि वस्तु सत् है, ऐसा मेरा निर्णय है, वह असत् है, ऐसा भी मेरा निर्णय है। वस्तुको हम उसके द्रव्य-क्षेत्रादिकी दृष्टिसे सत् समझते हैं और पर-द्रव्यादिकी अपेक्षासे उसे हम असत् समझते हैं। इसमें न तो संशयको स्थान है और न अज्ञानको। नयभेदसे जब दोनो विरोधी धर्मोंका स्वीकार है, तब विरोध भी नही।

अतएव शंकराचार्य प्रभृति वेदान्तके आचार्य और धर्मकीर्ति आदि बौद्ध आचार्य और उनके प्राचीन और आधुनिक व्याख्याकार स्याद्वादमें विरोध, संशय और अज्ञान आदि जिन दोषोंका उद्‌भावन करते हैं, वे स्याद्वादको लागू नही हो सकते, किन्तु संजयके संशयवाद या अज्ञानवादको ही लागू होते हैं। अन्य दार्शनिक स्याद्वादके बारेमें सहानुभूतिपूर्वक सोचते, तो स्याद्वाद और संशयवादको वे एक न समझते और संशयवादके दोषोंको स्याद्वादके मत्थे न मढ़ते।

जैनाचार्योंने तो बार-बार इस बातकी घोषणा की है कि स्याद्वाद संशयवाद नही और ऐसा कोई दर्शन ही नही, जो किसी-न-किसी रूपमें स्याद्वादका स्वीकार न करता हो। सभी दर्शनोंने स्याद्वादको अपने-अपने ढंगसे स्वीकार तो किया है[1], किन्तु उसका नाम लेनेपर दोष बताने लग जाते हैं।

---

१. अनेकान्तव्यवस्थाकी अन्तिम प्रशस्ति, पृ० ८७।

प्रस्तावना की शब्दसूची

सन्मतिप्रकरण की शब्दसूची